इस्पातिका

(भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन की अर्द्धवार्षिक शोधपत्रिका)

ISPATIKA

(A Bi-annual Research Journal of Language, Literature And Culture Studies)

संपर्क : 3, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज परिसर, सी.एच. एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर–831001

मो. : 09471576404/09013311287

e-mail : ispatikabiannual@gmail.com

इस्पातिका

(भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन की अर्द्धवार्षिक शोध–पत्रिका)

अंक १, वर्ष २, जनवरी–जून, २०१२

मूल्यांकन समिति:
सुधाकर सिंह, जौहर बेगम, नीरजा टण्डन
अर्चना कुमार, विनोद तिवारी, मिथिलेश

सलाहकार संपादक मंडल:
सदानंद शाही, ओमप्रकाश सिंह, बालमुकुंद पैनाली
प्रभाकर सिंह, कीर्ति विक्रम सिंह, लक्ष्मण प्रसाद
संजय यादव, संजय नाथ

प्रतिनिधि संपादक :
प्रभात कुमार मिश्र (उत्तर पूर्वी क्षेत्र)
नीलांबुज सिंह (केरल)
एम. वासंती (कर्नाटक)
आशुतोष सिंह (मध्यप्रदेश)
सौरभ द्विवेदी (पंजाब)
अशोक कुमार मीणा (राजस्थान)
अजीत कुमार तिवारी (नई दिल्ली)

वेब सलाहकार :
सुनित कुमार
अभय प्रताप सिंह

सह संपादक :
अनिरूद्ध कुमार

संपादक :
अविनाश कुमार सिंह

ISPATIKA

(A Bi-annual Research Journal of Language, Literature And Culture Studies)

Vol. 1, Year 2, January-June, 2012

Board of Referees :
Sudhakar Singh, Jauhar Begum
Neerja Tandon, Archana Kumar
Vinod Tivari, Mithilesh

Advisory Editorial Board :
Sadanand Shahi, Omprakash Singh
Balmukund Painali, Prabhakar Singh,
Kirti Vikram Singh, Lakshman Prasad
Sanjai Yadav, Sanjay Nath

Representative Editors :
Prabhat Kumar Mishra (North East)
Nilambuj Singh (Kerala)
M. Vasanti (Karnataka)
Ashutosh Singh (M.P.)
Saurabh Dwivedi (Punjab)
Ashok Kumar Meena (Rajsthan)
Ajit Kumar Tiwari (New Delhi)

Web Advisors :
Sunit Kumar
Abhay Pratap singh

Co-Editor :
Aniruddha Kumar

Editor :
Avinash Kumar Singh

◈**आवरण चित्र** (इन्टरनेट से साभार) **:** अण्डमान की ओंगे जनजाति का युवा । इस जनजाति का आखिरी व्यक्ति भी पिछले वर्ष मर गया । यह अंक इनकी स्मृतियों को समर्पित है ।

यह अंक : 55 रु./-

सदस्यता शुल्क

1100 रु. वार्षिक (व्यक्तिगत), 2100 रु. वार्षिक (संस्थागत)

5000 रु. आजीवन (व्यक्तिगत), 8000 रु. आजीवन (संस्थागत)

◈**आवर्तित :** अर्द्धवार्षिक, भाषा : हिन्दी–अंग्रेजी, ISSN : 2231-4806

◈**पृष्ठ सज्जा :** अजेय शर्मा – 09389510288
दीपक कुमार विश्वकर्मा – 09336016337

◈स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक अविनाश कुमार सिंह द्वारा हिन्द प्रिन्टिंग वर्क्स, वाराणसी से मुद्रित कराकर 3, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को-ऑपरेटिव कालेज परिसर, सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर-831001 से प्रकाशित ।

◈प्रकाशित रचनाओं के विचारों से सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है ।

◈समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र जमशेदपुर होगा ।

अनुक्रमणिका

संपादकीय

व्याख्यान ११–२४

भारतीय राष्ट्र और आदिवासी

वीरभारत तलवार

कविता २५–४२

भोगला सोरेन

मित्रेश्वर अग्निमित्र

अनुज लुगुन

कशराय कुदादः 'मुरुकु'

चन्द्रकान्त

शचीन्द्र बिरुआ

आशुतोष कुमार झा

कहानी ४३–७०

केदार प्रसाद मीणा

अश्विनी कुमार पंकज

लक्ष्मण प्रसाद

विमर्श

आदिवासी कौन? ७१–८७

हरिराम मीणा

आदिवासी: मिथ और यथार्थ ८८–९२

रणेन्द्र

विकास के जादू से वंचित..... ९३–९७

वन्दना टेटे

संताल परगना: पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य ९८–१०३

खगेन्द्र ठाकुर

संताल और उनकी दुनियाँ १०४–१०९

कमल

केवल जलती मशाल... ११०–११८

रविरंजन कुमार

अपेक्षित के लिए उपेक्षितों का संघर्ष ११९–१२६

प्रभात कुमार मिश्र

आदिवासियों के भूमि अधिकारों की सुरक्षा १२७–१३१

पुष्पा कुमारी

विस्थापन और आदिवासी १३२–१३९

राजकुमार मीणा

पत्रकारिता

नक्सलवाद, आदिवासी और मीडिया १४०–१५१

मिथिलेश

पत्रकारिता और जनजातीय जीवन १५२–१५६

नुपुर अन्विता मिंज

संस्कृति–समाज

आदिवासी विरासत १५८–१६७

मित्रेश्वर

मध्य भारत : भूगोल और इतिहास की ... १६८–१७०

तीर्थेश्वर सिंह

Gonds १७१–१७५

Rakesh Soni

सम–ध्वनि

हरदोई जनपद के गुलरिहा गाँव... १७६–१८९

अनूप कुमार सिंह / कीर्ति विक्रम सिंह

भाषा–साहित्य

लोकराग के कलरव में... १९०–१९४

सुधाकर सिंह

खूँटकटीयत के गीत १९५–२००

अनुज लुगुन

आदिवासी प्रश्न और उर्दू कहानी २०१–२०४

अनवरी बेगम

कर्नाटक राज्य के आदिवासियों.... २०५–२०७

एम.वासंती

मुंडारी लोककथाएं... २०८–२११

मुदिता चन्द्रा

सिएंथल की कविता के मार्फत... २१२–२१६

सुबोध कुमार सिंह

जंगल के दावेदार : प्रतिरोध और... २१७–२२३

प्रभाकर सिंह

नगाड़े की तरह बजते शब्द २२४–२२९

राहुल सिंह

जनजातीय समाज का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य २३०–२३६

नवनीत आचार्य

आदिवासी जनजीवन और गोपीनाथ महान्ती २३७–२४०

बालकृष्ण बेहेरा

राजस्थानी लोकसाहित्य में अभिव्यक्ति आदिवासी... २४१–२४३

अशोक कुमार मीणा

Book Review / पुस्तक समीक्षा २४४–२५३

Sanjay Nath

उदय प्रताप 'हयात'

Personality २५४

Manoj Kumar Pathak

रपट है... २५५

वासवी किड़ो

हमराही २५६–२५७

लक्ष्मण प्रसाद

संपादकीय

जो कुछ व्यक्तिगत है वह अश्लील- जो कुछ सामूहिक है वह सुन्दर

'हंस' के सितंबर २०११ अंक के एक स्तंभ में स्तंभकार शीबा असलम फ़हिमी ने युवा आदिवासी कवि अनुज लुगुन की कविताओं और उनको मिले भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार पर एक टिप्पणी प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि एक आदिवासी कवि का हिन्दी में लिखना उसकी विवशता है। उनके अनुसार 'हिन्दी में लिखना, उन्हें बहरहाल मजबूर कर देना है अपनी भाषा–संस्कृति को अक्षम और बे–हैसियत मानने के लिए, और वे इस बात का अहसास करते हैं, अपने बयानों में वे मुख्य धारा से बातचीत के लिए खुद को तैयार करके आए हैं।' वे आगे कहती हैं कि 'अनुज लुगुन की कविता जो दूसरा विरोध दर्ज कराती है वह है हिन्दी भाषा के 'हिन्दू' पदों से।' उनका यह साफ कहना है कि यह पुरस्कार कवि की काव्य वस्तु को नहीं बल्कि उस भाषा को दिया गया जो इनके अनुसार आज भी 'हिन्दू' मानसिकता से ग्रस्त है। स्तंभकार लगभग 'आह' के स्वर में कहती हैं कि '' 'मुख्यधारा' और उसका 'अहंकार' यह होता है कि जुमा–जुमा सात दशक (भी नहीं) पुराने 'राष्ट्र' के कर्ता–धर्ता इस धरती पर सदियों से बसे 'सबसे पुराने' लोगों पर यह कहकर रौब गांठते हैं कि जब हम तुम्हें माने तब तुम हुए।'' (देखें पृष्ठ ८२) खैर पुरस्कारों की अपनी राजनीति चाहे जो भी होती हो लेकिन फ़हिमी जी की इस टिप्पणी में एक अनावश्यक बौद्धिक कसरत दिखाई पड़ती है। यह बात सही है कि भाषा का अपना समाजशास्त्र होता है, उसमें उस भाषा–भाषी समुदाय की सांस्कृतिक स्वाभाविकता संरक्षित होती है। परंतु यह बात भी उतनी सही है कि भाषा के विकास का अपना इतिहास भी होता है और यह इतिहास पृथक्कीकरण के सिद्धांत पर नहीं बल्कि एकीकरण या संवादशीलता के सिद्धांत पर निर्मित होता है। भारत की ही बात करें तो विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली बोलियाँ किसी पूर्णत: 'एकांतद्वीप' की पैदाईश नहीं हैं। कई सदियों और समुदायों की गलबहियों से ही भाषा का वर्तमान आकार लेता है और भविष्य का भी खाका बनता चलता है। इसे विकृतीकरण नहीं समझना चाहिए। यह भाषा का प्रसार है, व्यापकता है। भाषा की फितरत ही है–संवादशीलता। अत: अनुज लुगुन की भाषा या किसी भी भारतीय भाषा–बोली में 'विशुद्धता' जैसी कोई चीज नहीं है। हिन्दी की शब्द संपदा के कई शब्द अन्यत्र मिलते हैं तो अन्य कई देशज और धुर–स्थानीय ठेठ शब्द हिन्दी में पैबस्त हैं। 'तत्सम से तद्‌भव' का जो वर्चस्ववादी सिद्धांत ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने जबरन थोपा था उसके उलट 'तद्‌भव से तत्सम' की प्रक्रिया ज्यादा प्रामाणिक और मजबूती से चलती रही है। सत्तावादी भाषा–संस्कृति के समानांतर एक सांस्कृतिक उपस्तर भी अपनी भाषा–संस्कृति को गढ़ रहा होता है। और यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आज की अधिकांश हिन्दी इसी सांस्कृतिक उपस्तर की भाषा है। इसमें वर्चस्ववाद और 'रौब' गांठने का शऊर नहीं है। हिन्दी की पूरी निर्मिति का इतिहास और उसका वर्तमान देख लिया जाता तो ऐसी अतिवादी और पूर्वग्रही टिप्पणी नहीं आयी होती। लगता है स्तंभकार अभी भी हिन्दी को हिन्दू पुनर्जागरणवादी अवस्था के ही ढब का मान कर चल रही हैं। हिन्दी की तमाम बड़ी रचनाएं और उनकी भाषा देख लीजिए, किसी में भाषाई रौब नहीं दिखाई देता। लेकिन कहते हैं न कि तमाम प्रगतिशीलता और जातीय नॉस्टेल्जिया के बीच पूरी ईमानदारी बरतना बेहद कठिन हो जाता है। स्तंभकार भी इस कठिनता की शिकार हो गई हैं। मातृभाषा में रचना करना बुरी बात नहीं है। बुरी बात है विमर्शकारों द्वारा मातृभाषा के नाम पर रचनाकारों और रचनाधर्मिता की व्याप्ति घटाने का सिद्धांत निर्मित कर देना। भारत जैसे बहुभाषी देश में यदि अनुज हिन्दी में लिखते हैं तो यह कविता के लिए और पूरी सभ्यता के लिए गर्व का विषय है। उनकी कविता की हिन्दी देखिए, ऐसा कहीं नहीं लगता कि आदिवासी संदर्भों को उसके पूरे तेवर, परिवेश और ध्वन्यात्मकता के साथ प्रकट करने में कोई तकलीफ हो रही हो। अनुवाद की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इस कवि का सीधे हिन्दी में लिखना बेहद आश्वस्तिजनक है। हिन्दी की व्यापकता और उसमें आदिवासी संदर्भों की उसी शब्द–संपदा के साथ मौजूदगी, भाषा का एक नया लोकतांत्रिक सौन्दर्यशास्त्र गढ़ रही है। हाँ, यदि फ़हिमी जी यूनेस्को की उस रपट का हवाला देतीं जो कुछ साल पहले विश्व भर में लुप्त हो चुकी या लुप्तप्राय हो चुकी आदिवासी भाषाओं पर गहरी चिंता प्रकट करती है, तो आदिवासी कवि का हिन्दी में लिखने की अपेक्षा स्वयं अपनी मातृभाषा में लिखना अनिवार्य सांस्कृतिक आवश्यकता होती। क्योंकि बजरिये साहित्य ही इन भाषाओं का संरक्षण, प्रवर्द्धन संभव हो सकता है। सरकारी कवायद का भरोसा नहीं किया जा सकता। यदि सरकारें ठीक हुआ करतीं तो यूनेस्को की इतनी भयावह रपट नहीं आती। हालाँकि इस संकट से आदिवासी भाषाएं ही नहीं स्वयं हिन्दी भी आक्रांत हो रही है। अत: कम से कम अनुज को मिले पुरस्कार और इसके निर्णायक कथाकार उदय प्रकाश पर तो किसी 'हिन्दू मानसिकता' का आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसी टिप्पणी में स्वयं अनुज की ही बात पर गौर करें तो वो भी हिन्दी में लिखने को विवशता नहीं मान रहे हैं, बल्कि उनकी शिकायत उन वर्चस्ववादी प्रतिमानों और प्रतीकों से है जो आदिवासी अभिव्यक्ति की धार व सौन्दर्य को कुंद करती हैं। वर्चस्ववादी प्रतिमान और प्रतीक आज या कल की हिन्दी में ही नहीं हैं, हिन्दी से इतर भाषाओं में भी वर्चस्ववादी प्रतिमान और प्रतीक हमेशा से रहे हैं, यहाँ तक कि आदिवासी भाषा और संस्कृति में भी ये मौजूद हैं। अन्यथा अनुज को यह कहना नहीं पड़ता कि : *''इनमें भी वही आक्रोशित हैं/ जो या तो अभावग्रस्त हैं/ या तनाव ग्रस्त हैं/ बाकी तटस्थ हैं/ मंत्री जी की तरह/ जो आदिवासियत का राग भूल गए/ रेमंड का सूट पहनने के बाद''*।

अत: आज का आदिवासी समाज भी वर्गत: विभाजित और अंतर्विरोधग्रस्त हो चुका है। जो जाति प्रकृति के सर्वथा करीब थी, सामूहिकता को ही सौन्दर्य और वैयक्तिकता को अश्लील (*होड़प् ध्यान दोहई मे निजरेक दो बाद*) मानती रही है, वही जाति आज वर्ग विभाजन की नियति का शिकार हो रही है। यह शोध का विषय है कि साठ के दशक में जब तथाकथित स्वतंत्र भारत में तीव्र औद्योगीकरण और इसी लेखे तीव्र नगरीकरण और अंतत: तथाकथित राष्ट्र–राज्य के निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी और इसी के एक उपादान के रूप में भाषा (हिन्दी बनाम उर्दू) का प्रश्न विवादग्रस्त होता जा रहा था, उस समय में भी आदिवासी समाज, जिसकी भाषागत संरचना अभी तक स्थिर नहीं हो पाई थी, के एक कम पढ़े–लिखे 'हो' आदिवासी लाको बोदरा ने 'हो' भाषा की स्वतंत्र लिपि 'वारांङ्चिति' का निर्माण किया था। एक प्रेस लगाई थी 'एटे:

तुरतुङ्ग पिटिका' नाम से। रघुनाथ मुर्मु ने संताली की अपनी लिपि 'ओलचिकी' निर्मित की थी। इन लिपियों और भाषाओं और उक्त प्रेस की स्थापना का उद्देश्य कभी भी पृथकतावादी दृष्टि विकसित करना नहीं रहा। आदिवासी आवाज और अस्मिता को इनके विकासक्रम में लक्षित किया जा सकता है। यहाँ से प्रकाशित आरंभिक दौर की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि साठ के दशक में मुद्रण और प्रसार के पूरे हरवे–हथियार से लैस हिन्दी और उर्दू जहाँ अंतत: सामाजिक और सांप्रदायिक कलह का कारण बन रही थीं, वहीं आदिवासी भाषा, साहित्य तथा लिपि अपने निर्माण काल से ही प्रकृति, पानी, भूमि, पशुओं और मनुष्यों के बीच प्रेम की बातें कर रही थी। हालाँकि इतने सारे प्रयासों के बावजूद आदिवासी समाज भी अंतर्विरोधग्रस्त होता रहा है। ईसाई डॉग्मा स्वीकार करने वाले आदिवासी एक अलग वर्गीय संरचना गढ़ रहे हैं तो सरना आस्था वाले अलग। औद्योगिक नगरों में काम करने वाले आदिवासी मध्यवर्गीय संरचना में जी रहे हैं तो आज भी बिरहोर जैसी जाति खानाबदोशी की हालत में जी रही है। सत्ताधारी आदिवासी शोषक तंत्र का हिस्सा बन चुका है तो सत्ताहीन आदिवासी बेहद बुरी स्थिति में है। एक अंतर्विरोधग्रस्त निकाय में अस्मितामूलक विमर्श प्रस्तुत करते समय 'अन्य' ताकतों को आज के दौर में नजरंदाज नहीं किया जा सकता। अमेरिका की गिद्धदृष्टि की सनद खाड़ी देश, पूर्वी एशिया के तमाम देश दे रहे हैं। समय ग्लोबल है तो विमर्श भले ही लोकल पैदाईश हों लेकिन इनकी नोटिस ग्लोबल ली जा रही है। हमें हैती, पनामा से आरंभ कर इराक, अफगानिस्तान तक के दृश्य–अदृश्य को ध्यान में रखते हुए ही बात करनी होगी। हमारे फलसफों की दीवारें इतनी ऊँची न हो जाएं कि हम सिर्फ दीवारों के आर–पार ही मिल पाएं। किसी भी विमर्श का अंतिम लक्ष्य अलगाव नहीं होना चाहिए।

पूरे झारखण्ड में इस समय छोटा नागपुर टेनेंसी ऐक्ट तथा संथाल परगना टेनेंसी ऐक्ट (सी.एन.टी. एवं एस.पी.टी.) राजनीति का मुद्दा बना हुआ है। आदिवासियों का प्रतिनिधित्व करने वाले आदिवासी नेता भी इस मुद्दे पर विभाजित हैं। प्रभात खबर (दैनिक समाचार पत्र, राँची) ने एक बड़ी मौजूं खबर छापी थी इस संदर्भ में। राँची के पास एक आदिवासी युवक की कुछ जमीन थी। उसे अपनी माँ के ऑपरेशन के लिए पैसों की जरूरत थी। ऐक्ट के अनुसार वह अपनी जमीन किसी आदिवासी को ही बेच सकता था, गैर आदिवासी को नहीं। लेकिन कोई भी आदिवासी उससे अच्छी कीमत पर जमीन खरीदने को तैयार नहीं था। सड़क के किनारे वाली उस जमीन के आसपास साल भर के अंदर तीव्र औद्योगीकरण हुआ। देखते ही देखते जमीन की कीमत आसमान छूने लगीं। युवक ने पुन: प्रयास किया लेकिन बिल्डर्स कानूनी पेंच की वजह से उसकी जमीन लेते नहीं थे। आदिवासी अपेक्षित कीमत देने को तैयार नहीं थे। अंतत: उसे वह जमीन अपेक्षाकृत बहुत कम कीमत पर बेचनी पड़ी। बेचने से मिले पैसे से वह न माँ का पूरी तरह इलाज करा पाया और न जमीन ही उसके पास बची। उसकी इस कानून के प्रति क्या प्रतिक्रिया रही होगी, विचार करने का विषय है। इस भावुक कर देने वाले दृष्टांत के पीछे की क्रूर चालबाजी को समझने की जरूरत है। युवक को माँ का इलाज कराने के लिए जमीन बेचना है और ऐक्ट के चलते वह जमीन नहीं बेच पा रहा है तो सत्ता यह रास्ता निकालती है कि इस ऐक्ट को ही बदल दिया जाए। बड़े शर्मनाक ढंग से इस संवेदनशील तथ्य को नजरअंदाज किया जा रहा है कि माँ के इलाज के लिए एक आदिवासी युवक को एक आदिवासी बहुल राज्य में जमीन बेचने की नौबत आन पड़ती है। सत्ता उन मूलभूत आर्थिक नीतियों को नहीं बदलना चाहती जिनके चलते इस तरह की आर्थिक असमानता पैदा हो रही है। वह ऐक्ट को ही हटा देना चाहती है– *आये थे मेरी कब्र पर वो पढ़ने को फातिहा, ईंटे चुरा कर ले गये मेरी मजार के*। साथ ही साथ विचारणीय यह भी है कि यदि आदिवासियों को उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता के साथ बनाये रखना है तो उनकी जमीन का हस्तांतरण रोकना होगा। एक आदिवासी की जमीन से बेदखली केवल किसी शरीर की बेदखली नहीं है बल्कि संपूर्ण आदिवासियत की बेदखली है। तकलीफ की बात यह है कि केन्द्र तथा आदिवासी राज्यों की सरकारें इस दिशा में कोई ठोस कदम उठाती नहीं दिख रही हैं। विकास के नाम पर औद्योगीकरण लगातार जारी है लेकिन इसमें आदिवासी हितों के संरक्षण की कोई मंशा नहीं है। जंगल उजाड़कर वहाँ फैक्ट्री बिठाने का अर्थशास्त्र आदिवासियों के लिए जहर की तरह है। विडंबना यह है कि आदिवासी या तो वह जहर पी जाएं या वहाँ से निर्मूल हो जाएं। विकास के नाम पर जंगल उजाड़ने की यह रीति उपनिवेशकाल की है। वन कानून के तहत अंग्रेजों ने अपनी भोगवादी नीति के तहत वनों को भी आर्थिक उपार्जन का एक जरिया ही माना था। अच्छी नस्ल के वृक्ष यानि ज्यादा मुनाफा। इसलिये अंग्रेज ऐसे जंगल चाहते थे जो आर्थिक दृष्टि से लाभदायी हों। बाकी नस्लों को वे रोपने नहीं देते थे, जो पहले से उग आये थे उन्हें खतम कर देते थे। ऐसा ही विचार भारतीय जनता के प्रति भी था। उनके हित वाले भारतीय वरेण्य और हितैषियों के अतिरिक्त मनुष्य अनुपयोगी। आजादी के बाद और आज तक देश की सरकार कम से कम आदिवासियों के संदर्भ में तो इसी क्रूर रीति–नीति से संचालित हो रही है। यहाँ तक कि आदिवासियों से संबंधित जो भी प्रावधान सरकारी नीति या संविधान में बन–बिगड़ रहे हैं, उसमें भी आदिवासी की जगह कारपोरेट और सत्ता का सामूहिक हित छिपा हुआ है। उदाहरण के लिये उत्तर पूर्वी भारत के आदिवासियों के संबंध में हुए संवैधानिक उपचार को देख सकते हैं। संविधान के ७३वें संशोधन (जो पंचायती राज्य व्यवस्था से संबंधित था) तथा पाँचवीं तथा छठीं अनुसूची के प्रावधानों से इन राज्यों को प्राय: आपत्ति रही है। वे अलग राज्य की माँग करते रहे हैं। कुछ राज्यों ने राजनीतिक विकास के क्रम में स्वयं को जातीयताओं से आगे समुदायों की संरचना में ढाल लिया लेकिन कुछ राज्य अभी भी असंतुष्ट हैं। वहाँ आदिवासी राष्ट्रीयता के भीतर ही स्थानीयता तथा लघुराष्ट्रीयता के निर्माण की स्थिति काफी दिनों से बन रही हैं। हम देख सकते हैं कि यह अस्मितामूलक विमर्श गहरे अंतर्विरोधों से भरता जा रहा है। इसी संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ की दृष्टि का भी परीक्षण कर लेना समीचीन होगा। गौरतलब है कि वर्ष १९९३ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय आदिवासी वर्ष के रूप में मनाए जाने की घोषणा की थी तथा आदिवासियों के अधिकारों के विषय में दो महत्वपूर्ण सिद्धांत दिए थे। पहला सिद्धांत आदिवासी राष्ट्रीयता से संबंधित है जिसमें कहा गया कि : 'आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है, जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत या अन्य किसी तरह से, वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में धकेल दिए जाने के पहले से ही, वहाँ रह रहे थे।' दूसरा सिद्धांत आदिवासियों के विविध अधिकारों से संबंधित है।

इसके अनुसार : 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार आदिवासियों को आत्मनिर्णय का अधिकार हासिल है, जिसके आधार पर वे अपनी राजनीतिक हैसियत तथा संस्थाओं को तय कर सकते हैं और साथ ही वे अपने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास हेतु स्वतंत्रतापूर्वक प्रयास भी कर सकते हैं। स्वायत्तता तथा स्वशासन उनके अधिकारों का अनिवार्य अंग है।' पहले सिद्धांत के प्रति एशिया–प्रशांत देशों ने विरोध दर्ज कराया था। आस्ट्रेलिया, अमरीका और न्यूजीलैण्ड के आदिवासियों की स्थिति, चिंता और चुनौती की तुलना में इस क्षेत्र के आदिवासी पूर्णत: अलग हैं। वे हाशिए पर धकेले गए हैं लेकिन नस्लगत और संस्कृतिगत मुद्दों के ही आधार पर। 'विश्व के अन्य भागों द्वारा पराजित कर दिये जाने' जैसे मुहावरों से ये समुदाय पूर्णत: अलहदा हैं। इसी प्रकार दूसरे सिद्धांत को यदि पहले के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह आदिवासी अस्मिता के सम्मान और सह–अस्तित्व की जगह अलगाववाद और वैमनस्य ही पैदा करता है। वास्तव में भारत और इसके जैसे अन्य देशों के आदिवासियों के लिए स्वायत्तता और स्वशासन का मतलब किसी एकांतद्वीप की निरपेक्ष स्थिति से नहीं रहा है। उनका अभिप्रेत है कि अपने राजनीतिक कल्याण हेतु वरेण्य या त्याज्य नियमों, कानूनों पर निर्णय लेने की पूर्ण स्वतंत्रता। सामूहिकताबोध से अनुप्राणित आदिवासी चेतना पृथकता को आदर्श कैसे मान सकती है? स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की उक्त परिभाषाओं पर अमरीकी वीटो की छाप है। अस्सी प्रतिशत की बजटीय हिस्सेदारी करके अमेरिका इसे अपनी व्यक्तिगत एजेंसी के रूप में ही प्रयोग करता रहा है।

अमरीकी छाप वाया बाजार भी आदिवासी संस्कृति के साथ छल करती दीख पड़ती है। आदिवासी संस्कृति, उनकी वेशभूषा, रहन–सहन, रीति–परंपरा आदि पर आज बाजार की भी नजर है। पिछले दिनों उड़ीसा में एक मेला लगा था। विदेशी सैलानियों की भारी संख्या वहाँ थी। इस मेले में हर उम्र के आदिवासियों को उनकी परंपरागत वेश–भूषा में सौ रूपये के दैनिक भत्ते पर विदेशी सैलानियों को दिखाने के लिए सुबह से शाम तक खड़ा किया जाता रहा। इसमें वृद्ध, महिलाएं और बच्चे भी थे। इस दिल दहला देने वाले दृश्य पर एक अजीब सी चुप्पी हर तरफ से दिखी। एक प्रकृतिसंबद्ध अस्मिता बाजार के आगे गिनीपिग की तरह नुमाईश की चीज बनती जा रही है, और हमारा देश...। मुक्तिबोध बरबस याद आते हैं– *'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्/ चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं/ चढ़ गया उर पर कहीं कोई निर्दयी/ नपुंसक श्रद्धा सड़क के नीचे गटर में छिप गई/ बड़े–बड़े चेहरों पे स्याहियाँ पुत गईं/ कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।'* कुछ इसी तरह की घटना अंडमान में जारवा जनजाति के साथ घटी। सैलानियों ने एक पैकेट बिस्कुट के लिये इन आदिवासियों को नंगे नाचने के लिये विवश किया। किसी की मुफ़लिसी, किसी के लिये तमाशा। लिहाजा बड़ा अश्लील लगता है जब आदिवासी समाज और संस्कृति से कोई करीबी साबका न रखने वाला छद्म बुद्धिजीवी भी किसी आदिवासी संघर्षी के मरने पर फेसबुकिया और ट्विटरी टिप्पणी देकर अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझ लेता है या, कभी आदिवासी संघर्षों का ऐक्टिविस्ट पद, प्रतिष्ठा और सम्मान के लोभ में उन संघर्षशील अस्मिताओं को मजाक साबित कर बैठता है। इन आरोपों से न आप बरी हैं, न मैं। इसलिए *मछली जल की रानी है, जीवन उसका पानी है/ हाथ लगाओ डर जाएगी, बाहर निकालो मर जाएगी* जैसी बच्चों को फुसलाने वाली भाषा कम से कम आज की आदिवासी पीढ़ी के सामने नंगी हो चुकी है। आज का आदिवासी जागरूक है– जंगल के प्रति, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति, अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति। पानी से मछली को निकाल दिये जाने और उसके सहज मर जाने की तर्ज पर यदि जंगल से आदिवासियों को निकालने की चेष्टा हुई तो– युवा कवि अनुज लुगुन के ही शब्दों में– *एकलव्य/ अब जब भी तुम आना/ तीर–धनुष के साथ ही आना/ हाँ, किसी द्रोण को/ अपना गुरू न मानना/ वह छल करते हैं/ हमारे गुरू तो हैं/ जंगल में विचरते शेर, बाघ/ हिरन, बारहा और वृक्षों के छाल/ जिन पर निशाना साधते–साधते/ हमारी सधी हुई कमान/ किसी भी कुत्ते के मुँह में/ सौ तीर मारकर/ उसकी जुबान बंद कर सकती है।*

यहाँ इस विशेषांक के बनने की नियत भी साफ हो जानी चाहिए क्योंकि विमर्शों के इस अभूतपूर्व दौर में 'सजनी हमहूं राजकुमार' की तर्ज पर गंगा–नहान का पुण्य कमाने की चेष्टा स्वयं के साथ ही नहीं पूरी मनुष्यता के साथ दगा होगी। ऐसी मनुष्यता के साथ जिसे अपने से इतर को भी पूरी त्वरा और रागात्मकता के साथ अपना लेने में जरा भी हिचक नहीं होती। जो मनुष्य से उतना ही प्रेम करता है जितना पेड़ों से, पशुओं से। 'हो' समुदाय के लोगों में नामकरण की परंपरा को इस संदर्भ में एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। जैसे कुदादा यानी जामुन के पेड़ के नीचे प्रवाहित जल में जन्म लेने वाला (वंश), या बुड़ुउली यानी बड़े आकार वाले आम की परंपरा से जुड़ा वंश, तिऊ यानी श्रृंगाल आदि। ये जातियाँ अपने वंश एवं पुरखों का अभिधान वनस्पतियों और पशुओं में देखते हैं। हम जहाँ इकोक्रिटीसिज्म और फेमिनिज्म की पूरी सरणी अमरीका से उधार लेकर अपनी विश्वव्यापकता पर कृतकृत्य हुआ करते हैं वहीं आदिवासी संस्कृति का निर्माण और विकास ही पारिस्थितिकी तथा स्त्री के सम्मान की विराट चेतना के आधार पर हुआ है। एक स्त्री का नाचना और बाकी द्वारा उसे देखना यहाँ फूहड़ माना जाता है। स्त्रियों और पुरूषों का एक साथ, एक गति और एक यति में नाचना यहाँ आदर्श है। इसी तरह झारखण्ड में 'जईदा' मेला लगता है। यह कृषि से संबंधित मेला है। एक गैर आदिवासी यात्री सहसा वहाँ पहुँच जाता है। आदिवासियों के सामूहिक नाच–गान को देखकर अचंभित होता है कि आदिवासी औरतों के बीच से एक आशु–गीतात्मक संबोधन सहसा उसका अभिवादन करने लगती है : *'अमार जईदा याबार मोन छिलो/ टिकिस बाबू टिकिस नाइ दिलो।'* यात्री इस अकस्मात् पहचान से विस्मित होता है कि तभी दूसरी तरफ से पुन: एक रागिनी उससे ठिठोली करने लगती है : *'तुइ जे बाबू पुरा पेन्ट पोरा/ तोर बऊजे गोईंठा कुढ़ा।'* (इन पंक्तियों की भाषा धलभूमिया बांगला है, जो बहरागोड़ा और चांडिल के आदिवासी क्षेत्रों में बोलचाल की भाषा है) अपरिचित से भी परिचय का इससे अधिक सहज और रूहानी तौर क्या हो सकता है! तो ये व्यक्तिगत अनुभव, जिसमें अपने से भिन्न मानवीय संस्कृति को देख–सुन कर संवेदना और जिज्ञासा के अँकुए फूटे, उसी का विस्तार है यह विशेषांक। इस विशेषांक में जिसने भी लिखा है, अपना समझ के लिखा है, और हाँ! अपनों के विषय में लिखा है।

–अविनाश कुमार सिंह

व्याख्यान

भारतीय राष्ट्र और आदिवासी

*वीरभारत तलवार

यह व्याख्यान प्रो. वीरभारत तलवार ने एम.ए. हिन्दी, बी.एच.यू. के छात्रों द्वारा कला संकाय के राधाकृष्णन सभागार में दिनांक २८.०१.२०१२ को आयोजित 'भारतीय राष्ट्र की पुर्नव्याख्या : हाशिए के समाज का परिप्रेक्ष्य' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में मुख्य वक्ता के रूप में दिया था। यहाँ व्याख्यान का अंशत: परिमार्जित रुप दिया जा रहा है।

माननीय अध्यक्ष महोदय और मित्रों! मैं यहां हिन्दी विभाग एम.ए. के विद्यार्थियों और उनके साथ सहयोग करने वाले शिक्षकों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अपने पुराने विश्वविद्यालय में फिर से आने और उन पुराने मित्रों से मिलने का मौका दिया जो उस समय मौजूद थे जब मैं यहाँ पढ़ता था।

हिन्दुस्तान में जो राष्ट्र है उससे हिन्दुस्तान के कई समुदायों को शिकायत रही है। जिन समुदायों की बात मैं कहने जा रहा हूँ उसकी चर्चा यहाँ और लोगों ने भी की है, वे दलित हैं, आदिवासी हैं, औरते हैं, बच्चे हैं। इनके अलावा कई उत्पीड़ित राष्ट्रीयताएं हैं जैसे– कश्मीरी, नागा, मीजो और मणिपुरी। मजदूर वर्ग और किसान वर्ग, जिनकी राष्ट्रयज्ञ में हमेशा बलि दी जाती रही है, गहरे असंतोष से भरे रहे हैं। इतने असंतुष्ट वर्गों और समुदायों को लेकर, इतने गहरे अंतर्विरोधों के साथ जो एक राष्ट्र बना हुआ है वह निश्चय ही एक स्तर पर काफी दमनकारी सत्ता ही होगा जिसने इतने असंतुष्ट वर्गों को एक साथ रहने के लिये बाँध कर रखा हुआ है। इनके बीच जो अंतर्विरोध हैं, इस राष्ट्र के विभिन्न समुदायों और वर्गों के बीच जो अंतर्विरोध हैं, वे अंतर्विरोध कई बार इतने गहरे होते हैं कि हम एक–दूसरे को बिल्कुल ही नहीं समझ पाते। हम एक राष्ट्र के नागरिक हैं लेकिन एक–दूसरे के लिये अबूझ हैं। हम एक ही भाषा बोलते हैं लेकिन ऐसा लगता है कि जैसे दूसरा कोई ग्रीक या चीनी भाषा बोल रहा हो। जब कालीचरण स्नेही कहते हैं कि डोम राजा ने सत्यवादी हरिश्चन्द्र को खदेड़ दिया था, तो सोचिये कि आज जो द्विज हिन्दू हैं, सत्यवादी हरिश्चन्द्र के आदर्श को बचपन से पढ़ते हुये बड़े हुए हैं, वो इसको किस अर्थ में लेते होंगे? जब चन्द्रभान प्रसाद कहते हैं कि अंग्रेज बहुत देर से आए और बहुत जल्दी चले गए तो राष्ट्रवादियों का क्या हाल होता होगा? या जब प्रेमकुमार मणि कहते हैं कि दुर्गा की पूजा नहीं बल्कि उसका विरोध होना चाहिये क्योंकि उसने हमारे नायक महिषासुर की हत्या की है, तो उत्साहपूर्वक दुर्गापूजा करने वालों के बीच कैसी खलबली मचती होगी? ये वर्ग और ये समुदाय, जिनके अंतर्विरोधों को यह राष्ट्र और राज्य किसी तरह से आधे–अधूरे ढंग से मैनेज करके चल रहा है, अभी ये पूरी तरह से जाग्रत नहीं हुए हैं, एक सेफ्टीवॉल्व के साथ इनको किसी तरह नियंत्रित

*भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–110067, सम्पर्क : 09560857548

करके रखा गया है। लेकिन जब ये कभी खुलकर अपनी आवाज बुलंद करेंगे, अपनी बात कहेंगे–जो कभी–कभी कहते भी हैं– तो कैसा विस्फोट होगा? कितनी बड़ी दूरी है हम सब के बीच एक ही राष्ट्र में रहते हुए! उस राष्ट्र की जड़ें कहीं न कहीं बहुत कमजोर भी हैं। मैं जानता हूँ इस राष्ट्र की जड़ें बहुत मजबूत भी हैं और इसके साथ ही मैं कहना चाहता हूँ कि वे बहुत कमजोर भी हैं। इस अन्तर्विरोध के साथ ही यह राष्ट्र एक राष्ट्र बना हुआ है। ये अन्तर्विरोध कभी भी नियंत्रण से बाहर जा सकते हैं। राष्ट्रवाद कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। अपने बहुत अच्छे रूप में वह, यहाँ तक कि उसको क्रांतिकारी भी कहा जाता है, तब होता है जब हम साम्राज्यवाद के खिलाफ उसे संगठित करते है। साम्राज्यवाद के खिलाफ एक राष्ट्र, खासकर साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित राष्ट्र, एक क्रांतिकारी तत्त्व होता है। लेकिन यह क्रांतिकारी राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद का विरोध तभी कर सकता है जब वह अपने अंदर के अंतर्विरोधों को हल करने का कोई एक स्पष्ट उपाय बना ले। अगर वह अपने अंदर के इन समुदायों और वर्गों के अंतर्विरोधों को हल करने का कोई नक्शा नहीं तय कर पाता है, या सिर्फ बंदूक के बल पर इनको हल कर लेगा, ऐसा समझता है, तो वह साम्राज्यवाद का भी विरोध नहीं कर सकता है। इराक इसका बहुत अच्छा उदाहरण है जहाँ सुन्नी मुसलमानों ने शिया और कुर्द लोगों को दबाकर राष्ट्र का निर्माण किया और अमरीकी साम्राज्यवाद ने उनके इन अंतर्विरोधों का बहुत अच्छी तरह से और बहुत आसानी से फायदा उठाया। एक ही राष्ट्र के अंदर स्त्रियों का पुरूषों से कैसा अन्तर्विरोध है, इस पर भी ध्यान देना चाहिए। 'सात खून माफ' फिल्म की नायिका जो सात बार विवाह करती है और एक के बाद एक अपने सातों अत्याचारी पतियों की हत्या कर देती है, एक जगह कहती है कि दुनिया की हर औरत ने कभी न कभी तो जरूर सोचा होगा कि वह अपने पति से कैसे छुटकारा पाए? और ये सिर्फ फिल्मी डॉयलाग की बात नहीं है। 'सिमंतनी उपदेश' की लेखिका ''एक अज्ञात हिन्दू औरत'', १८८२ में प्रकाशित अपनी किताब में लिखती है कि पति के मर जाने के बाद विधवा औरत की आँखों में एक चमक–सी आ जाती है। उसका स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है और अक्सर विधवाएं लंबी उम्र तक जीती हैं। जब ऐसे वाक्य हम स्त्रियों की ओर से सुनते हैं तो उनके करवाचौथ व्रत को देखकर गर्व से फूले न समाने वाले पुरूषों का क्या हाल होता होगा? तो मित्रों! यह राष्ट्र बड़े गहरे अंतर्विरोधों पर बैठा हुआ है और कहीं–कहीं हम एक–दूसरे के लिये बहुत अजनबी और अबूझ हो उठते हैं। मैं सबकी चर्चा तो नहीं कर सकता, लेकिन मैं आदिवासियों के बारे में आपसे कुछ कहूँगा। इस राष्ट्र में आदिवासियों की क्या स्थिति है? किस अर्थ में वे इस राष्ट्र के अंग हैं और क्योंकर वे इसका अंग बने रहें? यह सवाल मैं आपके सामने रखता हूँ, जवाब आपको भी सोचना है।

अभी हाल ही में दो–तीन साल पहले यूनेस्को की एक रिपोर्ट आई भाषाओं के सिलसिले में और उसने अपनी रिपोर्ट में बताया कि दुनिया की छ: हजार भाषाओं में से दो सौ भाषाएं पिछले पचहत्तर वर्षों में खतम हो चुकी हैं। उनका अस्तित्व मिट चुका है। बाकी बची भाषाओं में २५०० भाषाएं संकटग्रस्त हैं। उनका अस्तित्व मिटने की ओर जा रहा है। इन २५०० भाषाओं में से १९६ भाषाएं भारत की हैं और इन १९६ भाषाओं में ६२ भाषाएं १९५० के बाद से अभी तक यानी हिन्दुस्तान में जब से लोकतंत्र आया है, मिटने की कगार पर पहुँच चुकी हैं, और

९ भाषाएं खतम हो चुकी हैं। जो ९ भाषाएं खतम हुईं हैं, सब की सब भाषाएं आदिवासी भाषाएं हैं। इन भाषाओं का खतम होना इनको बोलने वाले आदिवासी समुदायों के खतम होने से जुड़ा हुआ है। हिन्दुस्तान में बहुत से आदिवासी समुदाय खतम हो रहे हैं। पिछले साल ओंगे जनजाति का एकमात्र बचा हुआ व्यक्ति भी मर गया और उसके साथ ओंगे भाषा भी खतम हो गई। वह अंतिम व्यक्ति था बचा हुआ। जारवा और सेंटिनल, दोनों समुदाय मिटने की दिशा में बढ़ रहे हैं। अण्डमान–निकोबार के ये मूल निवासी हैं जहाँ भारत के तमाम राष्ट्रवादी ही बसाये गए हैं। झारखण्ड में तो कई ऐसी छोटी–छोटी जातियाँ हैं– असुर हैं, शबर खड़िया हैं, बिरहोर हैं, इनकी जनसंख्या कुछ हजार बच गई है। कुछ एक हजार। किसी की ढाई हजार बची है, किसी की सात–आठ हजार बची है। ये कैसा राष्ट्र है जो अपने देश के आदिवासियों को जीने नहीं देता! ये कैसा लोकतंत्र है जिसमें आदिवासी भाषाएं और आदिवासी जातियाँ खतम होती जा रही हैं? ये आदिवासी इस राष्ट्र का क्या छीन ले रहे हैं कि राष्ट्र ने इनका जीना मुश्किल कर रखा है? आप जानते हैं आदिवासियों की जनसंख्या इस देश की बाकी जनसंख्या की तुलना में बहुत पीछे है। उसकी वृद्धि का अनुपात बहुत कम है। अक्सर आदिवासियों के बच्चे नहीं होते। बहुत कम बच्चे होते हैं और जो होते हैं वो जल्दी ही मर जाते हैं। आदिवासी लंबे समय तक विवाह नहीं कर पाते। हमेशा तनावग्रस्त रहते हैं। इसलिये बाकी सामान्य रफ्तार की तुलना में उनकी जनसंख्या की वृद्धि की रफ्तार बहुत कम है। आदिवासी से क्या समस्या है इस राष्ट्र को?

इसका एक जवाब पास्को के उदाहरण में मिल सकता है। उड़ीसा में बहुत मशहूर कंपनी है पास्को, उसने अपना एक बहुत बड़ा स्टील प्लांट खोलना है। आप जानते हैं कि उड़ीसा के आदिवासी इलाकों में लोहे की खदानें हैं और वो समुद्र तट से बहुत करीब भी है। पास्को बहुत बड़ी कंपनी है और वह शायद दुनिया का सबसे बड़ा स्टील प्लांट उड़ीसा में खोलना चाहती है, जहाँ लाखों टन इस्पात बनेगा। इसके लिए जो इलाका उन्होंने चुना है वहाँ कंध आदिवासी रहते हैं। बहुत बड़ा इलाका है वह और बड़े घने जंगलों से भरा हुआ है। कंध आदिवासियों का जंगल के प्रति एक अलग ही दर्शन है, एक अलग ही दृष्टि है। उनकी यह धर्मगाथा उनके बीच प्रचलित है कि ईश्वर ने कंध को जब बनाया और पृथ्वी पर भेजा तो साथ में उसको जंगल बना के दिया। उस जंगल में बहुत सारे पशु–पक्षियों को भी बनाकर दिया और ईश्वर ने कहा कि ये तुम्हारे भाई–बहन हैं। इनके साथ मिलकर रहना। मैंने इनकी सृष्टि की है। इनको किसी तरह का नुकसान मत पहुँचाना क्योंकि ये सब तुम्हारी सहायता ही करेंगे। कंध अपने आदिम पुरखों से चले आ रहे इस दर्शन में विश्वास करते हैं। वे जंगल को कटने नहीं देना चाहते हैं जहाँ पर पास्को ने अपना स्टील प्लांट खोलना है। ये आदिवासी पास्को के रास्ते की रूकावट हैं। लेकिन मनमोहन सिंह के नेतृत्व में भारज का राष्ट्र–राज्य कंध आदिवासियों के साथ नहीं, पास्को कंपनी के साथ खड़ा है। कहना चाहिए कि जिस राष्ट्रवाद की हम बात कर रहे हैं वह इसी पूंजी पर टिका हुआ राष्ट्रवाद है। यह पूंजीवादी राष्ट्रवाद है जिसे आदिवासी एक रूकावट की तरह प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये इस राष्ट्र को इस बात का कोई दर्द नहीं कि आदिवासियों के समुदायों का अस्तित्व खतम हो रहा है या आदिवासियों की भाषाओं का अस्तित्व भी खतम हो रहा है। वे हिरण की कुछ दुर्लभ प्रजातियों को, शेरों और बाघों की कुछ प्रजातियों को बचाने की चिंता करेंगे लेकिन इस देश के

मूल निवासियों को बचाने की चिंता उसे नहीं है। लाखों किसानों ने आत्महत्या कर ली है सरकार की उदारीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप। सरकार उनको पैकेज देगी लेकिन उन नीतियों को नहीं बदलेगी क्योंकि, वो नीतियां अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद की नीतियां हैं जिनकी यह राष्ट्र और राज्य सेवा करता है।

यह पूंजीवादी राष्ट्रवाद है, जो हमेशा से अपने जन्म से ही, पूंजीवाद से जुड़ा रहा है। जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं वह लोकतंत्र हमेशा से औपचारिक ही रहा है। भले ही विभिन्न वर्गों की समानता का उसके संविधान में दावा किया गया हो लेकिन व्यवहार में वह समानता नहीं होती। इटली में पूंजीवाद का जन्म हुआ था। इटली में पूंजीवाद का विकास हुआ और इटली में ही लोकतंत्र का भी विकास हुआ। फ्लोरेंस, वेनिस सब गणतंत्र वाले नगर–राज्य थे। उस जमाने में भी, जब महान रेनेसां इटली में घटित हो रहा था, इटली का गणतंत्र पूंजीपतियों के हितों की ही सेवा करता था। मेडिची इटली का सबसे बड़ा व्यापारिक घराना था। उस व्यापारिक घराने ने फ्लोरेंस के गणतंत्र पर लगातार अपना कब्जा बनाये रखा। उसने छोटे व्यवसायियों को अपने साथ मिलाकर अपने बराबर के बड़े व्यवसायियों के व्यवसाय को चौपट करने और अपने व्यावसायिक हितों को आगे बढ़ाने के लिये हमेशा गणतंत्र का इस्तेमाल किया। यह भी ध्यान रहे कि इटली के मजदूर वर्ग को वोट देने का अधिकार नहीं था और दासों को वोट देने का अधिकार नहीं था। ये अधिकार तो विभिन्न देशों में आज दे दिये गये हैं, लेकिन लोकतंत्र आज भी उन्हीं शक्तिशाली वर्गों की सेवा करता है। उनके हितों में राज्य के सारे संसाधनों को लगाता है। जो लोकतांत्रिक राष्ट्र देशी–विदेशी पूंजीपतियों को इतनी सारी सुविधायें देता है, उनके लिये सस्ती जमीनें मुहैया कराता है, उनको सस्ते में बिजली दी जाती है, तीस–तीस, चालीस–चालीस साल तक के लिये उनके मुनाफे पर टैक्स माफ कर दिया जाता है; जिनको घाटे की भरपाई के लिए हर तरह की गारंटी दी जाती है, जो अरबों–खरबों रूपये पूंजीवाद की सेवा में लगाता है मुफ्त में, वही राष्ट्र अपने निचले वर्गों के कर्मचारियों के लिए, केन्द्र सरकार की खदानों और कारखानों के कर्मचारियों के लिए, उनकी भविष्य निधि पर ०.५ प्रतिशत व्याज की दर बढ़ाने के लिए भी राजी नहीं होता। उन कर्मचारियों की यूनियनें पिछले दस सालों से इसके लिए आंदोलन कर रही हैं और सरकार इसको मानने में आनाकानी कर रही है। अभी दिल्ली में सरकार ने वहाँ की बिजली का कारोबार निजी पूंजीपतियों के हाथों में सौंप दिया है। इन बिजली कंपनियों ने सरकार से कहा कि हमको तो घाटा हो गया है। दिल्ली की सरकार ने तीन सौ करोड़ रूपये दिये टाटा जैसी कंपनियों के घाटे को पूरा करने के लिए। लेकिन दिल्ली की यही सरकार दिल्ली के उन लाखों लोगों के लिए जो इस कड़ाके की ठण्ड में बेघर हैं और ठंडी सड़कों पर रात गुजारने के लिये मजबूर हैं, रैन बसेरे नहीं बना सकती। सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया था कि ठंड का मौसम शुरू होने से पहले १२९ रैन बसेरे दिल्ली में बन जाने चाहिए। अभी पिछले हफ्ते इनका सर्वे हुआ तो मालूम हुआ कि दिल्ली की सरकार ने सिर्फ ६४ रैन बसेरे बनाये। इन चौसठों में भी सिर्फ ४१ काम करते हैं। कुछ में ताले लगे हुए हैं और बाकी बने ही नहीं। जो सरकार टाटा–बिड़ला जैसे पूंजीपतियों के घाटे को पूरा करने के लिये ३०० करोड़ रूपये दे सकती है वह सड़कों पर बेघर रात गुजारने वाले लोगों के लिये रैन बसेरे नहीं बना सकती। किसके लिये है ये राष्ट्र? सुप्रीम कोर्ट का आदेश था पूरे

देश में रैन बसेरे बनाने के लिये। सुप्रीम कोर्ट के अनुसार तीस लाख लोग हैं जो कड़ाके की ठंड में सड़कों पर रात गुजारते हैं। उनको कहीं सर छिपाने की जगह नहीं है। राज्य का दायित्व है कि उनके लिये रैन बसेरा प्रदान करे। अभी जो सर्वे हुआ उसके पता चला कि १५ राज्यों में से सिर्फ ३ राज्यों ने ही इस आदेश का पालन किया। बाकी १२ ने कोई पालन नहीं किया और इन तीनों ने भी आंशिक रूप से ही पालन किया, जिसमें दिल्ली सरकार का उदाहरण मैं आपको दे चुका हूँ। यह वही राज्य है, यह वही राष्ट्र है जो स्पेशल इकोनॉमिक जोन बनाता है, जहाँ पूंजीपतियों का ही राज चलेगा, किसी तरह का टैक्स नहीं लगेगा, किसी तरह का कानून नहीं लागू होगा, हर तरह की उनको छूट दी जाएगी और यही राज्य है जो बेघर लोगों के लिये रैन बसेरा भी सर्दियों में नहीं देना चाहता।

इस राष्ट्र से आदिवासी क्या चाहते हैं? आदिवासी चाहते हैं कि उनको उनके इलाके में उनके तरीके से रहने दिया जाय। राष्ट्र अगर उनका कुछ लेता है तो उनको भी राष्ट्र की दौलत में एक न्यायोचित हिस्सा मिलना चाहिए। इससे ज्यादा आदिवासियों ने कभी कुछ नहीं माँगा। स्थिति यह है कि इस देश की सारी औद्योगिक संपदा आदिवासी इलाकों में है। चाहे यहाँ का अबरख हो, चाहे यहाँ का कोई भी खनिज हो– लोहा, तांबा, यूरेनियम या कोई भी खनिज, वह सब आदिवासियों के इलाकों में आदिवासियों के घर–खेत के नीचे जमीन में है। और जितने लोहे के बड़े कारखाने हैं चाहे भिलाई हो या बोकारो– सब के सब आदिवासी इलाके में हैं। देश का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र झारखण्ड में है। लेकिन इतने बड़े पैमाने पर औद्योगिक और प्राकृतिक संपदा का केन्द्र होने के बावजूद झारखण्ड में ७० प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे रहती है। यह देश के सामान्य औसत से बहुत ज्यादा है, बहुत ज्यादा। झारखण्ड की ७० प्रतिशत आबादी गरीबी की रेखा से नीचे रहती है और झारखण्ड हिन्दुस्तान की पूरी इण्डस्ट्री का सबसे बड़ा केन्द्र है। आज आदिवासियों की, किसानों की जमीन लेने के लिए राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद में होड़ सी मची हुई है। बड़ी–बड़ी कंपनियों के द्वारा पूरे विश्व के पैमाने पर ज्यादा से ज्यादा जमीनें खरीदी जा रही हैं। उद्योग खोलने के लिए, खदान खोलने के लिए, कामर्शियल फार्मिंग करने के लिये, सारी दुनिया में जमीनें खरीदी जा रही हैं और ये राष्ट्रीय सरकारें ही हैं, राष्ट्रवादी सरकारें ही हैं जो कमजोर आदिवासियों और गरीब किसानों की जमीनें इन कंपनियों को दिलाती हैं। पूंजीपति इन जमीनों को सीधे तौर पर नहीं खरीदते। वे राज्य पर दबाव डालते हैं क्योंकि वह आदिवासियों और किसानों से जमीन अधिग्रहण कर सस्ते दर पर इन कंपनियों को दे सकता है। पूंजीवादी कंपनियाँ राज्य की सरकारों पर दबाव डालती हैं कि अपनी भूमि अधिग्रहण की नीति को और उदार बनाओ। ऐसे कानून बदलो या खतम करो जो जमीन अधिग्रहण करने में रूकावट बनते हैं। झारखण्ड में १९वीं सदी में जो विद्रोह हुए थे बिरसा मुण्डा और सिदो–कान्हू के नेतृत्व में, उनके फलस्वरूप अन्ग्रेजों ने दो कानून बनाए थे काश्तकारी के– छोटानागपुर टेनेंसी ऐक्ट और संथाल परगना टेनेंसी ऐक्ट। ये कानून आदिवासी की जमीन गैर आदिवासी को हस्तांतरित होने से रोकते हैं। इस कानून को बदलने के लिए पिछले १० सालों से जबरदस्त कोशिश चल रही है। आप देखें कि किस तरह उन तमाम कानूनों को बदलने की कोशिश की जा रही है और भारत सरकार भी भूमि अधिग्रहण कानून में तरह–तरह के संशोधन कर रही है ताकि राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद

को आसानी से ये जमीनें मिल जाएं, सस्ते में सुलभ हो जाएं। वर्ल्ड बैंक ने रिपोर्ट दी है कि सिर्फ २००९ में एक साल के अंदर पूरी दुनिया में ५ करोड़ ६ लाख हेक्टेयर जमीन बड़ी कंपनियों द्वारा किसानों से खरीद ली गई। यह जमीन फ्रांस देश के बराबर है। झारखण्ड में १९५० के बाद से अभी तक २२ लाख एकड़ जमीन खरीदी गई जिसमें १५ लाख आदिवासी बर्बाद हो गये। ये भूमंडलीकरण की नीतियां जब से लगी हैं और पास्को, जिंदल यहाँ आए हैं, १० लाख आदिवासी विस्थापित होने की कगार पे हैं। पूरे देश में १९५० के बाद से अभी तक ६५ लाख आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं अपनी जमीनों से। ये जमीनें किस तरह से आदिवासियों से हासिल की जाती हैं, इसमें किस तरह के हथकण्डे अपनाये जाते हैं, कैसे कानूनी सरकारों को उखाड़ फेंका जाता है, उन पर दबाव डाला जाता है, कानून बदले जाते हैं, इन सबके बीच एक छोटा सा दिलचस्प उदाहरण मैं आपको बताऊँगा। छत्तीसगढ़ के कोरबा जिले में वीडियोकोन कंपनी ने १२०० मेगावाट का एक पॉवर प्लांट बैठाना है। इस पॉवर प्लांट को बैठाने के लिये उसको कुछ आदिवासी गाँवों की जमीन हासिल करनी है और वह भी सस्ते दामों पर हासिल करनी है। कैसे करे वह? तो उसने यह हथकण्डा अपनाया। छत्तीसगढ़ की सरकार के एक मंत्री, गृह मंत्री हैं वहाँ ननकी राम, उनके बेटे हैं संदीप। उस संदीप को उन्होंने क्या किया कि अपना पब्लिक रिलेशन ऑफिसर बना लिया। संदीप कोरबा जिले में भारतीय जनता पार्टी के अनुसूचित जनजाति प्रकोष्ठ का अध्यक्ष भी है। संदीप को पब्लिक रिलेशन ऑफिसर बनाया और संदीप ने खुद जाकर उन गाँवों में आदिवासियों की जमीनें खरीद लीं, क्योंकि एक आदिवासी आदिवासी की जमीन खरीद सकता है। तो वीडियोकोन कंपनी ने एक आदिवासी मंत्री के ही बेटे को अपना पब्लिक रिलेशन ऑफिसर बनाकर आसानी से वह जमीन हथिया ली। जमीन खरीदने के लिये संदीप लाल बत्ती वाली गाड़ी में जाता था, जिसका उसको अधिकार नहीं था। फिर भी वह लाल बत्ती लगाकर अपने बाप की हैसियत की वजह से जाता था। लाल बत्ती को देखकर ऐसा दबाव पड़ता था आदिवासियों पर कि जिस दाम पर उसने जमीनें माँगी, उन्होंने डर के मारे दे दिया। उस जमीन का भुगतान वीडियोकोन कंपनी ने किया और उसका पॉवर ऑफ एटार्नी वीडियोकोन के प्रोजेक्ट ऑफिसर के नाम पर है। इस तरह के हथकण्डों से आदिवासियों की जमीनें ये बड़ी–बड़ी विदेशी कंपनियाँ हथिया रही हैं। उसी का नतीजा है कि आज झारखण्ड राज्य में ग्रामीण इलाकों में जो तीन करोड़ ७० लाख आदिवासी रहते हैं उनमें से २ करोड़ ३६ लाख आदिवासी, ग्रामीण गरीबी रेखा से नीचे अपनी जिंदगी बिता रहे हैं। यानी कुल ७० प्रतिशत ग्रामीण आबादी को पेट भर खाना नहीं मिलता। ये आदिवासियों को इतने बड़े पैमाने पर जमीन से वंचित करने का ही परिणाम है कि जब से झारखण्ड राज्य बना है (२०००ई.) तब से अभी तक ११ साल के अंदर झारखण्ड से ११ लाख आदिवासी पलायन कर चुके हैं। अपने जिंदा रहने के लिये हर साल १ लाख आदिवासी अपना गाँव–घर छोड़कर रोजगार की खोज में जाने के लिए मजबूर हैं। वे आपके उत्तर प्रदेश में आकर ईट भट्टों में काम करते हैं या पंजाब में जाकर खेतों में काम करते हैं या हिमाचल में जाकर चीन की सीमा पर सड़कें बनाने का काम करते हैं। इसी गरीबी और बेरोजगारी की वजह से १२०० लड़कियां हर साल झारखण्ड से गायब हो जाती हैं। इस पूंजीवादी राष्ट्र ने उनका सबकुछ ले लिया जिसके बल पे वे हजारों सालों से जिंदा थे। बदले में उनको क्या

मिला? हिंदुस्तान की सरकार चाहे जितना दावा करती रहे आदिवासियों के विकास का लेकिन हिंदुस्तान की सरकार की असलियत को सबसे ज्यादा अमरीकी जानते हैं, जिनको पूछे–बताये बिना यह सरकार शायद ही कुछ करती हो। भारत में जो अमरीकी राजनयिक हैं उन्होंने अमरीकी सरकार को जो चिठ्ठियां लिखीं, जिसको विकीलीक्स ने लीक कर दिया है, उनमें से एक चिठ्ठी में अमरीकी राजनयिक लिखता है अमरीकी सरकार को कि हिंदुस्तान में आदिवासियों की बड़ी विकराल समस्या हो गई है। लेकिन भारत की जो सरकार है, वह यहाँ के ८ करोड़ ४० लाख आदिवासियों की समस्या को न तो हल कर रही है और न ही हल करने की कोई इच्छा रखती है। ये अमरीकी राजनयिकों की चिठ्ठी है अमरीकी सरकार को लिखी हुई।

सवाल है आज आदिवासी कैसे जिंदा रहें? आज जिंदा रहने के लिये प्रतिरोध के रास्ते पर उसको उतरना पड़ा है। कोई राजनीतिक दल, हिंदुस्तान का कोई भी राजनीतिक दल आदिवासियों की लड़ाई नहीं लड़ता है। एक भी नहीं। जो नक्सली हैं उनके इलाके में, उन्होंने चूँकि स्थानीय आदिवासियों के कुछ सवालों को, कुछ मुद्दों को उठाया और वही आदिवासियों के सबसे करीब हैं तो कोई दूसरा रास्ता नहीं पाकर आदिवासी उनके साथ हो गये। जो युवा पीढ़ी के लोग हैं, जो ज्यादा बरदाश्त नहीं कर सकते, वो उनके साथ हो गये। सरकार सारी सच्चाई को जानते हुए भी कि समस्या का मूल कारण नक्सली नहीं आदिवासियों की समस्या है, सरकार आदिवासी असंतोष के प्रति आँखें मूँदी हुई है। वह नक्सलियों को राष्ट्र के विकास में सबसे बड़ा खतरा बता रही है और क्रूरता के साथ इनका दमन करने के लिये तैयार है। लेकिन नक्सली के नाम पर असल में दमन किसका किया जा रहा है? यह दमन आदिवासियों का किया जा रहा है। इस दमन का सबसे क्रूर रूप छत्तीसगढ़ में दिखाई देता है। आप देखें कि दांतेवाड़ा जिले में सलवा जुडूम के नाम से खुद राज्य ने एक संविधानेतर हिंसक संस्था को जन्म दिया। हथियारबन्द संस्था को जन्म दिया जिसका अस्तित्व ही बहुत विचित्र है। इस संस्था ने क्या किया? छत्तीसगढ़ में नक्सली चूँकि आदिवासी जंगल के इलाकों में, आदिवासी गाँवों में पनाह लेते हैं इसलिये यह सोचा गया कि उन जंगलों से आदिवासियों के गाँवों को ही हटा दिया जाय। उन आदिवासियों को कहा गया कि अपने गाँव को छोड़कर दंतेवाड़ा शहर में सलवां जुडुम ने जो तंबू लगा रखे हैं, रिफ्यूजी कैंप– उनमें आकर रहो। बीवी, बच्चों, परिवार के सहित माँ, बाप, बूढ़े जो भी हैं, उन सबको ले आओ। अपनी बकरी और खस्सी और भेंड़ और गाय सब ले आओ और यहीं रहो। यह कैसा हल है समस्या का? लाखों लोगों से कहा जा रहा है कि अपना गाँव–घर छोड़ दो जहाँ वे सदियों से रह रहे हैं। शहर में जो गंदे कैंप की बस्तियां बसाई हैं वहाँ आकर रहें! जिन लोगों ने ऐसे रहने से इन्कार कर दिया, सरकार ने क्या किया कि वहाँ राशन की दुकानें सब बंद कर दीं। वहाँ बिजली की सप्लाई बंद कर दी। वहाँ उन्होंने सारे स्कूल बंद कर दिये। अकेले दंतेवाड़ा जिले में २६४ स्कूल बंद कर दिये गये। आखिर मजबूर होकर ६० हजार आदिवासी ६०० गाँवों को छोड़कर भाग गये वहाँ से। वो भाग के कहाँ गये कुछ पता नहीं। कहाँ भटक रहे हैं, भीख माँग रहे हैं, रिक्शा खींच रहे हैं, यह कोई नहीं जानता। ६० हजार आदिवासी ६०० गाँवों से उजड़ गये सरकार की इन नीतियों के चलते। ये नक्सलवाद का दमन है या आदिवासियों का दमन है? और तो और, जब ये अपने गाँवों को छोड़कर चले गए तो इनके घरों को जला दिया गया, इनके गाँवों

को जला दिया गया ताकि नक्सलवादी वहाँ कभी पनाह न ले सकें। लेकिन क्या इन तरीकों से राष्ट्र–राज्य तथाकथित नक्सली समस्या को हल कर सकता है? मणिपुर में ६० वर्ष हो गये हैं आर्म्स फोर्सेस स्पेशल पॉवर ऐक्ट लागू किये हुए। नागालैण्ड, मिजोरम हर जगह तो सरकार की फौजें हैं और कश्मीर में ८ लाख सेना के जवान हैं। लेकिन फौज और ताकत के बल पर इन समस्याओं का हल आज तक सरकार नहीं कर सकी है। कर भी नहीं सकती। ये कोई अलगाववादियों का मामला नहीं है। कुछ लोग समझते हैं कि उत्तर पूर्वी सीमा के लोग इसाई हैं, ये अलग होना चाहते हैं। ये बात नहीं है। मणिपुर में ५७ प्रतिशत आबादी 'मेइति' लोगों की है जो हिन्दू हैं, वैष्णव धर्म को मानते हैं। और वहीं ये स्पेशल पॉवर ऐक्ट लागू है साठ सालों से। साठ साल से आप बंदूक के बल पर मणिपुर को दबाकर उस समस्या का हल नहीं कर सके। आप क्यों हिंसा के रास्ते पर चलकर इस समस्या का हल करना चाहते हैं?

समस्या है हमारे इस पूंजीवादी राष्ट्रवाद की ओर से। जो पूंजीवादी राष्ट्रवाद का चरित्र है, समस्या वहाँ पर है। हमारे देश में राष्ट्र की वह अवधारणा कभी नहीं रही जो आज है। दूबे जी बिल्कुल सही कहते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल, जो भारतीय मनीषी थे, उनका मानना था कि भारत में राष्ट्र का अर्थ भूमि रहा है। इस भूमि में जो रह रहा है वह भारत राष्ट्र में रह रहा है। उसका क्या धर्म है, क्या रीति–रिवाज है, क्या त्यौहार है– कोई पूछने नहीं गया, कोई उसको रोकने नहीं गया। हर समुदाय अपने धर्म, रीति–रिवाज के अनुसार रहता था। राज्य ने कभी उसमें कोई दखल नहीं दिया। भारत में यही राष्ट्र रहा है। लेकिन आज हिंदुस्तान में राष्ट्र की अवधारणा जो हमने ली है,वह पश्चिम से ली है। उसका विकास यूरोप में रिफार्मेशन के दौरान, धर्मसुधार आंदोलन के दौरान हुआ जब कैथोलिक चर्च की सत्ता को चुनौती दी प्रोटेस्टेंट ने। यूरोप में हमेशा ही राज्यशक्ति धर्म के साथ जुड़ी हुई रही है। ये गोरी जातियों के लोग आज मुसलमानों को कोसते हैं कि ये लोग थियोक्रेटिक हैं जबकि यूरोप हमेशा से थियोक्रेटिक रहा है। वहीं पर कैथोलिक चर्च की सत्ता– जिसकी ईसाई सत्ता पूरे यूरोप में थी– उस सत्ता के खिलाफ अलग–अलग राष्ट्रों की राज्यसत्ता विकसित हुई है, जिसका नेतृत्व उभरते हुए पूंजीवाद ने किया। ये जो पश्चिमी राष्ट्र हैं इनके अंदर गहरी असहिष्णुता है। वह अपने से भिन्न राष्ट्रों को हीन समझते हैं। सबसे बड़ी समस्या जो एक राष्ट्र को बनाने में आती है कि आप भिन्नता को किस प्रकार ग्रहण करते हैं। भिन्नता को आप क्या समझते हैं? अगर आप भिन्नता को पिछड़ापन समझेंगे, जाहिलपन समझेंगे, मापदण्डों से हटना समझेंगे तो आप उस भिन्नता को कुचलने की कोशिश करेंगे। दूसरों की विशिष्टता को कुचलकर, दूसरों की संस्कृतियों को कुचलकर आप राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकेंगे। पश्चिम के लोग इतने असहिष्णु हैं कि दूसरे की संस्कृति के प्रति उनके मन में कोई आदर का भाव नहीं है। मैंने देखा गोवा में। यूरोप के लड़के–लड़कियां आते हैं। लड़कियां सिर्फ ब्रा और एक चढ्डी पहनकर मोटरसाइकिल चलाती हुई गोवा में घूमती हैं। ये कितना दिल को सदमे में डालने वाला सार्वजनिक दृश्य है गोवा की सड़कों पर। गोवा के लोगों की यह संस्कृति नहीं है। गोवा के लोग तो बड़े परंपरावादी किस्म के लोग हैं। लेकिन वहाँ यूरोप से आये तमाम लड़के–लड़कियां एक अंडरवियर पहनकर घूमते हैं नंगे बदन। उनमें गोवा की स्थानीय संस्कृति के प्रति कोई आदर का भाव नहीं है। मैंने सुना है कि नेपाल के पोखरा जिले का पूरी तरह से

अमरीकीकरण हो गया है। वहाँ अमरीकी लोग जाते हैं, अमरीकी टूरिस्ट, और सारी अमरीकी कल्चर वहाँ फैला रखी है। स्थानीय संस्कृति के प्रति उनके मन में सम्मान का भाव नहीं है। लेकिन यही यूरोपीय अपने देशों में अपनी स्थानीय संस्कृति को जबरन, कानून बनाकर, दूसरों पर थोपते हैं। वहाँ मुसलमान औरत बुर्का नहीं पहन सकती, सिख आदमी पगड़ी नहीं पहन सकता। अपने देश में वे दूसरे की किसी भी प्रकार की संस्कृति बरदाश्त नहीं करते और उसको अपने कानून के तहत चलाना चाहते हैं। जबकि दूसरे देश में जाकर दूसरे की संस्कृति का कोई आदर नहीं करते।

मित्रों! ये संकीर्णताएं, ये बुराइयां हमारे अंदर भी हैं। हर एक की अपनी—अपनी कमियां हैं, अपनी—अपनी बुराईयां हैं। हमारे अंदर भी भिन्नता को लेकर इस प्रकार की ग्रंथियां हैं जो हमें एक राष्ट्र होने से रोकती हैं। मैं आपको आदिवासियों का ही उदाहरण दूँ कि किस प्रकार भिन्नता को पिछड़ेपन का उदाहरण समझा जाता है। आदिवासी हमसे भिन्न जरूर हैं, लेकिन आदिवासी पिछड़े नहीं हैं। जाहिल नहीं है। लेकिन हम उनको यही समझते हैं। हम भी भिन्नता का आदर नहीं करते। हमारे पास आदिवासियों के लिये जो एक शब्द है वह है जंगली। जंगली ही उनको कहा जाता रहा है। हिन्दूवादी लोग उसको सुधारकर वनवासी बोलते हैं। संस्कृत का शब्द होने से कोई बहुत महान हो जाता है, ऐसा नहीं है। अर्थ वही है— जंगली। जंगली तो शेर, गीदड़, बाघ, भालू सब हैं। सब जंगली हैं। आप मनुष्य का फर्क नहीं कर रहे उनसे। हमने अपनी भाषा में जो शब्द बना रखे हैं, हमारी भाषा बताती है कि हमारी मानसिकता क्या है? हमारा दृष्टिकोण क्या है? भारत में जो संविधान है उसमें बहुत सारी जातियों, बहुत सारे धर्मों को लोकतंत्र में स्थान देने का प्रावधान बनाया गया है, ये बात बिल्कुल सच है। भारत में संविधान बनाने वालों ने एक राष्ट्र बनाने की चेष्टा की। लेकिन ये सिर्फ संविधान में है। हमारे दृष्टिकोण, हमारी मानसिकता में नहीं है। जब तक वो हमारी मानसिकता और दृष्टिकोण में रच—बस नहीं जाता, तब तक आप भिन्न समुदायों को लेकर एक राष्ट्र नहीं बना सकते। संविधान को आप सिर्फ बंदूक के ही बल पर कब तक चलाते रहेंगे? हिंदुस्तान में आप देखें कि जनगणना जब होती है तो आदिवासियों का धर्म उसमें लिखा नहीं जाता है। जनगणना करने वाले जो हैं वे समझते हैं कि हिंदुस्तान में हिन्दू, इस्लाम, सिख, ईसाई बस यही धर्म हैं। यह व्यक्ति का दोष नहीं है। ये राज्य के कर्मचारी हैं और यह राज्य की नीति है जिसको लेकर वे जनगणना करने जाते हैं। तो धार्मिक दृष्टि से आदिवासी क्या हैं? इसके लिये वे कोष्ठक में लिखते हैं 'अन्य'। यानी जो हिन्दू नहीं है, इस्लाम नहीं है, सिख नहीं है, ईसाई नहीं है वो अन्य है। उसका अपना कोई धर्म नहीं है? वो अन्य है? इन नीतियों पर हम एक राष्ट्र खड़ा करना चाहते हैं?

आदिवासी इलाकों में आप शिक्षा के पाठ्यक्रम को देखें। कोई ऐसी किताब नहीं है जो आदिवासी बच्चों को पढ़ाई जाती हो और जिसमें आदिवासियों के समाज का कुछ वर्णन हो, उनकी संस्कृति, पर्व—त्यौहार का वर्णन हो। कोई ऐसी पाठ्यपुस्तक पढ़ाई नहीं जाती। देश के इतिहास में कहीं भी उनके नायकों का और उनके अपने इतिहास का कोई जिक्र नहीं आता है। वही अकबर और अशोक का इतिहास पढ़ते हैं। वही सारी चीजें पढ़ते हैं जो गैर आदिवासियों की है। हम अपनी संस्कृति को इस देश की संस्कृति समझते हैं, एकमात्र संस्कृति समझते हैं। ये दृष्टिकोण आज इतना सामान्यबोध बन चुका है कि आज आप हिंदुस्तान में टेलीविजन देखिए तो

लगता है कि हिंदुस्तान में हिन्दू धर्म को छोड़कर और किसी धर्म के लोग नहीं रहते। जितने सीरियल हैं, जितने कार्यक्रम हैं, आप कुछ भी देख लीजिए, सिर्फ हिन्दू लोग इस देश में रहते हैं। हिन्दी फिल्में देखिए उसमें से गाँव गायब हो चुका है। पता नहीं कैसे एक 'पीपली लाइव' बन गई अन्यथा वर्षों से, पचीसों वर्षों से हिंदुस्तान में फिल्मों में आपको गाँव नजर नहीं आएगा। सिर्फ खाते—पीते मध्यवर्ग के लोग नजर आएंगे। आदिवासी इलाकों में शिक्षा की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है। छत्तीसगढ़ के स्कूलों में उनको सरस्वती पूजा सिखाई जाती है। आदिवासी बच्चों को हनुमान चालीसा रटाया जाता है। लेकिन आदिवासी का भी कोई त्यौहार है या नहीं? उनकी अपनी भी कोई संस्कृति है, उसको हम कितना जानते हैं? हम किस बूते पर एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं? ये बात खासकर हिन्दी प्रदेश में और भी विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि इन चीजों की जानकारी की कमी सबसे ज्यादा हिन्दी प्रदेशों में ही है। हिन्दी साहित्य में मैथिलीशरण गुप्त को हमने राष्ट्रकवि का दर्जा दे रखा है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हैं, स्कूल का बच्चा भी जानता है, यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर भी जानता है। हम इस राष्ट्र के विभिन्न भाषाओं के कवियों के बारे में क्या जानते हैं? कितना जानते हैं? किस आधार हमने उनमें से एक मैथिलीशरण गुप्त को राष्ट्रकवि समझ लिया? हममें से कितने लोगों ने सुब्रहमण्यम भारती को पढ़ रखा है? क्या आप जानते हैं कि सुब्रहमण्यम भारती मैथिलीशरण गुप्त की तुलना में कितने शक्तिशाली कवि थे? उनका राजनीतिकि दृष्टिकोण कितना विकसित था मैथिलीशरण गुप्त की तुलना में और भारत की संस्कृति की कहीं ज्यादा समझ थी उनको मैथिलीशरण गुप्त की तुलना में? हम कुछ भी नहीं जानते। हम कूपमण्डूक हैं। हम अपनी भाषा—संस्कृति के अलावा कुछ नहीं जानते। हिन्दुस्तान में ये जो त्रिभाषा फार्मूला फेल हुआ आप सब जानते हैं कि ये हिन्दी प्रदेश के कारण फेल हुआ। हिन्दुस्तान में भाषा की समस्या हल करने के लिये त्रिभाषा फार्मूला बना जिसमें तय हुआ कि अपनी मातृभाषा के अलावा केन्द्र सरकार की राजभाषा को पढ़ा जाय और दूसरे राज्य की कोई एक भाषा को पढ़ा जाय। इसके तहत दक्षिण भारत के राज्य राजी हो गये और वो उत्तर भारत की एक भाषा को सीखने लगे। लेकिन हिन्दी प्रदेश के राज्यों में हिन्दी के बाहर की भाषा न स्कूलों में लागू की गई न किसी ने ऑप्ट किया। त्रिभाषा फार्मूला टांय—टांय फिस्स हो गया। ये हिन्दी प्रदेश के ही कारण हुआ। भारत जैसे बहुभाषी देश में आबादी का एक बड़ा हिस्सा द्विभाषी है। हर राज्य में ऐसे लोग हैं जो दो भाषाएं बोल—समझ लेते हैं (अन्ग्रेजी छोड़कर)। भारत में द्विभाषियों का औसत १४ प्रतिशत है। द्विभाषी लोगों की सबसे कम संख्या हिन्दी प्रदेशों में ही है जहाँ यह औसत सिर्फ ४ प्रतिशत है। यहाँ तक कि बंगाल में भी यह औसत इससे कुछ ज्यादा ५ प्रतिशत है।

हमने राष्ट्र की जो समझ बना रखी है, वह पश्चिम में विकसित हुआ पूंजीवादी राष्ट्रवाद है। १९वीं सदी में राष्ट्रवाद की इस अवधारणा को हमने विदेशी संपर्क से लिया था। यह अवधारणा है— एक भाषा, एक संस्कृति और एक राष्ट्र। १९वीं सदी के जितने नवजागरण के नेता हुए उनकी यही विचारधारा थी कि एक भाषा हो, एक राष्ट्र हो और एक धर्म हो तो हम बहुत शक्तिशाली हो जाएंगे। उनको लगता था कि यूरोप इसीलिये शक्तिशाली है। इसीलिये वह हमको गुलाम बना सका क्योंकि उसकी एक भाषा है, एक धर्म है और एक राष्ट्र है। आर्य समाज

सबसे प्रतिनिधि संगठन था— इस तरह के राष्ट्रवाद का। लेकिन उनके जो विरोधी थे— सनातनी और दूसरे लोग, वे भी इससे सहमत थे। वे सब एक राष्ट्र, एक धर्म और एक भाषा के चक्कर में थे। धर्म सबका अलग—अलग था। दयानंद सोचते थे कि वैदिक धर्म राष्ट्रधर्म होना चाहिए तो सनातनी लोग समझते थे कि वैष्णव धर्म राष्ट्रधर्म होना चाहिए। ब्रह्म समाजी समझते थे कि ब्राह्म धर्म राष्ट्रधर्म हो जाय। तो उनमें इस तरह की भिन्नता थी, लेकिन विचारधारा एक ही थी। राष्ट्र की यह कल्पना किसी फौजी जमात जैसी है। जैसे फौज की टुकड़ी होती है, सब एक ड्रेस में, एक जैसी टोपी, एक साथ पैर उठाते हैं, एक साथ पैर पटकते हैं, एक साथ मुड़ते हैं— राष्ट्र ऐसा होना चाहिए।

तो मित्रों! ये पूंजीवादी राष्ट्रवाद कोई बहुत अच्छी चीज नहीं है। मैं नहीं समझता की हिंदुस्तान की इतनी सारी विविधताओं, इतने सारे समुदायों, इतने सारे धर्मों को कुचलकर एक फौजी जमात जैसा राष्ट्र बना लेना कोई अच्छी बात होगी। इस राष्ट्रवाद की निंदा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की। इस राष्ट्रवाद की निंदा प्रेमचंद ने भी की। इसलिए अगर आज कोई नारा देने की बात हो तो मैं कहूँगा कि पूंजीवादी राष्ट्रवाद का विरोध करो। इस पूंजीवादी राष्ट्रवाद के विरोध के दो हिस्से हैं— एक तो पूंजीवाद है इसमें, जिसका विरोध करो और दूसरा इसमें वह राष्ट्रवाद है जो सिर्फ कुछेक राष्ट्रीयताओं, कुछेक धर्मों और कुछेक समुदायों के कब्जे में है, उनके वर्चस्व में है— उसका विरोध करो। भारत राष्ट्र अपने वर्तमान स्वरूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका पुनर्गठन करना होगा। जिन्हें हम हाशिए का समाज कहते हैं— यानी आदिवासी, दलित और पिछड़ी जातियों के लोग— असल में ये ही भारत के बहुसंख्यक और इस अर्थ में मुख्य समाज हैं। लेकिन इन्हें राष्ट्र के हाशिए में डालकर मुठ्ठी भर द्विज जातियों ने राष्ट्र पर अपना वर्चस्व कायम कर रखा है। इसे बदलना होगा। इसी के साथ इस राष्ट्र को देशी—विदेशी पूंजीवाद के चंगुल से भी मुक्त करना होगा जिसने राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार कर लेने के अलावा राष्ट्र की बहुसंख्यक आबादी— मजदूरों और किसानों का जीना मुश्किल कर रखा है।

दूसरे की संस्कृति, दूसरे के जीवन मूल्यों का आदर करना जब तक हम नहीं सीखेंगे और दूसरे को जब तक हम जानेंगे नहीं, हम एक राष्ट्र नहीं बन सकते, जिसकी चिंता के लिए ये सेमिनार आयोजित किया गया है। मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ कि कैसे हम, जो बहुमत में हैं, जो बहुसंख्यक हैं इस देश में, अपने आप को ही भारत राष्ट्र समझते हैं। जैसे हिन्दू धर्म को मानने वाले लोग अपनी भावनाओं को, अपने मूल्यों को, अपनी परंपराओं को इतना सही मान के चलते हैं कि जैसे यही एक मात्र चीज है और इससे भिन्न की वो कल्पना नहीं कर पाते और उसको सही मानना तो बहुत दूर की बात है। मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। मैं मिजोरम की राजधानी आइजोल जा रहा था, एक सेमिनार में। रास्ते में मेरा परिचय एक दक्षिण भारतीय से हुआ जो आइजोल से काफी आगे एक जगह है खोजोल, बर्मा की सीमा से थोड़ा पहले, वहाँ एक सर्वोदय विद्यालय के प्रिंसिपल थे। सर्वोदय विद्यालय केन्द्र सरकार द्वारा संचालित संपन्न स्कूल हैं। उन्होंने मुझे कहा कि आप एक दिन हमारे स्कूल में भी आइए। हमारे स्कूल के बच्चों के सामने आप दो शब्द बोलिए। मैंने उनका निमंत्रण मंजूर कर लिया। आइजोल में सेमिनार खतम होने पर मैं खोजोल के लिए निकल पड़ा। जंगल पहाड़ों को पार करते हुए, बड़ा लंबा रास्ता था। वहाँ

पहुँचकर मैं उनके यहां एक दिन ठहरा भी। ज्यादातर मीजो बच्चे थे वहाँ। प्रिंसिपल महोदय ने स्कूल के बारे में बहुत कुछ बताया। स्थानीय संस्कृति और समाज उन्हें जरा भी रास नहीं आया था। उन्होंने कहा कि यहाँ का समाज अच्छा नहीं है। मैं जल्द से जल्द यहाँ से चले जाना चाहता हूँ। वे दक्षिण भारतीय, तमिल ब्राह्मण थे चेन्नई के। उन्होंने कहा कि अजीब लोग हैं यहाँ। बच्चों की मां आती है। बीड़ी पी रही है, सिगरेट पी रही है। औरतें यहां बीड़ी—सिगरेट पीती हैं, दारू भी पी लेती हैं। और मीजो लड़के—लड़कियाँ हॉस्टल में रहते हैं। शाम होते ही जो लड़के हैं वे लड़कियों के हॉस्टल की तरफ भागते हैं। लड़कियाँ भी बाहर निकल आती हैं उनके साथ। बताइए कोई नैतिकता नहीं, कोई संस्कृति नहीं, कोई मूल्य नहीं इनका। मैंने उनको समझाने की कोशिश की कि आप अपने ही पैमाने से सारी दुनिया को मत मापिए। ये जो नैतिकता के आप के मापदण्ड हैं, ये आपके यानी एक दक्षिण भारतीय तमिल ब्राह्मण के मापदण्ड हैं। आप इसी मापदण्ड से पूरे हिन्दुस्तान को मत मापिए और आदिवासियों को तो बिल्कुल मत मापिए। आदिवासियों में औरत और मर्द के बीच हर मामले में इतना भेद नहीं किया जाता जैसा आपके समाज में और खासकर ब्राह्मण समुदाय में किया जाता है। अगर बीड़ी—सिगरेट पीनी बुरी बात है तो मर्द के लिए भी उतनी ही बुरी बात है। अगर मर्द के लिए बुरी बात नहीं है, वो पीता है, तो औरत भी उसको पी सकती है। मीजो इसको बुरा नहीं समझते। आप क्यूं अपनी संस्कृति की चीज उन पर थोप रहे हैं? ये लोग सदियों से यहाँ रह रहे हैं। यहाँ इनकी एक संस्कृति विकसित हुई है। आप उसे समझने का प्रयत्न कीजिए। और रही लड़के—लड़कियों की बात तो आप को मालूम नहीं होगा कि मीजो और नागा लोगों की संस्कृति और समाज की यह विशेषता है कि वहाँ शाम को युवा हो रहे लड़के अपने लड़की मित्रों के साथ मिलते हैं। दोनों एक साथ टहलते हैं, घूमते हैं, बातें करते हैं। ये चीज उनके समाज में मान्य है और वो इसको बुरा नहीं समझते। वो इसको बहुत अच्छी चीज समझते हैं। वहाँ हर एक गाँव में शाम होते ही जो जवान हो रहे लड़के हैं, वो अपनी हमउम्र मित्र लड़कियों के घर जाते हैं और फिर वो लड़कियाँ अपने मित्रों के साथ निकलकर बाहर घूमने जाती हैं। चाहे वे नाचने के लिए जाए गाँव के अखाड़ा में या चाहे समूह में बैठकर कहानी सुने। इसको उनके माँ—बाप बुरा नहीं, अच्छा समझते हैं। वो सोचते हैं कि ये तो स्त्री—पुरूष बनेंगे। इनको मिलना ही है। इसके उल्टे अगर कोई लड़का किसी लड़की से मिलने न आए तो लड़की के माँ—बाप को चिंता होने लगती है कि मेरी लड़की में क्या ऐसी खराबी है कि सब लड़कियों के दोस्त आते हैं, मेरी ही लड़की के नहीं आते? मेरी लड़की ने क्या ऐसा बुरा बर्ताव कर दिया है? ये चिंता उनके मां—बाप को होती है। ये मूल्य अच्छा है या बुरा? आप सोचकर देखिए। जो लोग समझते हैं कि ये मूल्य बुरे हैं और हिन्दुओं और ब्राह्मणों के मूल्य ही बड़े अच्छे हैं कि लड़के—लड़कियों को बहुत दूर—दूर रहना चाहिए, उनको ये मालूम होना चाहिए कि जिस समाज में लड़के—लड़कियों के बहुत दूर—दूर रहने का रिवाज है, उसी समाज में स्कूल—कॉलेज जाने वाली लड़कियों के साथ छेड़खानी होती है, उसी समाज में कंकड़ और पत्थर लड़कियों पर फेंके जाते हैं, उसी समाज में लड़कियों को दहेज के लिए जलाया जाता है, उसी समाज में वेश्यावृत्ति होती है, बलात्कार होते हैं, यौन हिंसा होती है। आदिवासियों में, नागा, मीजो में वेश्यावृत्ति नहीं होती, बलात्कार नहीं होता है, वहाँ कोई लड़कियों पर कंकड़—पत्थर नहीं फेंकता है, वहाँ दहेज की समस्या नहीं है,

वहाँ यौन हिंसा नहीं होती है। हमें अपनी कूपमंडूकता से बाहर आना चाहिए। हम जिन समुदायों के साथ मिलकर एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं उन समुदायों के लोगों के मूल्यों के प्रति, उनकी संस्कृति के प्रति हमारी क्या मानसिकता है? क्या दृष्टिकोण है? बार–बार रटे हुए संविधान को मत सुनाइए। आप अपना दृष्टिकोण, अपनी मानसिकता बताइए।

इसलिए मित्रों! अगर हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं तो इस देश में एक सांस्कृतिक आंदोलन की जरूरत है जो हमारी इस मानसिकता को बदले। राष्ट्र सिर्फ उन चार तत्त्वों के मिलने से नहीं बनता है जो स्टालिन ने बताये थे। माइकल लो ने, जो एक बड़े मार्क्सवादी विचारक थे, बताया कि राष्ट्र के गठन के लिए इन चार तत्त्वों के अलावा एक और जरूरी चीज है। वह यह कि जो लोग हैं वो आपस में मिलकर रहना चाहते भी हैं या नहीं? यह बहुत बुनियादी तत्त्व है। यह जो सब्जेक्टिव ऑस्पेक्ट है राष्ट्र का कि अगर ये साथ रहना नहीं चाहते हैं तो चार तत्त्व हों या आठ तत्त्व हों, आप उनको एक राष्ट्र नहीं बना सकते हैं। हिन्दी–उर्दू भाषा में कोई बहुत बुनियादी अंतर नहीं है लेकिन हिन्दी और उर्दू के ही सवाल पर उत्तर प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान सबसे ज्यादा बँटे हुए रहे हैं। उत्तर प्रदेश का मुसलमान कभी हिन्दी जाति कहलाना पसंद नहीं करता। तो अगर हम एक ही पहचान के अन्तर्गत रहना नहीं चाहते तो आप इन्हें एक राष्ट्र नहीं बना सकते। लेकिन जिनके साथ हम रहना चाहते हैं उनकी संस्कृति और उनके मूल्यों को जानना चाहिए और उसका आदर करना सीखना चाहिए। इसके लिए हमें बहुत तरह के परिवर्तनों की जरूरत है। मैं सिर्फ उदाहरण के लिए आपको बताऊँ– जैसे ये जाति यानी कास्ट की जो चेतना है, ये हिंदुस्तान की बहुत बड़ी रूकावट है। मैं जब पढ़ने के उद्देश्य से पहली बार बनारस आया था तो मैंने देखा कि लोग यहाँ एक–दूसरे से बात करते हुए बाबू साहेब, ठाकुर साहेब, पंडित जी! पांय लागीं– ये सब बहुत बोलते हैं। मैंने सोचा कि यह तो मुहावरा है बनारसी, मैं भी बोलने लग गया। लेकिन आज मैं समझता हूं कि ये राष्ट्रविरोधी भाषा है हमारी। हम जो बाबू साहेब हैं या ठाकुर साहेब हैं या पंडित जी हैं, हमें यह बात बहुत कॉमन सेंस की लगती है, हमें ये बात बहुत मामूली लगती है। लेकिन आप उन लाखों लोगों के बारे में सोचिए जो बाबू साहेब नहीं हैं, जो ठाकुर साहेब नहीं हैं, जो पंडित जी नहीं हैं, उनके लिए ये संबोधन क्या अर्थ रखते हैं? ये हमारे इसी समाज के अंग हैं और हम उन्हीं के सामने ऐसी भाषा बोलते हैं। आज मैं समझता हूँ कि यह भाषा एक राष्ट्र के लिए रूकावट है। जातिप्रथा एक अमानवीय प्रथा है, मनुष्य विरोधी प्रथा है। हमारे बेटे–बेटियाँ प्रेम करते हैं और हम लठ्ठ लेके खड़े हो जाते हैं उनके पीछे कि उनको हक नहीं है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में न जाने कितने प्रेमी–प्रेमिकाओं की हत्या की गई और उनको जिंदा जलाया गया। उनके परिवार के लोगों को जलाया गया। किसी लड़के ने किसी दूसरी जाति की लड़की से प्रेम कर लिया तो उसकी माँ–बहन के साथ बलात्कार किया गया। यह सिर्फ जाति की चेतना के कारण। एक ऐसी चेतना जो इतनी दंभपूर्ण है, इतनी मिथ्या है, इतनी निराधार है, उसको हम इतना ठोस मानकर इतनी हिंसा करते हैं? इतने अमानवीय हो जाते हैं? जातिप्रथा को स्वाभाविक मानकर, उसमें आस्था रखकर भारत को एक राष्ट्र नहीं बनाया जा सकता।

अंत में थोड़ी सी बात मैं शिक्षा के बारे में कहना चाहता हूँ। ये जो हमारी शिक्षा का ढाँचा है, इसे बदलने की जरूरत है अगर हम एक राष्ट्र होना चाहते हैं। हम हिन्दी में एम.ए. करते

हैं, बंगला में एम.ए. करते हैं, तमिल और मराठी में एम.ए. करते हैं, यह बंद होना चाहिए। हिंदुस्तान में आरंभिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक– हर स्तर पर साहित्य का अध्ययन–अध्यापन सिर्फ तुलनात्मक होना चाहिए। मराठी, तमिल, कन्नड़, पंजाबी, हिन्दी सारे साहित्य का एक साथ अध्ययन करो और तब देखो कि प्रेमचंद ही एकमात्र महान थे या फकीर मोहन सेनापति भी कोई था– कि तकषी शिवशंकर पिल्लइ भी कोई है– कि मैथिलीशरण गुप्त के अलावा सुब्रहमण्यम भारती भी कोई है। आप कुएं में जी रहे हैं, कुंए के बेंग होकर जी रहे हैं और राष्ट्र के नाम पर सिर्फ खुद को ही जानते और मानते हैं। तो यह जो एक–एक साहित्य का अलग–अलग अध्ययन होता है यह बंद करके हमें तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। अपने स्कूलों और विश्वविद्यालयों में इस प्रणाली को विकसित करना चाहिए। इसी प्रकार हिंदुस्तान जैसे देश में जहाँ इतनी भाषाएं हैं, इतने समुदाय हैं, इतने तरह के साहित्य हैं वहाँ अनुवाद अगर एक बहुत ही व्यापक, लोकप्रिय, मजबूत विधा न हो तो वह एक राष्ट्र नहीं हो सकता। हमारी पूरी शिक्षा प्रणाली में बचपन से ही हर बच्चे को एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की कला सिखानी होगी। भारत जैसे बहुभाषी देश में अनुवाद की शिक्षा हर स्तर पर अनिवार्य होनी चाहिए। हम यूरोप और अमरीका के लेखकों के बारे में जानते हैं, बहुत जानते हैं, उनकी रचनाएं पढ़ी हुई हैं, उनकी जीवनी जानते हैं। लेकिन हम कितने कन्नड़ के लेखकों को जानते हैं? हम गुजराती के कितने कवियों को जानते हैं? उड़ीसा के कितने कहानीकारों को जानते है? जवाब होगा कि कुछ भी नहीं जानते। मारियो वार्गास ल्योसा ने 'ला आब्लादोर' उपन्यास लिखा। नोबेल पुरस्कार मिलते ही उसका एक साल के अंदर भारत में अनुवाद हो गया। लेकिन हिंदुस्तान में भी किसी आदिवासी ने कोई उपन्यास लिखा है, कोई जानता है? और उसका कभी किसी दिन अनुवाद होगा?

तो मित्रों! बहुत सारी चीजें हैं जो एक राष्ट्र बनने के लिए बहुत जरूरी हैं और हमें अभी बहुत कुछ करना है। धन्यवाद!

लिप्यंतरण : अविनाश कुमार सिंह

कविता

अगर हम न मिले तो खोज लेना मुझे

(मूल संथाली से अनुदित)

*भोगला सोरेन

दोस्त मेरे
याद आए तो खोज लेना मुझे।
चिट्ठी न लिखना, खोज लेना मुझे।
जा रहा हूँ — दूर बहुत दूर।

पुरखों के मिट्टी के घर छोड़
गाँव के साथियों को छोड़
माँ बाप भाई बहनों को छोड़
एकला, जीने की तमन्ना लिए
रोजी रोटी के लिए
पापी पेट के लिए
जा रहा हूँ दूर बहुत दूर।

अफसोस —
प्रेयसी, मुझे माफ कर देना
अब हम तेरे साथ
अखाड़ा में नाच नहीं सकते
तेरे लिए सखुए के फूल
जंगल से ला नहीं सकते
बसंत में, सरहुल के मौके।
अब हम तेरे लिए गीत गाएँगे
गुनगुनाएंगे, हम ही सुनेंगे
तुम्हे सुना नहीं सकते।
मांदर की थाप पर अब हम
तेरे साथ थिरक नहीं सकते।
बांसुरी की तान पर अब हम
तेरे साथ झूम नहीं सकते।

दोस्त मेरे —
याद आए तो खोज लेना मुझे
चिट्ठी न लिखना, खोज लेना मुझे।

देख लेना महानगरों में
जहाँ बन रही बड़ी बड़ी इमारतें
करनी हाथ में लिए
काम करते हुए
मिल जाएंगे हम।

खोज लेना मुझे हजारों की भीड़ में
स्टेशन के पास फुटपाथ पर
पत्ता दातुन बेचते हुए
मिल जाएंगे हम।
देख लेना मुझे चौक चौराहे पर
दिहाड़ी मजदूरों के साथ
पेट के लिए काम ढूँढ़ते हुए
मिल जाएंगे हम।
खोज लेना मुझे किसी के खेत में
मिट्टी काटते हुए—
किसी पहाड़ में पत्थर तोड़ते हुए
मिल जाएंगे हम।

अगर हम न मिले तो
खोज लेना जंगल में जंगली जानवरों के बीच
चिरंजी चुनते हुए
मिल जाएंगे हम।
अगर हम न मिले तो
खोज लेना महा नगरों में
किसी के घर में बर्तन धोते हुए
मिल जाएंगे हम।

फिर भी—
अगर हम न मिले तो
खोज लेना मुझे
स्टेशन के पास
जहाँ भीखमंगे रात गुजारते हों
लावारिस लाशों के बीच
मिल जाएंगे हम।
दोस्त मेरे
याद आए तो खोज लेना मुझे।

*वरिष्ठ साहित्यकार, साहित्य अकादमी पुरस्कार 2010 से सम्मानित, जमशेदपुर, झारखण्ड संपर्क : 09431300600

कविता

कुछ किरचे-कुछ कहन

*मित्रेश्वर अग्निमित्र

पहले चैता मुण्डा मरा, अब परबतिया मरी –
चतरा से पचास किलोमीटर दूर,
जिन्दगी के समाधान के बाद
उनके घर सरकारी चेक आया, जब
संभव नहीं था, जरूरत भी नहीं थी
उस चेक को भुनाने की।

●

मरने के बाद परबतिया के घर,
इस बार बिना लेवी के,
आया पैंतीस किलो चावल भी।
बड़ी जल्दबाज थी परबतिया, चली गई।
अपने लम्बे सफर के पहले
रुक जाती कुछ दिन और,
भर पेट खा लेती, चार दिन तब,
कितनी सुखद होती उसकी महायात्रा
मगर, क्या करोगे
चैता मुण्डा लापरवाह था– मरा!
परबतिया मुण्डाइन जल्दबाज थी– गई!

●

मौतों की खबर पर,
अखबार दौड़े, अफसर दौड़े, कैमरे दौड़े
मरने की खबर पर जैसे लपकते हैं, चील–कौए
अपनी रोटी और रोजी के लिए दौड़ना पड़ता ही है।
चैता दौड़ना नहीं जानता था,
परबतिया जीना नहीं जानती थी,
अखबार–अफसर–नेता जानते थे दौड़ना और जीना
तभी, चैता–परबतिया मरे
अखबार–अफसर–नेता को खुराक देकर
अब, कौए और गिद्ध ताक में हैं

*विजय कुटीर कैम्पस, कॉलेज रोड, घाटशिला, झारखण्ड, संपर्क : 09430746111

कहाँ मिलेगी अगली लाश,
कैमरा अगला फोकस कहाँ करेगा!

●

मुल्क की तरक्की के लिए
आज भी जरूरी हैं हम,
इस भयानक रफ्तार से भागती
बदहवास दुनिया में
पूरी तरह निरर्थक नहीं हुए हम
हमें दूह कर, पीस कर, घोंट कर,
खा–पीकर,
हमारा देश, कर रहा है तरक्की!

●

ऊन उगाने के लिए भेड़ चाहिए,
गोश्त उपजाने के लिए मुर्गे चाहिए
गेहूँ बनाने के लिए मिट्टी चाहिए
तभी, भेड़े जिन्दा रहेंगी, मुर्गे–बकरे भी
मिट्टी और कपास–गन्ना–गेहूँ की तरह!
राजा को आहार चाहिए शासक को भण्डार
सत्ता को जंगल गुलजार चाहिए ;
तभी,
राजा बचेगा, पूंजी बचेंगें, भूख बचेगी;
सत्ता बचेगी, उसकी हिफाजत में हम बचेंगे
शाश्वत द्वन्द्व बचेगा ।
मवेशी बचेंगे, चारागाह बचेगा
इंडिया की भूख बचने तक
यहाँ लूट बचेगी तभी
उनसे हमारा रिश्ता बचेगा

●

राजा चौकन्ना है
अपने निवाले को धूप में जाने से बचाएगा
अपनी खुराक में नहीं उगने देगा
रीढ़ की हड्डी
फिक्रमंद राजा को बगावत लगती है
मुर्गे की बांग,
गेहूँ की बाली का झूमना

सिहरन भेड़े की झुण्ड का बतियाना देख
राजा हो जाता है, चौकन्ना
अपनी घोड़ी का हिनहिनाना भी,
नींद उचटाता है उसकी।
लेकिन,
राजा का आतंकित होना
गेहूँ के लिए, मुर्गे–भेड़–बकरे के लिए
घोड़ों के लिए, पैदा करता है
खूबसूरत सपने,
राजा को इन सपनों की खबर नहीं मिलती

●

सुनो रायसन,
कल इंसाफ का रास्ता जुड़ेगा जंगलों से,
हस्तिनापुर से रोशनी चल कर उतरेगी
सुवर्णरेखा तट के अमायनगर घाट पर,
सीडबलूजी की चंकाचौंध में आंधी हुकूमत देख पाएगी।
रोशनी के पार का अंधेरा, क्योंकि,
सुनो रायसन, भूख जाग रही है
हाकिम को मिली आजादी कल
डुमुरिया की गलबहियाँ डाल
लगाएगी बराबरी का नारा
लालकिले का झण्डा थामेगा अपने हाथों,
अपने घर पर झांटी झरने का मानसिंह
पूंजी के फरेब में गिरफ्तार आजादी कल मुक्त होकर
आ–बैठेगी बनमाकड़ी की चौपाल में
रायसन, तब एक समान आजाद होंगे
बम्बई और बाघुड़िया
आज बंदूक और बूटों को मिली आजादी
मिल जाएगी, छैनी–हथौड़ी को,
कुदाल–गैंता पा लेंगे इंसाफ! और सुनो रायसन
यह कल जाएगा, तुम्हारे भरोसे
यह सपना मैंने देखा है
खुली आँखों से, पूरे होश–ओ–हवास में

●

किशनजी मारे गए, करारी चोट पड़ी माओवाद पर
व्यवस्था जिंदा है, जो आदतन पैदा करती है किशनजी
व्यवस्था जवान और उर्वर है
थोड़ा वक्त दो उसे, हजार किशनजी वह पैदा करेगी
दरिदंगी, बदनीयती, खुदगर्जी
बगावतें पैदा करेंगी बदस्तूर
झोपड़ियों, अंधेरे गाँवों, दुर्गम घाटियों–जंगलों में,
चिनगारियाँ घुप्प अंधेरे में पैदा होती हैं,
वह है कायम तभी,
इस सूबे में किशनजी पैदा होने के आसार पुख्ता हैं

●

शहर गई है मेरी बेटी, मेरा आदमी आसाम से नहीं लौटा
बेटा बनारस के ईंट भट्टे में लगा है
उसे झोंक कर पकती है ईंटें
सब बाहर–पता नहीं
कौन, कब, किस हाल मे
लौटे!!!

●

छिन गए हैं खेत मेरे गाँव से
रोटी ढूंढने निकले हैं सभी, सूना कर सारे आंगन
क्षत–विक्षत नाच–गान, हाट–बाजार–मेले
भारी चोट खाए बैठे हैं मादल–बांसुरी
आओ सूरज आओ चांद
आती हुई आवाजों से डर बढ़ रहा है
सुना है, हमारी तरक्की के लिए
बहुत जरूरी है हमारा, हमारे गाँव से निकलना

●

मेरे घर, आओ सूरज! चांद उतरो मेरे आंगन!
मेरे आम की डाली पर बैठ
कोयल बुलाओ भोर, बुलाओ उजाला
मेरे घर में रेंग रहे हैं जहरीले कीड़े
सांपों से भर गया है आंगन
आम मंजराते हैं पर उगलते हैं जहरीले फल
मोर तो कब से रूठी है, इस गाँव से

कविता

तीन कविताएं

*अनुज लुगुन

आजाद लोग

मुकाबला जब आजाद लोगों से हो
तो हार–जीत के सवाल बेतुके होते हैं
हारे हुए आजाद आदमी के जज्बात
जीते हुए राजा के जज्बात से
ज्यादा सुन्दर और मजबूत से होते हैं
आजाद लोग अपने मरने पर विचार नहीं करते
वे अपने–
देवताओं
पूर्वजों
बच्चों,
बूढ़ों और औरतों के सम्मान पर बहस करते हैं
वे किसी हथियारबन्द राजा से नहीं डरते
वे एक पेड़ के गिरने से डरते हैं
नदी के सूखने से डरते हैं
आँधी से गिरे
किसी पक्षी के घोंसले को देख वे चिंतित होते हैं
आजाद लोग अपनी मौत से ज्यादा
दूसरों के जीवन पर बहस करते हैं
आजाद लोग आज फिर अपने बहसों पर हैं
वे धान की बालियों पर
हवा के लिए बहस कर रहे हैं
वे लोकतंत्र के राजपथ पर
जंगलों के लिए बहस कर रहे हैं।
आज फिर
हारे हुए आजाद आदमी के जज्बात
जीते हुए राजा के जज्बात से ज्यादा सुन्दर और मजबूत हैं।

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, संपर्क : 08765407843

शहर के दोस्त के नाम पत्र

हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले हैं
बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे हैं
अभ्रक और कोयला तो
थोक और खुदरा दोनों भावों से
मण्डियों में रोज सजाए जाते हैं
यहाँ बड़े–बड़े बाँध भी
फूल की तरह खिलते हैं
इन्हें बेचने के लिए
सैनिकों के स्कूल खुले हैं,
शहर के मेरे दोस्त
ये बेमौसम के फूल हैं
इनसे मेरी प्रियतमा नहीं बना सकती
अपने जूड़े के लिए गजरे
मेरी माँ नहीं बना सकती
मेरे लिए सुकटी या दाल
हमारे यहाँ इससे कोई त्योहार नहीं मनाया जाता,
यहाँ खुले स्कूल
बारह खड़ी की जगह
बारहों तरीकों के गुरिल्ला युद्ध सिखाते हैं
बाजार भी बहुत बड़ा हो गया है
मगर कोई अपना सगा दिखाई नहीं देता
यहाँ से सबका रुख
शहर की ओर कर दिया गया है
कल एक पहाड़ को ट्रक पर जाते हुए देखा
उससे पहले नदी गई
अब खबर फैल रही है कि
मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है,
शहर में मेरे लोग तुमसे मिलें
तो उनका ख्याल जरूर रखना
यहाँ से जाते हुए
उनकी आँखों में मैंने नमी देखी थी
और हाँ,
उन्हें शहर का रीति–रिवाज भी तो नहीं आता,

मेरे दोस्त
उनसे यहीं मिलने की शपथ लेते हुए
अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ।

खेती

तुम मेरी मिट्टी हो
तुममें बीज बोना चाहता हूँ
तुम्हारे गर्भ से उसका जन्म होगा
तुम्हारी उर्वरता
उसका लालन–पालन करेगी
तुम्हारे प्रेम की खातिर
मेरी कुर्बानी होगी
तुम्हारे प्रेम के लिए
मेरा वंश–बीज
प्रतिरोध की खेती बन लहलहाएगा।

कविता

डॉक्टर राम सिंह पुरती

*कशराय कुदादः 'मुरूकु'

सिंहो की भूमि में
पितृग्राम 'अर्जुन बिला' में
पिछले पचास वर्षों से
हल चले और खेत जुते
हरियाली छाई
और फसलें मुस्काईं
तब यह गांवों का देश कहलाया।

'राम सिंह' आज डॉक्टर हुए
उनके खेतों में धान नहीं, अब
ईंटों की खेती लहलहाती है
इस बड़ी मेहनत ने रंग लाया है
तब यह देश विकासशील कहलाया है।

दूसरे ही दिन खेत खुद गई
अब तो यह 'खदान' कहलाया
इधर डॉक्टर राम सिंह पुरती
लौटकर घर को आया
'यहीं तो था मेरा भी घर!'
यह सोच सोचकर सर खुजलाया
बहुत जो ढूंढ़ा जब न मिला
बेचारा डॉक्टर बहुत चकराया
डॉक्टर राम सिंह को घर मिले न मिले
देश को तो मिलने लगा है
लोहा और कोयला
बढ़ते उत्पादन को देख
यह देश विकसित तब कहलाया।

*सम्पादक : कोल्हान सकम, जमशेदपुर, संपर्क : 09234970998

बहुत जो ढूंढ़ा
पर मिला न घर
मिल गया उसे
एक जीन का पेटेन्ट नंबर
अब तो अपने घर–गांव समान
खरीद सकता है दस गुणा जहान
डॉक्टर राम सिंह पुरती
यह सोचकर
पास गया सरकार के
पता चला यह देश तो सारा
पहले ही लीज पर बिक चुका
लीज की जो राशि मिली है
खदान के छोटे गढ्ढे पर
सब लीज पर
'चू' रही टूटी छत्त के नीचे
दरार जड़ी दीवारों से टिकी
चल रही
भ्रष्ट आफिस के सहारे
बूढ़ा अमीन दरवाजे पर
सलाह जगाए जाने क्या सोचकर
डॉक्टर राम सिंह पुरती
यू बेटर नो–
नाउ वर्ल्ड इज ए ग्लोबल विलेज
सो,
यू गो टू अमेरिकन मुण्डा
एण्ड गेट देयर
ए लैण्ड ऑफ योर एक्जिस्टेंस।

कविता

जमूरा बने तुम

*चन्द्रकांत

कब — तक
ढोल — नगाड़े
और मांदर की थाप पर
नाचोगे मेरे भाई

क्या तुम जानते हो,
ढोल — नगाड़े और मांदर की थाप पर
नाचने का अर्थ ?

नहीं, तुम सीधे हो, सरल हो,
अनपढ हो, गँवार हो
तभी तो तुम्हारे हमदर्द
ले जाते हैं हजारों मील दूर
हड़िया और दारू पिलाकर
और तुम भी खुशी—खुशी जाते हो
अपनी संस्कृति को बरकरार रखने के लिए

लेकिन, तुम नहीं जानते
तुम्हारी संस्कृति की हिफाज़त
करने वाले हमदर्द,
तुम्हारी संख्या के सौदे से
खरीदते हैं सोने सी दमकती रौशनी
और कीमती शराब
तुम्हें जिन्स बनाकर
वे खड़ा कर रहे होते हैं
विलास — महल
समारोह समापन के बाद
तुम भूखे—प्यासे ट्रकों में
लाद दिये जाते हो
भेंड़, बकरी की तरह
जिसे पता नहीं होता
कि वह कहाँ जा रहा है?

सोचो
कब—तक जमूरा बने रहोगे तुम?

*श्री कृष्ण पब्लिक स्कूल, बिस्टूपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड, संपर्क : 09135362244

कविता

डियंग

*शचीन्द्र बिरूआ

डियंग नहीं तो बतरस नहीं
बतरस नहीं तो जीवन नहीं
माया की तलब और
रसी की खुमारी
कि हो तो पागल हो जाना
और जीम कर पीना
कि देखते ही खोना, कहीं
अंदर तक का पागलपन
सोच तक—
धुँधलाना आँखों का, और
बहस की भूख
कि खो जाना पीने में, और
ठहरना भूल जाना
माँ—बाप की टोक—टाक, फिर
सुन्दरियों को देख बखान का खयाल
कि मिलते ही अभिवादन का खयाल
डियंग का निमंत्रण संग—साथ
माँ—बाप की नजरों से बचना
जीवन के आखिरी छोर तक
घर में खाने की मौजूदगी तक

कैसे अलगा दूँ डियंग, कि
जब तक आँखें न धुंधला जाएं
दिन के आहार में डियंग
प्यास में,
पेट की भूख में,
पुरखों के अर्पण में
विवाह रवाजों में
कि विदा की घड़ी में डियंग, और

*न्यायिक दण्डाधिकारी (प्रथम श्रेणी), धनबाद, झारखण्ड, संपर्क : 09431327647

डॉक्टर की दवा की तरह डियंग

पीते–पीते बतियाना
दुख भुलाना, और
जीवन में शांति की गुंजाईश
प्यास बुझाने की गुंजाईश
वक्त के मरहम की गुंजाईश
तलाशना और, फिर पीना
लड़खड़ाना, चलना,
फिर–फिर

मुँह से गाली बोलना
कि राह भटक–भटक जाना
दुख का भार हटाने खातिर
जोर–जोर से गालियाँ बकना
चलना,
कि मटिया में ठेस लगना, और
चेलंग में गिर पड़ना

कि छोटे का माँ को गुहारना
बाप की बाट पूछना, कि
हाट से आती मुढ़ी
जोहना, और
हर बार की तरह रोते–रोते सो जाना

पत्नी का एक साथ बार–बार
हर बार उत्तर माँगना, कि
इतनी रात, जंगल सूना
बाघ, भालू, साँप, बिच्छू...
फिर टुहुक–टुहुक बिसुरना
दरवाजे पर ही सोना
रोज–रोज नींद में, गहरी–गहरी नींद में
बकबकाना
जंगल में बाघ, भालू, साँप, बिच्छू...
शहर में फिर भी न जाना

कैसी चीज बनाई तुमने
पीना बस पीते ही जाना
अंतहीन प्यास का अभिशाप
कि डियंग संग मरना
सिंगबोंगा!
डियंग संग जीना...

मूल 'हो' भाषा से अनुवाद : संजीव कुमार बिरुली
सहायक प्राध्यापक : को–ऑपरेटिव विधि महाविद्यालय, जमशेदपुर, झारखण्ड
संपर्क : 09470351585

डियंग : *एक तरह का नशीला पेय पदार्थ। इसे हड़िया भी कहा जाता है।*
माया : *डियंग बनने से पूर्व की स्थिति*
रसी : *डियंग का ही एक प्रकार*
मटिया : *डियंग परोसने का मिट्टी का बर्तन*
चेलंग : *डियंग के भण्डारण का बर्तन*

कविता

बनफूल

*आशुतोष कुमार झा

अग्निशिखा–सा
दमकने लगा है
ढाक के फूलों का रंग।

डायनामाइट लगा कर
तोड़े गये चट्टानों
के हृदय
आपस में रगड़ खाकर
सूखे पत्तों पर
बरसा रहे हैं
पलाश की प्रदीप्त लाली।

कोयले, लोहे और अभ्रख
की विस्थापित संतानें
पूछने लगी हैं
अपने घर का पता।

खनिज खोदकर
बन्ध्या बना दी गई धरती
महसूसने लगी है
चैत्र की रजस्विता।

मांदर की थाप पर थिरकती
स्वर्णरेखा
नगाड़े की ध्वनि सुनकर
तजने लगी है
कलाई की कोमलता।

*के/2/205 ट्यूब कॉलोनी, बारीडीह, जमशेदपुर–831017, मो. 09431372098

सुगबुगा रही है प्रश्नाकुल
राजमार्ग तैंतीस के दोनों ओर
हरियाली के टेन्ट में छुपी
अनगिनत पहाड़ियों की
अचल सहजता।

अपने बीजों में
वसंत का उन्माद लिए
चमक उठे हैं
ताजा–कोमल पत्तों से ढंके
साल के जंगल।

पठारी वक्ष पर
छटपटाहट
और आतुरता से
काँप उठा है दामोदर,
विशाल जलराशि का
आरोपित करने को
कालाशोक –
हो रहा सन्नद्ध ।

बाँस कुछ और लचीले हो गए हैं
ताकि बन सके
सबसे उम्दा धनुष
संसार के सबसे अनगढ़
हाथों से –

तीर के चमकीले फलक
सुनिश्चित करने लगे हैं
अपनी दिशा
और बटोरने लगे हैं
लक्ष्य वेधन की ऊर्जा।

विकास के आंकड़ों पर
धाराशायी कर दिए गए
आदिम पुरखों के वंशज
घिस–घिस कर
कुल्हाड़ी की धार
पूछ रहे हैं
हर जनविरोधी मौसम
का पता।

देखा है मैंने
सदियों से सूख कर
झड़ जाने वाले बनफूल
झारखण्ड की मिट्टी में मिल कर
महाविस्फोटक बारूद में ढलने लगे हैं
हूल–उलगुलान के नारे गढ़ कर
मिलने लगे हैं,
चलने लगे हैं।

कहानी

कॉमरेड मीणा

*केदार प्रसाद मीणा

पड़ोसियों और गांव वालों का आना–जाना लगा हुआ है, बुआएं, बहने, बेटियां और बाकी रिश्तों की महिलाएं तो कल ही शाम तक आ गई थीं। आज फूफे, जीजे और दामादों सहित पुरुष रिश्तेदारों का आना लगा है। चारों तरफ खुशी है, हंसी–ठहाके है। रामधारी मीणा की वाहवाही है, बेटे भवेश की वाहवाही है, सभी व्यस्त है। घनश्याम पानी की छींटे मारकर धूल–मिट्टी उड़ने से रोक रहा है। सुकेश मेहमानों को बीड़ी सिगरेट और चाय की पूर्ति कर रहा है। पड़ोसियों व रिश्तेदारों में कुछ युवक लोगों को खाना खिला रहे है। कोई चूरमा परोस रहा है, कोई बाटी डाल रहा है, कोई बेसन गट्टे की सब्जी डाल रहा है, तो कोई दाल, बीच–बीच में वे रामधारी व भवेश के ठाठ–बाट की चर्चा भी कर लेते है। सोचते हैं, दो बार में न सही आखिर तीसरी बार में तो भवेश ने बाजी मार ही ली। अब तो ठाठ–बाट में चार चांद और लगेंगे। मन–ही–मन वे तय करते हैं कि एकाध बार में न सही दो–चार बार में ही सही, पर बनना आईएएस या आईपीएस ही है।

''छोरा मुकेश उधर चूरमा दे.....क्या गुणियां लगा रहे हो इधर इकट्ठे होकर....'' रामभजन की आवाज सुनकर मुकेश, बाबू, रामहेते, गिरधारी पंगतों के बीच फैल गए। रामभजन ने दूसरी तरफ बर–बारह कदम चलकर अपनी बेटी लौटंती से धीरे से कहा, ''छोरी लौटंती, जा बेटी उसको भी पानी और कुछ खाने को रख आ। कसमसा रहा होगा बाड़े में।''

भूरैता गांव के सबसे बड़े आदमी रामधारी मीणा, आईपीएस के बेटे भवेश का कस्टम कलेक्टर के पद पर चयन हुआ है। इस खुशी में बड़े भोज का आयोजन रखा गया है। रात भर रामायण का अखंड पाठ हुआ है। रामधारी की बेटी प्रमिला की शादी के बाद साल भर में हुआ यह गांव का दूसरा बड़ा आयोजन है। रामधारी को तो आने वालों का स्वागत करने और बधाई की वाहवाही स्वीकारने से फुर्सत नहीं। इसलिए हमेशा की तरह आयोजन की सारी जिम्मेदारी उसके बड़े भाई रामभजन की है। रामभजन ने स्कूल का मुंह नहीं देखा, लेकिन सामाजिक जिम्मेदारियों का उसे गहरा अनुभव है। पड़ोसियों और रिश्तेदारों तक की जिम्मेदारियां वह छांव के साथ उठाता। लेकिन दस महीने पहले बेटे मनीष के साथ हुए हादसे और फिर पत्नी के गुजर जाने के गम ने उसे एकबारगी तोड़ ही डाला। वह लगातार बड़बड़ाने लगा। उसने खेती करना बंद कर दिया। जमीन आधी बंटाई पर घनश्याम को दे दी और दूध देने वाली दोनों भैसों को औने–पौने दाम पर बेच दिया। अब उसका काम दो वक्त की रोटी बनाना, दिन–भर पीपल के तले ताश खेलना और शाम को दारू पीना था। धीरे–धीरे वह काफी चिड़चिड़ा होता चला गया।

आज चारों तरफ मेहमान हैं, इसलिए वह बड़बड़ा नहीं रहा है। नहीं तो लौटंती से कहता, ''उस अंधे, लंग्गड़ को कुछ डाल दो.....चरने को। हरामी को भेजा था हरि भजन करने,

*हिन्दी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, नई दिल्ली, मो. 09868959890

पता नहीं कहां कपास ओटने चला गया। तबाह कर दिया घर को। खानदान को बट्टा लगाया सो अलग। वो तो गनीमत है कि मेरा भाई एस० पी० है, नहीं तो पुलिस मुझे भी ले जाती दो–चार दिन के लिए तो....'' पर आज वह अपनी यह कैसट दोहरा नहीं सका। असल में वह आज मनीष की किसी को याद ही नहीं दिलाना चाहता था। अगर उसकी ओर लोगों का ध्यान जाता तो रामभजन को फिर वही पुरानी बात सुनने को मिलती। ''ऐसे खानदान में यह कैसा लड़का पैदा हो गया....भूरया पटेल की तीन पीढ़ियों में ऐसा नहीं हुआ था। उसने तो भाई ठाकुरों की संगत की थी। उस संगत का ही फल है कि इनाम में मिली जागीर में उसने यह गांव बसा दिया नहीं तो क्या था यहां? ऐसे वंश में ऐसा कलंकी पैदा होगा, किसने सोचा था। बच्चे तो रामधारी के भी है देखों उनको...

मनीष को कोई देख न ले, इसलिए रामभजन बाड़े के गेट पर ताला जड़ देता है। कभी इस बाड़े में पशु ही बंधा करते थे या ट्रैक्टर के सामान पड़ते रहते अब एक भी पशु रामभजन नहीं रखता है। बाड़े में मनीष पड़ा रहता है। छप्पर में कुछ पक्षियों के घोंसले हैं, बाकी कुत्ता भी अंदर नहीं आ सकता है। हाँ, सुबह–शाम लछमा भंगिन आती है, मनीष की गंदगी साफ करने, कपड़े बदलने। ग्यारह महीने बीत गए जब मनीष को इस हाल में गाँव लाया गया। दिल्ली से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, मतलब जेएनयू की गाड़ी आई थी उसे छोड़ने। बेटे को ऐसी हालत में देख जसोदा का तो कलेजा ही फट गया। बीमार पहले से थी। महीने भर बाद चल बसी। पिछले तीन साल से वह बेटे को देखने–सुनने को तरसती रही। 'किसी की छोरी लेकर भाग गया होगा कहीं'...आदि। प्रमिला की शादी के समय सभी रिश्तेदारों द्वारा मनीष को याद करने पर वह बहुत रोई। फेरों के वक्त कन्यादान हेतु जब नाई ने मनीष का नाम पुकारा तो जसोदा फूट पड़ी थी। माहौल गंभीर हो गया था। तब लौटंती उसे वहां से छत पर ले गई। लौटंती का पांच साल पहले गौना हो चुका है। फिर भी चार महीने तक वह भूरैता में अपने भाई की देखभाल में लगी रही एक दिन रामभजन को कहना ही पड़ा, ''जा बेटी, तेरे दोनों बच्चे छोटे–छोटे हैं। उनको क्यों सजा दे रही है? हमें हमारे नसीब पर छोड़ दे। जो ललाट में विधाता ने लिख दिया वो तो होकर रहेगा। अब तो ऐसे ही कटेगी, बेटी...''

रामभजन जब कभी अधिक पी लेता तब रात को मनीष के पास बाड़े आ जाता।
''हरामी....लूले! सो रहा है कि जाग रहा है पता ही नहीं चलता तेरा....जबान तो नहीं काटी तेरी 'हां' 'हू' तो कर....''

''अरे....इसी दिन के लिए मैंने तुझको दिल्ली तक भेजा था पढ़ने....? यही दिन देखने के लिए...''

''अरे, नाल कटवाने गया था तू जंगलों में..तेरी डोकरी नाच रही थी वहाँ मादरचोद..... हरामी...अरे तू है किसका मूत.....''

''....वो देख रामधारी की छोरी दिल्ली में प्रोफेसर बन गई....तूने सुना होगा ना उसकी शादी के बारे में....कलेक्टर के साथ हुई है...कलेक्टर के साथ...देख नहीं सकता, सुनता तो है तू. .अठारह लाख की तो कार दी है दहेज में। पचास तौला सोना और जयपुर में तीन प्लॉट भी...ऐसी शादी नहीं हुई इस गांव में तो अब तक और तू....तू क्या समझेगा...''

''....अगर तू जंगलों में अपनी ऐसी–तैसी कराने नहीं जाता तो क्या हरामी....तेरी भी ऐसी जोरदार शादी न करता मैं। देखता रह जाता सारा गांव....सर ऊंचा हो जाता मेरा...हांका मच जाता दस गांव में....''

''पर ते....तो....''

''तू....तू....तू बेटा हे भगवान मैं क्या करूं अब....''

''अरे किसने कही थी बेटा तुझसे जंगलों में जाने की....तेरा काम तो पढ़ाई करके कलेक्टर बनना था....तू क्यों गया जंगलों में...अरे, नहीं पढ़ना चाहता था तो न पढ़ता। दो सौ बीघे धरती थी मेरे पास, वापस आ जाता घर, भागने की क्या जरूरत थी....।

''अरे, हरामी, किसने बहकाया था, कभी बता तो सही...हय! मीन भगवान अब क्या करूं मैं....''

मनीष की जुबान सही–सलामत लगती है, लेकिन वह एक शब्द भी बोलता नहीं, हालांकि रामभजन के बाड़े के बगल के बाड़े में दारू पीकर पड़े रहने वाले लल्लू का कहना है कि उसने मनीष की आवाज कई बार सुनी है। पर लल्लू की बात उसकी लुगाई तक नहीं सुनती, रामभजन मनीष को लातें मारते हुए कभी–कभी वहीं लुढ़क जाता। रामधारी की बेटी प्रमिला, बेटा भवेश और मनीष एक साथ गांव में पले–बढ़े, प्रमिला व भवेश को रामधारी जयपुर ले गया। मनीष से छह वर्ष बड़ी लौटंती को तो रामभजन ने पढ़ाना जरूरी नहीं समझा उसे घर के कामों में लगा दिया कहा, ''बेटी तू तो थारी जीजी और म्हारो सहारे बण, थारो ब्याह तो मैं थारे बिना पढ़या भी नौकरी वाला छोरा सूं कर दूग्यो। भारी धन दूग्यो बेटी, पैसे के अगाड़ी सब दबै है....'' यही हुआ रामभजन ने एक लालची अध्यापक के साथ लौटंती की शादी कर दी। पांच लाख रूपया दहेज दिया और दो दिन बारात की आवभगत की। जबकि रामधारी ने चाहा कि उसकी बेटी प्रोफेसर बने और बेटा आईएएस, इसलिए वह अपने बच्चों को जयपुर ले गया। मनीष ने गांव के स्कूल से बारहवीं करने के बाद गंगापुर के राजकीय कॉलेज से बीए किया, प्रमिला ने दिल्ली के दौलतराम कॉलेज से बीकॉम किया जबकि भवेश ने जयपुर के महाराजा कॉलेज से बीए किया। प्रमिला ने दिल्ली से जेएनयू की प्रवेश परीक्षा के दो फॉर्म भेजे। भवेश व मनीष दोनों ने परीक्षा दी। भवेश जयपुर में आरएएस और जेएनयू की तैयारी करता जबकि मनीष गंगापुर से दस किलोमीटर दूर अपने गांव आता–जाता रहता। जीजी और काका का दोनों भाई–बहन खेती के काम में हाथ बंटाते। सरसों व गेंहू की सारी बुआई कराते। मनीष सारी फसल की रात–रात भर सिंचाई कराता, कटाई कराता और दाने खलिहान से घर तक पहुंचाता। इस बीच अगर परीक्षा होती तो वह दो दिन के लिए जाता और दूसरे दिन फिर खेतों–खलिहानों में जब खेती का काम नहीं होता तब ही जमकर पढ़ाई करता। भवेश तब न आरएएस की प्रिलिम्स पास कर सका न जेनएनयू की प्रवेश परीक्षा जबकि मनीष कामयाब रहा। उसे मेरिट लिस्ट में चौथा स्थान प्राप्त हुआ। उम्र में पांच मिनट बड़ी होने के नाते प्रमिला ने भवेश को खूब डांटा। मनीष ने एमए समाजशास्त्र की पढ़ाई शुरू की और झेलम हॉस्टल में रहने लगा। भवेश भी सिविल सेवा की तैयारी के लिए दिल्ली के मुखर्जी नगर में आकर रहने लगा। कभी–कभी वह मनीष के पास जेएनयू चला आता। शुरू में दो बार प्रमिला भी आई पर उसे जेएनयू का माहौल, कैम्पस में

नारेबाजी और पोस्टरबाजी बहुत बुरी लगती। इसी वजह से बार–बार जेएनयू आना उसे पसंद नहीं था। दूसरी बार जब वह जेएनयू आई थी तब गंगा ढाबा पर चाय के दौरान बोली ''मनीष, दुनिया किस तरफ जा रही है और जेएनयू वाले किस तरफ जा रहे हैं। इन पोस्टरों को लगाने से रैली निकालने से और बस भरकर जंतर–मंतर जाने से क्या देश डेवलप हो जाएगा? मैंने तो जेएनयू के बारे में पहले भ्रम ही पाल रखा था।''

''यह सब देश के लोगों के लिए, उनकी बेहतरी के लिए ही किया जा रहा है इसमें गलत क्या है, ऐसा होना ही चाहिए।''

''लेकिन इन सबका पढ़ाई से क्या लेना–देना, हमारी दिल्ली यूनीवर्सिटी में तो ऐसा नहीं है दूसरी बात कि इसका देश के इंफ्रास्ट्रक्चर और जीडीपी पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है, बल्कि इन हरकतों से नेगेटिव असर होता है। जंतर–मंतर पर होने वाले धरनों से शेयर बाजार गिर जाता है। ये सब बकवास है, कोरी राजनीति है।''

''राजनीति अगर गरीबो–आदिवासियों के हक में हो रही है तो बुरा क्या है.... कुछ हलचल तो देश में मचनी ही चाहिए, यहीं से तो आगे रास्ता बनेगा...दबाव बनता है सरकारों पर...''

''नो वे... कुछ नहीं होगा राजनीति से। ये लोग समझते ही नहीं कि आखिर देश कैसे विकसित होगा...बिजली बने, बांध बने, हाइवेज बनें, कारखाने लगें और अगर जमीनों में खजाना दबा पड़ा है तो वह देश के ही काम को है, उसे जमीन में दबाकर रखने से क्या होगा....जरा देखो अमेरिका को...वह तो दूसरे देशों के खजाने को भी कंट्रोल करना चाहता है...''

''अमेरिका ने भी आदिवासियों, रेड इंडियंस को नष्ट कर दिया...''

''तो इसमें गलत क्या है?....उन लोगों का अमेरिका को कंट्रीब्यूशन क्या था..... आज देखो अमेरिका को....''

''चाय पियो। ठंडी हो रही है...''

मनीष ने दूसरे सेमेस्टर में 'सामाजिक समस्याएं : दलित–आदिवासियों के विशेष संदर्भ में' विषय पर उत्तेजक सेमिनार पत्र लिखा। क्लास में उस पर अच्छी बहस हुई प्रोफेसर आर०पी० सिंह ने 'ए' ऑनली ग्रेड दिया। तीसरे सेमेस्टर के शुरू में मनीष छात्र संघ की राजनीतिक गतिविधियों में अधिक रुचि लेने लगा। बहुराष्ट्रीय कंपनी नेस्ले के आउटलेट को कैम्पस से बाहर करने के लिए चले छात्र आंदोलन में उसने बढ़–चढ़कर हिस्सेदारी की। उस दौरान उसे लगा कि एक विचारधारा की जरूरत हर आदमी को होती है जिसे वह अपनी व्यक्तिगत समझ से चुनता है। बिना विचारधारा और प्रतिबद्धता के आदमी कुछ कर नहीं सकता। विचारधारा उसे आत्मबल, समझ व समूह की ताकत प्रदान करती है। महीने–पंद्रह दिन की मानसिक उधेड़बुन के बाद अंततः उसने एक वामपंथी छात्र संगठन की सदस्यता ले ली। वह संगठन की राजनीतिक कक्षाएं लेने लगा। रात–रात भर जागकर चाय और सिगरेट के साथ पोस्टर तैयार करता। रातोरात पूरे कैम्पस में चिपकाता और मैस में पब्लिक मीटिंग्स आयोजित कराने लगा। संगठन की ओर से उसे आदिवासी छात्रों की समस्याओं पर विचार करने, उनकी सहायता करने व उनको संगठन से जोड़ने की जिम्मेदारी दी गई। मनीष अपने काम को बखूबी अंजाम देना

चाहा, मगर राजस्थान के मीणा आदिवासी छात्रों और अन्य प्रांतों के ईसाई बने आदिवासी छात्रों को वह कन्विंस नहीं कर सका। उन्होंने उसका मजाक बनाया। मीणा छात्रों ने रोड़ा बताया तो दूसरे ईसाई आदिवासी छात्रों ने इसे विदेश शिफ्ट होने में बाधा बताया। एक ग्रुप ने कहा कि अधिकारी बनकर ही आदिवासियों का भला किया जा सकता है; दूसरे समूह ने बताया कि आदिवासियों की बेहतरी के लिए चर्च काम कर रहे है।

छात्र संघ चुनाव संपन्न हुए और मनीष के संगठन ने सेंट्रल पैनल की चारों सीटें जीत लीं। प्रमिला तो फिर नहीं आई पर भवेश मनीष के पास आता रहा।

''मनीष तुम कहां हो, मैं जेएनयू आ रहा हूँ...।

''सेंटर में हूं, सीधे हॉस्टल में आना। मैं पहुँचता हूँ वही...'

भवेश ने आते ही कहा, ''यार मनीष, पापा ने बताया कि आरपीएससी का चेयरमैन जेएनयू के प्रोफेसर इकबाल पाशा का दोस्त है....''

''तो....?''

''यार बात करो, बड़ी मुश्किल से दूसरी बार में साक्षात्कार तक आया हूँ....''

''पाशा सर से मेरा कोई संबंध नहीं है...''

''.....तो अपने यूनियन के प्रेसिडेंट के थ्रु करो....''

''नहीं...ऐसा नहीं हो सकता है......जेएनयू स्टूडेंट यूनियन के प्रेसिडेंट का यही काम है कि वह किसी राज्य में किसी को तहसीलदार, किसी को इंस्पेक्टर या सब–इंस्पेक्टर या बाबू बनाने के लिए सिफारिश करता रहे....?

''क्यों राजस्थान विश्वविद्यालय का प्रेसिडेंट नहीं करता? और फिर तुम क्यों उनका झंडा उठाते हो फालतू में...?''

''मैं काम करता हूँ विचारधारा के लिये। बड़े सामाजिक–राजनैतिक परिवर्तन...तुम छोड़ों यार, पर मैं यह काम नहीं कर पाऊँगा...तुम समझने की कोशिश करो...''

''हाँ...हाँ, मैं तो समझता ही नहीं न, में तो बेवकूफ हूँ! सारे गाँव में लोग एस, पी० रामधारी मीणा और उनके बेटे को हीरा समझते है और तुम बेवकूफ कह रहे हो....''

''मैंने तुम्हें बेवकूफ कब कहा? तुम समझो तो सही बात को....''

''धम्म...'' दरवाजा बंद होने की तेज आवाज के साथ भवेश रूम से बाहर निकल गया। मनीष ने उसे बालकनी से सतलज हॉस्टल के सामने से कमल कॉम्पलैक्स की ओर जाते देखा। मुड़कर उसने भी बैग कंधे पर लगाया और बिना खाना खाये ही लाइब्रेरी के लिए चल पड़ा। परीक्षाएं भी अब दूर नहीं थी। चौथे सेमेस्टर की परीक्षा के बाद मनीष ने एम०फिल/पी–एच०डी० की प्रवेश परीक्षा दी और छुट्टियों में गाँव चला गया। पुराने साथियों से मिला। कुँए में कूदकर नहाया, बबूल के पेड़ों से गोंद तोड़ा और रिश्तेदारों से मिला। प्रवेश परीक्षा में उसने तीसरा स्थान प्राप्त किया। एम०फिल शोध प्रबंध के लिए विषय चुना 'आदिवासियों की समस्याएं और जन–आंदोलनों की भूमिका; शोध कार्य के दौरान वह झारखंड और छत्तीसगढ़ में फील्ड वर्क के लिए गया। वहाँ आदिवासियों को कुपोषण, बीमारी, सूखे, बेगारी, बेरोजगारी और विस्थापन से जूझते देख वह सन्न रह गया। उसे लगता था कि अब तो

आदिवासी संपन्न होने लगे हैं, उनकी राजनीति असरदार हो रही है। पर वह सब यहां गलत साबित होने लगा। कोयला खदानों की ट्रेड यूनियनों और नक्सलवाद—माओंवाद वाले क्षेत्र में उसे आदिवासी राजनीति का असर कहीं नजर नहीं आया। आदिवासियों में कुछ संपन्नता के शिखर पर थे बाकी दाल—भात को तरसते नजर आए। झारखण्ड के धनबाद का पुलिस अधीक्षक मीणा ही था। मनीष उससे मिला, ''सच तो यही है मनीष कि यहाँ सब चोर हैं। आदिवासी भी और उनके नेता भी। ये कोयला और लोहा चुराते हैं, नेता इनकी मजदूरी और बहन—बेटियों को चुराते है। आदिवासी इसी बदहाली में रह जाता है जबकि नेता और दलाल रातो—रात करोड़पति होकर निकल लेते है। फिर रांची या दिल्ली में रहने लगते है।''

''प्रशासन भी तो कुछ...''

''प्रशासन क्या करेगा जी...प्रशासन का विश्वास आदिवासी को है ही नहीं, पुलिस के पास वह कभी अना ही नहीं चाहता है। आते हैं उनके नेता। फिर नेता आदिवासी हो या कोई और सबके सब एक जैसे...शीबू सोरेन का नाम तो तुमने सुना ही होगा....''

''हाँ...''

तो बस, जब उसका ही यह हाल है, तो छुटभैये क्यों पीछे रहेंगे.....खैर.....छोड़ो यह सब कौन—सा गाँव बताया तुमने अपना....?''

''भूरैता..''

''अरे हाँ, भूरैता के तो आर०डी० साहब भी हैं...?''

''जी, चाचा हैं मेरे....''

''तुम तुम क्यों इन चक्करों में पड़े हो यार...दिल्ली में रहते हो, जेएनयू में पढ़ते हो तुम अपना काम करो भाई! यूपीएससी निकालो...कुछ नहीं रखा इन शोध—वोध में। जिंदगी खराब मत करो....''

''देखता हूँ....तो अब मैं चलूँ...''

''ठीक है....और कोई जरूरत हो तो बताओ। यह कार्ड लो। पर्सनल है। फोन कर देना ''

''ठीक है सर.....''

''और हाँ, आर०डी० साहब को मेरा राम—राम कहना...''

''जी''

झारखंड से भी बुरे हालात छत्तीसगढ़ में देखने को मिले। मनीष रायपुर से बस द्वारा लगभग चार सौ किलोमीटर का सफर तय कर तकरीबर दस घंटे में दंतेवाड़ा पहुंचा था। ऐसा दुर्गम इलाका जिसकी नई दिल्ली का कवि कल्पना नहीं कर सकता। पूरा का पूरा अबूझ। मनीष के साथ था माड़िया आदिवासी युवक बीजल। दंतेवाडा से दस—बारह किलोमीटर की दूरी पर गीदम कस्बा है। यहां बुधवार की सुबह साप्ताहिक हाट लगता है। मनीष दिल्ली में सोचता था कि शीबू सोरेन के धानकटिया आंदोलन के साथ ही सभी आदिवासी क्षेत्रों से महाजनी शोषण खत्म हो गया है। लेकिन बस्तर क्षेत्र के हालात अभी भी वैसे ही हैं जैसे झारखंड और दक्षिण राजस्थान में १९४०.५० के दिनों में रहे होंगे। बस्तर दूसरे आदिवासी क्षेत्रों से सौ—पचास साल पीछे है। बुधवार की सुबह जब गोंड आदिवासी गीदम के साप्ताहिक हाट की ओर आते हैं, तब कई महाजन उनको

हाट में प्रवेश करने से पहले कस्बे के बाहर ही पकड़ लेते हैं और जबरन उनकी चीजें सस्तें में खरीद लेते है। गांव डपेट के शिवराज कोरमी ने दु:खी होकर बताया ''ये बाहर बैठे महाजन हाट में अंदर बैठे महाजनों के ही संबंधी है। अगर हम इनको अपना सामान सस्ते में नहीं देंगे तो ये आज दिन—भर हमारे मुर्गे, इमली, गोंद को जान—बूझकर नहीं खरीदेंगे और लौटते हुए हमें और भी कम दाम पर बेचना पड़ेगा। अब रोज—रोज दंतेवाड़ा तो नहीं जा सकते और वहाँ भी यही हाल है। हर जगह का महाजन आखिर महाजन ही है...''। बस्तर के आदिवासियों के पास कोई काम नहीं। तेंदू पत्ता को भी सरकार—ठेकेदार न तो उचित दाम पर खरीदते हैं और न समय पर उसका भुगतान किया जाता है। परेशान आदिवासी अगर विरोध या हड़ताल करते हैं तो पुलिस उनके साथ बेरहमी से पेश आती है मारपीट की जाती है, महिलाओं के साथ बलात्कार किया जाता है। ऐसी स्थिति में आदिवासी अपना मानसिक संतुलन खो रहे है। वे हत्या, आगजनी तौर आत्महत्या जैसे कदम उठा रहे हैं। अंतिम रास्ता हथियार उठाना है। मुनिरका के अग्रवाल स्वीट्स से मनीष ने कुछ मिठाइयां खरीदीं/अगले दिन उसके एम०फिल० का वायवा था/तभी भवेश का एसएमएस मिला,/'हर तलवार पर मीणाओं की कहानी है।/तभी तो दुनिया मीणाओं की दीवानी है।/मिट गए मीणाओं को मिटाने वाले क्योंकि आग में तपी मीणाओं की जवानी है। —ए मीणा बॉय।'

मनीष ने कॉल की, ''अच्छी तुकवाला एसएमएस है भवेश, किसने बनाया...?''

''एक दोस्त ने जयपुर से भेजा है। मैंने तो बस फॉरवर्ड किया है....''

''अच्छा सुनो, कल मेरा वायवा है, एम० फिल० का; हो सके तो आ जाओ...''

''कल तो मुझे नए कोचिंग के लिए बात करनी है, मेन्स के लिए....नहीं आ सकूंगा। वैसे तुम्हारे वायवा में तो आदिवासियों के अलावा कुछ नहीं होगा.....इससे मेरा क्या फायदा। जी०एस० में भी इससे कोई सवाल नहीं पूछा जाता है...।''

''ये आदिवासी अधिकारी या नेता तो खुद ही व्यवस्था और हाईकमान के दबाव में है, ये क्या दबाव बनाएंगे। हाँ, दबाव बनाने के नाम पर ये आदिवासियों को मूर्ख जरूर बना सकते हैं, बस मेरे कहने का मीनिंग था कि आम पढ़ा—लिखा आदिवासी अगर व्यक्तिगत स्वार्थों व सत्ता समीकरणों में न फंसकर इन जन—आंदोलनों को लीड करें, इनको नई दिशा दें तो क्या आपको नहीं लगता कि सचमुच व्यवस्था पर दबाव भी बन सकता है और आदिवासियों के लिए कुछ बेहतर भी हो सकता है....?'' ''आपको अपने शोध में आदिवासियों की जिम्मेदारी पर भी विचार करना चाहिए था, अब समय आ गया है इन पुराने तर्कों से आदिवासियों के हालात सुधारने की बात अब आप लोंगों को करनी छोड़ देनी चाहिए, इनसे हालात सुधरने होते तो अब तक सुधर नहीं गए होते। आपका काम जन—आंदोलनों की भूमिका को भी विषय बनाता है, इस पर आपको और अधिक सोचना चाहिए था। आपने आदिवासियों की समस्याओं को तो अच्छा पकड़ा है पर जन—आंदोलनों की भूमिका ओर उनकी दिशा को और एनालिसिस करना चाहिए था खैर...., प्रयास अच्छा है। शुरूआत यहीं से हो सकती थी...बधाई आपको।''

वायवा के बाद मनीष गुमसुम—सा रहा। खाना भी नहीं खाया। दोपहर को रूम में करवटें बदलता रहा। शाम को गंगा ढाबा पर चाय के दौरान भी शांत ही बैठा रहा। उसे लग रहा था कि अवार्ड हो चुकी एम०फिल० उसे फिर से लिखने को मिले। पर यह अब संभव नहीं था।

चारू इस रूप में उसे झेल नहीं पा रही थी।

''ज्यादा मत सोचो पर, पीएच–डी० में लंबा टाइम मिलेगा। खूब सोचकर लिखना।''

''नहीं चारू, तुम समझती नहीं हो यार, अगर इसने एम०फिल और अच्छी लिखी होती तो आज शाम तक तो आदिवासियों की सारी समस्याएं खत्म हो गई होतीं। तुम समझती तो हो नहीं!'' रोहन ने मजाक किया। मनीष का ध्यान रोहन और चारू की बातों पर नहीं गया। वह बगल के पत्थर पर दो–चार स्टूडेंट्स कसे घिरे बैठे कवि विद्रोही की कविता पर ध्यान दे रहा था, ''..अब तो दो में से एक होकर रहेगा/या तो धरती से भगवान उखड़ेगा/या आसमान में धान जमेगा...''। मनीष के कानों में कविता की ये पंक्तियां गूंजने लगीं, ''अब तो दो में से एक...''।

साल–भर 'स्विच ऑफ' आने के बाद आज मनीष का मोबाइल नंबर लगा। रोहन को लगा कि आज उसे सफलता मिल ही गई। उधर से जवाब मिला, ''देखिए यहां कोई मनीष नहीं है और मैं किसी मनीष को नहीं जानती हूँ मैं गुड़गांव से ...तो मैं पुलिस में कंप्लेन करूंगी।''

''चारू, तुम बात करो यार....''

''....वी आर सॉरी मैम, बट यह नंबर हमारे दोस्त मनीष के पास रहा है। आप कब से इसे यूज कर रही हैं..?

''देखों मैं बता चुकी हूं कि यह मेरा नंबर है। तीन महीने पहले ही मैंने इसे अपने आई०डी० पर कनॉट प्लेस से लिया है...''

''ओके मैम, वी आर सॉरी अगेन....''

''रोहन यार यह नंबर अब कंपनी ने किसी और को दे दिया है अब भूल जाओ मनीष को। नहीं लौटेगा अब वह गांव से। जमींदारी संभाल ली उसने अपने बाप की और अब तो शादी–वादी भी कर चुका होगा....''

भूरैता गांव में घुसने वाली वह उस दिन की पहली गाड़ी थी। सफेद क्वालिस से जेएनयू के चीफ सिक्योरिटी ऑफिसर जी०एस० पांडा खुद आए थे मनीष को लेकर। एक सुरक्षाकर्मी ने बाड़े में गाय–भैंस को चारा–सानी करती एक औरत से पूछा, ''श्रीमान् रामभजन जी का घर कौन–सा है, जो मनीष के पिता हैं? औरत ने सामने के तीसरे बड़े मकान की ओर इशारा किया। गाड़ी उस दो मंजिले मकान के सामने रुकी। नीली वर्दी पहने सुरक्षाकर्मियों ने मनीष को गाड़ी से निकालकर बाहर पड़ी एक खाट पर डाल दिया।

''रामभजन जी आप हैं?'' ऑफिसर ने बाड़े की ओर से बाल्टी लेकर आते रामभजन से पूछा।''

''हाँ साब, क्या बात है....?''

''हम दिल्ली से आए हैं, मनीष को लेकर...इसे कल ही दंतेवाड़ा पुलिस ने जेएनयू भेजा है यह पिछले तीन साल जेएनयू से गायब रहा और दंतेवाड़ा में नक्सलियों के साथ रहा हैं पुलिस और नक्सलियों की मुठभेड़ में घायल हो गया था। इसकी जेब से जेएनयू का आई० कार्ड मिला था। इसलिए तीन महीने इलाज करवाकर पुलिस ने इसे जेएनयू भेज दिया। इसकी जान बच गई है। मगर हादसे में इसके दोनों पैर और आंखे नहीं रही। शायद कहीं कोई अंदरूनी चोट भी होगी। इसलिए यह बोल नहीं पा रहा है।''

रामभजन ने मनीष को देख वह खड़े–खड़े कांपने लगा। जसोदा बेहोश होकर गिर पड़ी। उसे दो औरतों ने संभाला पड़ोसी इकट्ठे हो गये। शौच को जाने वाले भी पाने के डिब्बे–बोतलें हाथों में लिए रामभजन के घर की ओर दौड़ पड़े। गांव की औरतें भी दही बिलोना छोड़, पशुओं का चारा–पानी अधूरा छोड़ उधर ही चल पड़ी। ''आप इसे संभालिए, यहाँ साइन कीजिए, अब हमें जाना होगा'' जेएनयू का ऑफिसर चारों ओर देखकर बोला। रामभजन ने कांपते हाथों से कागज पर नीचे अँगूठा लगाया। जेएनयू वाली गाड़ी वापस लौट गई। उस दिन पूरे भूरैता गांव में मातम–सा रहा। शाम तक यह बात चारों तरफ के गांवों में फैल गई। अगले दिन राज्य के दोनों प्रमुख अखबारों के स्थानीय पेज 'सवाई माधोपुर' पर यही खबर छपी। 'दैनिक सूर्य' ने लिखा– 'नक्सलवादी मीणा', 'राजपूताना पत्रिका' ने लिखा–'मीणा आईएएस नहीं, नक्सलवादी'। स्थानीय थाने से पुलिस आई। रामभजन से पूछताछ की और मनीष की हरकतों पर नजर रखने को कह गई। बेटे का दु:ख जसोदा नहीं देख सकी और महीने बाद चल बसी। रिश्तेदार आए और रामभजन को ढांढ़स बंधाकर लौट गए। मनीष से बातें करने की कोशिश की पर वह कुछ नहीं बोला। उसके आसपास खाने को रखा जाता तो वह टटोलकर खा लेता। नहीं रखा जाता तो न सही। वह हिलता–डुलता, कसमसाता, पर चिल्लाता बिल्कुल नहीं। धीरे–धीरे वह अधिक कमजोर होता चला गया। रिश्तेदार उसे भूलने लगे। पड़ोस में होने वाले उत्सवों के दौरान बाड़े का दरवाजा कतई नहीं खोला जाता। आज भी सुबह से बाड़े में ताला बंद है। सबके खाना खाने के बाद रामभजन को उसकी याद आई और उसने लौटंती को खाना रखने भेजा। दो दिन के उत्सव के बाद रिश्तेदार लौट गए। रामधारी और उसका परिवार लौट गया। लेकिन लौटंती के अलावा किसी ने मनीष को एक बार भी देखने की जरूरत महसूस नहीं की। वह तो जाना नहीं चाहती थी पर पति के आदेश और उस आदेश के साथ रामभजन की सहमति के चलते वह रूक नहीं सकी। एक बार मनीष के पास बाड़े में आई और गीली आंखों के साथ बाड़े से वापस निकल गई। दो दिन बाद रामभजन ने मनीष के पास रोटियां रखीं। पानी से भरा घड़ा रखा। घड़े को पालसी से ढका और उस पर स्टील का गिलास पानी पीने के लिये रखा। खुद ने खाना खाया और पीपल की छांव में ताश खेलने लगा। तभी डाकिया हीरालाल आया। उसने एक पत्र रामभजन के हाथ में थमाया।

''मुझे क्या देता है, मुझे पढ़ना आता है! घनश्याम ताश रख और पहले इसे देख भाई. ..कहां से आया है?''

''पता नहीं भेजने वाले ने अपना नाम–घर नहीं लिखा है....''

''खोलकर देख...बावले....''

''पता न हीं चल रहा है, पूरा पढ़ देता हूँ...'' घनश्याम ने पत्र पढ़ना शुरू किया।

दंडकारण्य इंद्रावती नदी, बस्तर

शहीद कॉमरेड मनीष के पिता को

लाल सलाम!

रामभजन जी, हम केसकल दलम के साथी बहुत दु:ख के साथ, हमारी पार्टी के आदेश पर आपको सूचित करना चाहते हैं कि आपके पुत्र कॉमरेड मनीष दंतेवाड़ा की दुष्ट,

अत्याचारी, बुर्जुआ वर्ग और घनघोर पूंजीवाद की रक्षक पुलिस के हाथों गिरफ्तार कर मार दिए गए हैं। वे शहीद हो गए है। वह मार्च, २८.२००९, शनिवार की सुबह थी, जब कॉमरेड मनीष अपने बाकी साथियों कॉमरेड शंकर, कॉमरेड गंगाराज, कॉमरेड पिल्लै, कॉमरेड अशोक कोरमि, कॉमरेड भूपति, कॉमरेड रमेश कोरमि, कॉमरेड भूपति, कॉमरेड रमेश धुरवा, कॉमरेड मीरा, कॉमरेड संतोष माड़िया और कॉमरेड ज्योति के साथ इंद्रावती नदी, गांव मुचनार के बगल से दंतेवाड़ा के लिए निकले थे। सभी साथी रसद सामग्री, दवाइयां और शिक्षा संबंधी सामग्री खरीदने गए थे। कॉमरेड मनीष को दिल्ली से आए कुछ मानवाधिकार कार्यकर्ताओं से बात करनी थी। इसलिए वे भी साथ गए। हालाँकि बारसूर व गीदम में नजदीक ही सब सामग्री मिल सकती थी, मगर भारत सरकार की दुष्ट, अत्याचारी सेना सीआरपीएफ के यहाँ दो कैम्प हैं, इसलिए हम इधर जाने से बचते हैं। कॉमरेड मनीष ने दंतेश्वरी देवी के मंदिर के पास मानवाधिकार कार्यकर्ताओं से दो घंटे तक बातचीत की। तब तक बाकी साथियों ने खरीददारी पूरी की। शाम को सभी साथी ज्यों ही दंतेवाड़ा से वापस मुड़े, डाकिनी नदी की पुलिया पर सिविल ड्रेस में हथियारों के साथ टोह में लगी पुलिस ने हमला कर दिया। कॉमरेड मनीष हथियार नहीं चलाते थे। वे सारा समय बच्चों की शिक्षा और आदिवासियों में राजनीतिक सजगता को देते थे। वे अपनी ओर से गोलियों का जवाब नहीं दे सके और पुलिस ने उनके दोनो पैरों में गोली मार दी। हमार साथियों ने जवाब में पाँच–छह राउंड गोलियां चलाई और चार पुलिस वालों को खत्म कर दिया। लेकिन हमारे भी दो साथी कॉमरेड अशोक कोरमि और कॉमरेड ज्योति शहीद हो गए। थोड़ी ही देर में बड़ी संख्या में पुलिस बल वहाँ पहुंच गया। हमारे साथियों को सारा सामान वहीं छोड़कर भागना पड़ा। हमारे सूत्रों ने बताया कि तत्काल शहीद हुए हमारे साथियों की लाशों के साथ ही पुलिस कॉमरेड मनीष को भी अस्पताल तक ले गई थी। यह भी पता चला है कि दिल्ली से आए मानवाधिकार कार्यकर्ता भी अस्पताल पहुंचे थे। इसके बाद कॉमरेड मनीष की कोई खबर नहीं मिली। लंबे इंतजार और छानबीन के बाद हमारी पार्टी को स्वीकार करना पड़ा कि दुष्ट पुलिस ने, जैसा कि उसका इतिहास रहा है, कॉमरेड मनीष को कहीं मार दिया होगा। पार्टी ने कॉमरेड मनीष को श्रद्धांजलि दी और शहीद घोषित किया। आपके पुत्र कॉमरेड मनीष बहुत अच्छे वक्ता, चिंतक और रणनीतिकार थे। उन्होंने हमारे दलम की रणनीतियों में कई अच्छे परिवर्तन किए थे। वे हमसे कम से कम हिंसा की बात करते थे 'सलवा जूडूम' के शिविरों में गए आदिवासियों को वे सरकारी एजेंट नहीं मानते थे। इसे उनकी मजबूरी बताते थे। उन्होंने शिविरों में गए आदिवासियों से संपर्क कर उन्हें समझाया और वापस आने में उनकी सहायता की। पुलिस और सेना द्वारा जला दिए गए गांवों को फिर से आबाद करने के प्रयास वे करते रहे। कॉमरेड मनीष ने तेंदू पता और इमली के गोलों के बदले उचित और तुरंत भुगतान के लिए आंदोलन चलाया। वे गाँव–गाँव घूमकर रात–रात भर आदिवासियों को समझाया करते थे। कॉमरेड मनीष आदिवासियों की संस्कृति के कई अच्छे पहलुओं को बचाने की बात किया करते थे। हालाँकि पार्टी की इस काम के लिए कोई सहमति नहीं थी। वे आदिवासियों को समझाने की कोशिश करते थे कि आदिवासियों के लिए बना है अलग छत्तीसगढ़ प्रांत। सन् २००७ के हमारी पार्टी के पांचवें स्पेशल जोन अधिवेशन में उन्होंने दो सेना, 'जन शिक्षा सेना' और 'जन कला सेना' के गठन का प्रस्ताव रखा, जिसे पार्टी ने स्वीकार

किया था। ये दोनों 'सेना' कहने को तो सेना थीं, पर इनका काम कॉमरेड मनीष के नेतृत्व में आदिवासी बालकों को शिक्षित करना और उनकी कला व संस्कृति को पहचान दिलाना था, ताकि आदिवासियों में स्वाभिमान की भावना घर कर सके। उन्होंने गोंडी भाषा में शिक्षा की शुरूआत की और आगे वे इसकी लिपि पर भी काम करने वाले थे। काश, हम उन्हें बचा पाते....।

उपरोक्त अधिवेशन में ही कॉमरेड मनीष ने प्रस्ताव रखा था कि अत्यंत पिछड़े आदिवासियों की बेहतरी के लिए देश के संपन्न आदिवासियों के संगठनों से भी संवाद कायम करना चाहिए। इस प्रस्ताव पर काफी बहस हुई। क्योंकि पार्टी का मानना था कि ये संगठन निजी स्वार्थों की पूर्ति का काम कर रहे हैं, बाकी आदिवासियों के इस्तेमाल के लिए तत्पर रहते हैं और एक से एक भ्रष्ट और दलाल लोगों के कारनामों के उदाहरण बन गए हैं। पार्टी ने इस प्रस्ताव को आगे के लिए टाल दिया। बस्तर क्षेत्र में हालांकि ग्राम रक्षक दल और सरकारी ग्राम सभाएं काम करती रही हैं। लेकिन अत्याचारी और बुर्जुआ की हितैषी राज्य सरकार ने ग्राम सभाओं के माध्यम से ग्राम रक्षक दलों को सलवा जुडूम के स्वयंसेवक बना डाला। कॉमरेड मनीष ने इन ग्राम सभाओं की बजाय आदिवासियों की 'जनताना सरकार' को मजबूत करने पर जोर दिया। नतीजतन कई सरपंचों और कई छोटे जन–प्रतिनिधियों ने अत्याचारी सरकार की ग्राम–सभाओं के पदों से इस्तीफे देकर 'जनताना सरकार' को स्वीकार किया लेकिन डरी हुई सरकार ने उन जन–प्रतिनिधियों के इस्तीफे स्वीकार नहीं किए। 'जनताना सरकार' आदिवासियों की पुरानी ग्राम्य व्यवस्था का ही नया रूप है। ये संस्थाएं स्त्री सुरक्षा, खेती, पशुपालन, मजदूरी, शिक्षा, चिकित्सा और न्याय संबंधी सभी मामलों को सम्पन्न करवा रही हैं। ये संस्थाएं आदिवासियों को महाजनों, ठेकेदारों, जमींदारों, पुलिस और औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कहर से बचा रही है। कॉमरेड मनीष की इन गतिविधियों ने उनको अत्याचारी पुलिस का दुश्मन बना दिया। पुलिस, कोया कमांडो, कोबरा कमांडो और उनके स्थानीय दलाल (सलवा जुडूम की सूर्या गैंग) कॉमरेड मनीष को टारगेट करने लगे थे। मार्च २८. २००९ की पुलिस कार्रवाई में स्थानीय दलालों की प्रमुख भूमिका रही है। कॉमरेड मनीष हमारे बड़े रणनीतिकार थे, संभव है पुलिस ने इसीलिए तत्काल उनके सिर या सीने में गोली नहीं मारी हो। काश....कॉमरेड मनीष उनके हाथ न लगे होते! कॉमरेड मनीष एक स्वप्नद्रष्टा और पथ–प्रदर्शक थे। हम सभी साथियों को यह स्वीकार करने में कोई हर्ज नहीं है कि अगर ऐसे आदिवासी युवा बाकी पिछड़े आदिवासियों के बीच आकर हमारी ताकत बढ़ाते हैं तो हम जल्दी ही पुलिस, सेना, महाजनों, ठेकेदारों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों के शोषण से इनको हमेशा के लिए छुटकारा दिला सकते हैं। कॉमरेड मनीष ने काम करने के जो तरीकें और प्रस्ताव हमारी पार्टी के सम्मुख रखे हैं भविष्य में हमारी पार्टी उन पर अमल करती रहेगी। ये तरीके, ये रणनीतियां अब हमारी पार्टी की अमूल्य धरोहर हैं। कॉमरेड मनीष हमें बताया करते थे कि वह दिल्ली और राजस्थान में बिना किसी को सूचित किए बस्तर चले आए थे। हमने कई बार उनसे कहा कि वे अपने परिवार को बता दें कि वह यहां है। पर उन्होंने हर बार यही कहा कि उचित समय आने पर सूचित कर दूँगा। आपको अपने बेटे के अभाव में बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा होगा और संभव है आगे भी करना पड़े। हम आपका कष्ट समझ सकते हैं पर आपके बेटे पर संपूर्ण सर्वहारा को गर्व है। वह सर्वहारा का लाल सितारा है। हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत है।

हमारी पार्टी कॉमरेड मनीष मीणा को श्रद्धांजलि अर्पित करती है। लाल सलाम!

यह खून एक महान
शक्ति को जन्म देगा
इस पीड़ा की, भविष्य
वाजिब कीमत चुकाएगा
केसकल दलम के साथी

कमांडर–रागों जी राव तथा कॉमरेड शंकर, कॉमरेड भूरिया, कॉमरेड रमेश धरवा, कॉमरेड गेरी रानी, कॉमरेड भूपति, कॉमरेड मीरा, कॉमरेड संतोष माड़िया आदि।

पुनश्चः हम माफी चाहते हैं। हम सभी स्थानों, तारीखों घटनाओं और रणनीतियों का पत्र में जिक्र नहीं कर सकते हैं।

लाल सलाम!

रामभजन ने घनश्याम का सहारा लिया। दोनों हाथों से कपाल पकड़कर चबूतरे पर बैठ गया। बुदबुदाया, ''मैं अनपढ़ हूं, पर बेवकूफ नहीं....''

''घनश्याम पानी लाना भाई....''

घनश्याम ने मटकी से पीतल का रामझारा भरकर पानी दिया। रामभजन ने थोड़ा पानी पीया और और मुँह धोया। घनश्याम के हाथ से पत्र लिया और अपने घर की ओर चल पड़ा। उसे किसी ने रोका भी नहीं। बाकी लोगों ने ताश खेलना बंद कर दिया और अपने–अपने घरों को चले गए। रामभजन अपने हॉल में जाकर चारपाई पर लेट गया। करवटें बदलने लगा। दिन के तीसरे पहर तक करवटें ही बदलता रहा लेकिन मनीष के पास बाड़े में नहीं गया। सफाई करने वाली भंगिनी को भी चाबी वहीं से फेंककर सौंप दी। देर शाम तक जब रामभजन बाहर नहीं दिखाई दिया तब घनश्याम उसके घर आया, ''कैसे हो काका....?''

''ठीक हूँ भाई...एक काम कर घनश्याम...''

''हाँ, काका बोल....''

''यह लेटर मनीष को भी पढ़कर सुना दे भाई....उसको यह जानकर शायद खुशी हो कि उसके दोस्त उसे मरा समझकर भी कितना याद करते हैं...।'' रामभजन ने लेटर और बाड़े की चाबी सौंपते हुए कहा। घनश्याम बाड़े में गया आहट सुनकर मनीष हिला–डुला।

''मनीष...। ओ...मनीष, किसी दंतेवाड़ा से तेरे दोस्तों का पत्र आया है। मैं पढ़कर सुनाता हूँ, सुन...।'' घनश्याम ने पूरा पत्र पढ़कर मनीष को सुना दिया घनश्याम बाड़े से बाहर आने के लिए मुड़ा....

''कब आया यह पत्र....''

''...अरे!!! काका....ओ...काका, बाड़ा में आ जल्दी...काका, काका, आआ...'' रामभजन दौड़कर बाड़े में पहुंचा।

''काका! मनीष बोलता है। यह बोल सकता है...'' घनश्याम ने रामभजन को खुश होते हुए बताया। रामभजन खुशी से पागल हो गया। उसने वर्षों बाद मनीष को बच्चें की तरह बाँहों में भरकर प्यार किया चूमा। ''काका, तुम दोनों गाँव में किसी को बताना मत कि मैं बोल

सकता हूँ...वादा करों!' घनश्याम और रामभजन ने वादा कर लिया।

आज रात का खाना घनश्याम के घर से आया। घनश्याम ने बढ़िया खीर और पुए बनवाए। वर्षों के बाद रामभजन ने अपने हाथ से कौर मनीष के मुंह में डाला। खाने के बाद आधी रात तक मनीष और रामभजन बातें करते रहें। ''मर–मर कर जीने को मजबूर हैं काका जंगल के लोग। वे भी हमारी तरह आदिवासी हैं लेकिन बहुत गरीब हैं, हमसे कोसों पीछे हैं... जमींदार–बणियो–व्यापारी और ठेकेदार उनको लूट रहे हैं, उनसे बेगारी कराते हैं काका, उनकी लड़कियों को जंगलों में पकड़कर, उनके माँ–बाप को धमकाकर, मारपीट कर उनका बलात्कार करते हैं...काका, पुलिस भी ऐसा ही करती है, बड़ी–बड़ी कंपनी वाले उनकी जमीन छीन रहे हैं और पुलिस प्रशासन कंपनियों का ही साथ दे रहा है। आदिवासी गाँव नहीं छोड़ते हैं तो उनको मारा–पीटा जाता है, गाँवों में आग लगा दी जाती है.... कहाँ जाएं वे? काका वे पढ़े लिखे नहीं हैं, उनकी बोली में उनको पढ़ाते नहीं हैं और स्कूलों में मास्टर कभी जाते ही नहीं। वे शहरों में आएं, कैसे नौकरी करें? आरक्षण का फायदा कैसे लें? वे तो मजदूरी का पैसा भी दूसरों से गिनवाते हैं... .'' कई दिनों बाद खुलकर बोलने के कारण मनीष की साँस फूलने लगी वह खाँसने लगा। रामभजन ने उसके हाथों में पानी का गिलास पकड़ाया।

''पर बेटा उनसे तुझे क्या लेना–देना था, उनकी वे जानें। वे सरपंच, तहसीलदार और थानेदार से जाकर शिकायत करें....''

''...कोई नहीं सुनता है काका उनकी, सरपंच तो वहाँ केवल नाम के हैं, बाकी दूसरे ही सरपंची करते हैं। पुलिस तो उनके मुर्गों और लड़कियों के पीछे पड़ी रहती है। पुलिस को देखकर तो आदिवासी जंगलों में भाग जाते हैं। पुलिस आदिवासियों की नजर में सबसे बड़ी समस्या है। इसलिए वहीं नक्सलवादी आदिवासियों को सहारा देते हैं। उनके लिए घर–बार, बीबी–बच्चों को छोड़कर जंगलों में भटकते रहते हैं, पुलिस, जमींदारों–महाजनों से आर–पार की लड़ाई लड़ते हैं वे आदिवासियों को समझाते हैं, उनको एकजुट कर आंदोलन करते हैं.....'' ''पर बेटा, जब नक्सलवादी उनका भला कर रहे हैं तो फिर वहाँ तेरा क्या काम था..तू क्यों गया..?'' ''काका, वे नक्सलवादी हमारे जैसे ही हैं। उनको भी तो पुलिस मारती रहती है। अगर उनके साथ नए लोग संघर्ष करने नहीं आएंगे तो आगे उनके बाद काम कौन करेगा? अगर अच्छे पढ़े–लिखे लोग अपने ही काम में लगे रहे तो एक दिन नक्सलवादी के नाम पर केवल गुंडे और अपराधी बचेंगे, तब क्या वे गरीबों और आदिवासियों का हित करेंगे, वे तो खुद ही लूटते हैं और काका असल बात यह भी है कि वे आदिवासी हममें से ही हैं, जो पीछे छूट गए हैं। उनको ध्यान में रखकर बनी योजनाओं और आरक्षण का फायदा हम मीणा ही उठा रहे हैं। उनके हिस्से को हम निगल रहें हैं और डकार भी नहीं ले रहे हैं। काका जब उनको इस बात का अहसास होगा तब क्या वे हम में और उनके शोषकों में कोई फर्क करेंगे...? क्या अब हमारी जिम्मेदारी नहीं बनती कि हम उनका हिस्सा दबाना बंद कर कुछ उनके बारे में सोंचे...? काका, कलेक्टर तो मैं बन जाता, पर अब हमें डकार लेनी चाहिए। कलेक्टर बनकर पहले तो उनका रिजर्वेशन का हिस्सा दबाता, फिर सरकार मुझे आदिवासी होने के नाते उनके ही इलाके में काम करने भेज देती। मैं वहाँ कलेक्टर रहकर उन आदिवासियों के दुश्मनों की सेवा करता और जो आदिवासियों के लिए अच्छा काम करते हैं,

उनको ही अशांति फैलाने और नक्सलवादी होने के संदेह के आरोप में जेल में डलवा देता या एनकांउटर करवा देता। उनके लिए आने वाली योजनाओं में कमीशन खाता, कंपनियों को वहाँ स्थापित करवानें के लिए उनके गाँवों में आग लगवाकर खाली करवाता। बदले में कंपनियों से भारी रिश्वत लेता, फिर जयपुर या दिल्ली में कई बड़े मकान बनाता, गाँव में जमीन खरीदकर फॉर्म हाउस बनाता, बड़े–बड़े भात देता, करोड़ों का दहेज लेता, उधार पैसा देकर महाजनी करता, बस...बस यही करता न? मैं यह सब नहीं कर सकता था, इसलिए जंगलों में चला गया। अच्छा होता मेरे सीने में गोली लग जाती, मैं वही मर जाता, फिर चाहे पुलिस मेरी आँखे निकालती या चाहे गुर्दे....'' । ''क्या!! पुलिस ने तुम्हारी आंखें और....''। ''हां काका, पुलिस ने ही मेरी दोनों आँखे और किडनी निकलवा ली। मेरी किडनी तो एक पुलिस अफसर ने लगवा ली, आँखे पता नहीं किसने, मैं वहाँ बोलता तो वे मुझे मार भी सकते थे, पर मैं बिल्कुल बोला नहीं। जान का लालच कर गया, पर अब सोचता हूँ कि मर जाता तो अच्छा था। अब मैं किस काम का हूँ यहाँ। इसीलिए में यहाँ भी नहीं बोलता था, पर इस पत्र के आने से आज अपने को रो नहीं सका।''

''तू बोल बेटा....कौन कहता हैं तू काम का नहीं...और अब मैं भी तेरी लड़ाई में शामिल हूँ । बोल क्या करना है।...''

रामभजन ने रात दो बजे घनश्याम को जगाया।

''घनश्याम, कल सुबह लौटंती को लिवा ला। बोलना तेरे काका ने तुरंत बुलाई है, जै खाना खा री होवे, तो चल्लू यहीं आकर करे....''

''ठीक है काका तड़कै ही चलै जाऊँगा.....''

घनश्याम सुबह लौटंती को लेने उसकी ससुराल चला गया। दोपहर को रामभजन ने तीन साल से भरी पड़ी सरसों बेच दी। कुल छह लाख की हुई। दोपहर बाद लौटंती आ गई। साथ में दामाद भी था। उसी शाम रामभजन ने लौटंती को चार लाख रूपये दिए और उसकी ससुराल वापस भेज दिया । अगले दिन रामभजन ने अपने हिस्से की बीस बीघे जमीन स्कूल व अस्पताल के लिए पंचायत को दान कर दी। तीस बीघे जमीन बड़े सार्वजनिक तालाब के लिए दान कर दी। गांव वालों को आश्चर्य हो रहा था कि कल तक तो रामधारी और रामभजन खोज–खोजकर जमींने खरीदते थे और आज यह क्या हो रहा है। किसी ने फोन कर रामधारी को इसकी सूचना दे दी। दीनदयाल मास्टर के मोबाइल पर रामधारी का फोन आया। रामभजन से बात की। रामभजन ने बता दिया कि वह केवल अपनी जमीन दे रहा है। उसके हिस्से की जमीनों को कागजात उसी रिश्तेदार के पास सुरक्षित है। शाम को रामभजन ने लल्लू की मार्शल जीप गंगापुर के लिए किराये पर तय की। जीप रात नौ बजे रामभजन के घर पहुंची। रामभजन ने घर के सभी कमरों को ताले जड़े, पानी की दो बोतलें भरीं, एक कपड़ों का थैला उठाया और तैयार हो बाड़े में मनीष के पास आया।

''कामरेड, सारी तैयारी हो गई, चलो निकलते हैं.....''

रामभजन ने मनीष को उठाया और जीप की बीच वाली सीट पर उसे लिटा दिया।

''चलो लल्लू, स्टेशन छोड़ दो, रात ग्यारह बजे रायपुर एक्प्रेस पकड़नी है...''

(यह कहानी कथाकार की सहमति से हंस, सितंबर २०११ की फाइल से साभार ली गयी है ।)

कहानी

साली

***अश्विनी कुमार पंकज**

बीगल उरांव झंडा वाला पाटी का नेता है। गांव–देहात में उसकी बात सब लोग सुनते हैं। चाहे लाल काड की बात हो या विधवा पेंसन की, वही ब्लोक जा कर सबकी समस्याओं को निपटाता है। बिडियो से बढ़िया जान–पहचान है। पिछले साल जब गांव की पुलिया का उद्घाटन करने मंत्री जी आये थे, तो उसी के घर में चाह–पानी का इंतजाम किया गया था। है तो बहुते कम उमिर का छोंड़ा, लेकिन गजब का मगज रखता है। बुधनी बता रही थी कि अफसर लोग भी उससे हड़कते हैं। कहां तो दो साल पहले तक नौकरी के लिए रांची–दिल्ली–पंजाब की ठोकरें खाता फिर रहा था और अब देखो, तो साहब बन कर हीरो–होण्डा से दनदनाता फिरता है।'

'आखिर तुम कहना क्या चाह रही हो?' सालो ने सवाल किया।

'बस वही एक है जो हमारी मदद कर सकता है।' मार्था ने कहना जारी रखा। 'इतना भी नहीं समझ पा रही हो, बोलो?'

सालो से कुछ कहते नहीं बना। बस अवाक् मां के चेहरे को देखती रही।

'ऐसे क्या देख रही हो? मैंने कुछ गलत कह दिया क्या? अब जो किया है, उसे तो भुगतना ही पड़ेगा न! एक हफ्ता का समय बचा है। कहां से लायेंगे चालीस हजार।' मार्था के चेहरे पर बेबसी छलछलाने लगी। गला भी रूंध गया था शायद।

मां का रुंआसा चेहरा देखकर सालो बिखर गयी। उससे लिपट कर वह भी रोने लगी।

बेटी के चेहरे को हाथों में थाम कर मार्था ने धीमे से कहा – 'सुनो, जब तक मामला निपट नहीं जाता, दीपक को सम्हालना। उसका मिजाज थोड़ा तेज है। लेकिन यह गांव–समाज की बात है। वह कुछ नहीं कर पायेगा।'

सालो ने अपने आपको सहेजते हुए हां में जवाब दिया।

मां सुबह–सुबह ही बीगल से मिलने चली गयी थी। सालो जानती है कि बीगल कोई मदद नहीं करने वाला। वह भी एक नम्बर का दलाल है। उसमें और समाज के पंचों में कोई फर्क नहीं है। सभी अपना उल्लू सीाा करने में लगे हैं। लेकिन वह मां को कैसे समझाये। मां को ही क्या वह किसी को भी नहीं समझा सकती।

मां दोपहर के बाद लौटी। निराशा और थकान से पिटी–पिटी।

सालो समझ गयी। उसे तो पहले से ही अंदाज था। बीगल क्या कहेगा। चुपचाप उसने मां के सामने लोटे में पानी ला कर रख दिया।

'थक गयी हो ... खाना ले आती हूँ ... फिर आराम करना।'

'तुमने खा लिया?' मां ने पूछा।

'हाँ।'

मार्था खाने लगी।

*संपादक, जोहार सहिया, 203, एम.जी. टॉवर, पूर्वी जेल रोड, रांची–834001, संपर्क : 09234301671

'क्या कहा बीगल ने?' चुप्पी अखरने लगी, तो सालो ने पूछ ही लिया।

'सब एक जैसे हैं। मेरी ही मति मारी गयी थी जो ....।'

'ऐसा मत बोलो। कोई जब हमारी सुनने को ही तैयार नहीं तो फिर तुम्हारा क्या कसूर।' सालो ने मां को हिम्मत देने की कोशिश की।

'जब तुमने ही नहीं सुना, तो दूसरे की क्या कहूँ।' हाथ धोते हुए मार्था ने गहरी सांस ली। 'न तुम दीपक से शादी करती और न हमें यह दिन देखना पड़ता। कितना समझाया था। वह घासी है और हम लोग उरांव। समाज नहीं मानेगा। मानेगा भी, तो भारी जुर्माना लगायेगा। और हमलोग जुर्माना नहीं चुका सकते। पर तुमने नहीं सुना। सुना क्या?'

मार्था पटिया पर लेट कर सुस्ताने लगी। दु:ख और गुस्से से लथपथ।

सालो उसके पांव दबाने लगी। मार्था ने पांव झटक कर मना कर दिया। सालो को लगा जैसे मां भी उसे बहिष्कृत कर रही हो। उसे रुलाई आ गयी।

'अब क्यों रोती हो। रोने से कुछ नहीं होगा। जुर्माना तो भरना ही होगा। नहीं तो वे लोग दीपक को ...।' मार्था इसके आगे नहीं बोल पायी।

सालो की रुलाई और तेज हो गई। उसे अच्छी तरह से पता है कि अगर समाज के पड़हा–पंचों को जुर्माना नहीं दिया गया, तो वे लोग किस हद तक जा सकते हैं। यह तो अच्छा हुआ कि समय रहते मां ने दीपक को उसकी बुआ के यहां भेज दिया था।

'अच्छा बोल तो, पड़हा का जोर खाली हमीं लोग पर चलता है?'

'क्यों?' मार्था को कुछ समझ नहीं आया।

'ऊ मंत्री भी तो हमीं लोगों के जात का है। उसकी बेटी जब रांची में दूसरा जात का लड़का से शादी की थी, तो ये लोग क्यों नहीं उस पर जुर्माना लगाया?'

'पइसावाला लोग समाज–कानून से ऊपरे होता है रे। उनको कौन बोलेगा। उलटे यही लोग उसका तलवा चाटेंगे। दबे हुए को ही सभे दबाता है।'

सालो इसके बाद और कुछ नहीं बोली। मार्था भी खामोश रही। थोड़ी ही देर में थकान की मार ने उसे नींद की आगोश में ढकेल दिया।

सालो घंटों बैठी रही। बुत बनी हुई। जाने क्या–क्या सोचती।

दूसरे दिन गांव का महाजन उनके घर आया।

'कहां हो सालो माय?'

आ कर आंगन में पड़ी खाट पर बैठ गया।

'अरे कुछ सोच भी रही हो या दीपक की बलि देनी है?'

महाजन की बोली–भाखा सुन कर सालो के तन–बदन में आग–सी लग गई। लगा मुंहझौंसे का मुंह नोच ले।

'चालीस हजार रुपिया बहुत होता है सावजी।' मां ने अपनी लाचारी दोहरायी।

'अरे तो हम किसलिए हैं। कह तो भला! अरे सालो माय, दुखे के बेरा में तो गांव–घर का अदमी काम में आता है। और हम तो .... तुम जानती हो। आज तक किसी को मना किये हैं? कह तो भला!'

मार्था और सालो दोनों महाजन की नीयत को खूब जानते हैं। एकदम जोंक है। पता भी नहीं चलेगा और देह का सारा खून सोख कर मार डालेगा। शायद ही इस गांव समेत आसपास के गांवों का भी कोई परिवार उसके कर्ज से बचा हो।

'आप ही लोग तो सहारा हैं।' मां टालने के ख्याल से कहती है।

'अगर तुम बोलो, तो मैं दे सकता हूं चालीस हजार।' महाजन ने सीृ–सीृ बात कह दी। 'और हां सालो माय, सूदो नहीं देना पड़ेगा।'

मां–बेटी दोनों का मुंह 'भक्क' से खुला रह गया। जाने अब कौन सी चाल चल रहा है यह महाजन।

दोनों को चुप देख कर महाजन ठहाका मार कर हंस पड़ा। 'अरे भकुवा गयी क्या? अरे बाबा महाजन हूं। कोई खैरातीलाल नहीं, जो फिरिए में चालीस हजार देने चला आया।'

'तो ...?' मार्था ने जानना चाहा।

'अरे पागल! दीपक का जो एक बिगहा खेत है न ... बस उसे बेच दो। कहो तो अभी का अभी गिन दूं चालीस हजार।' अपने थैले से महाजन ने सौ–सौ की गड्डी निकाल कर उसके सामने रख दी।

मां–बेटी दोनों ने एक–दूसरे को देखा। तो यह बात है। महाजन की नजर दीपक की जमीन पर है। उस जमीन पर, जिसकी बगल से बाइपास सड़क बनने वाली है। सरकार ने जब से बाइपास बनाने की घोषणा की है, महाजन ही क्या, कई भूमि दलाल उस जमीन के लिए दीपक से संपर्क कर चुके हैं। लेकिन उसने सबको मना कर दिया। पुरखों की वही एक जमीन तो बची है उसके पास।

'मैं कौन होती हूं उसकी जमीन बेचने वाली।' मार्था के जबड़े भींच गये। 'जिसकी जमीन है वही जाने।'

'ऐसा क्यों कहती हो सालो माय। कह तो भला! अरे, अब तो वह तुम्हारा दामाद है। कहते हैं, जान है तो जहान है।' महाजन ने हार नहीं मानी। 'पड़हा की बैठक पांच दिन बाद है। कहां से लाओगी चालीस हजार?'

मार्था ने कोई जवाब नहीं दिया।

महाजन ने रुपये उठा लिये। चलते–चलते बोला, 'सालो माय। अच्छी तरह से सोच लेना। उस जमीन की इतनी कीमत कोई नहीं देगा। मैं तो तुमलोगों की मदद करना चाहता हूं। आखिर गांव–घर का हूं।'

महाजन के जाने के बाद मार्था ने बेटी से कहा, 'समझी कुछ? पड़हा–पंच महाजन के साथ मिल गये हैं। इसीलिए उन लोगों ने इतना भारी जुर्माना लगाया है। बाबा रे! इतनी–सी बात मैं पहले क्यों नहीं समझ पायी।'

'हां। दीपक की जमीन हथियाने के लिए हमारी शादी को उन्होंने हथियार बनाया है। महाजन चालाक है। पड़हा पंचों को उसी ने हमारे खिलाफ उकसाया होगा। और अब बड़ा मददगार बन रहा है।'

'नहीं रे। पड़हा–पंच वाले तो ऐसे मामले में हमेशा इसी तरह से जुर्माना लगाते हैं।

पुरखा–परिया से ही यह सामाजिक नियम–कानून चलता आ रहा है।'

'सो तो ठीक माय। लेकिन सोचो तो आज तक पड़हा ने किसी पर इतना बड़ा जुर्माना लगाया? नहीं न? पड़हा–पंचों को तो बस हड़िया–दारू और खस्सी मिल जाय। इतना बड़ा जुर्माना...? सब महाजन का ही किया धरा है।'

मार्था की चिंता गहरा गयी। पड़हा–पंच की सामाजिक ताकत के सामने वह नहीं टिक सकती। उरांव आदिवासी समाज की अपनी पंचायत व्यवस्था बहुत मजबूत है। समुदाय के सामाजिक मामलों में उसके पैफसलों को कोई चुनौती नहीं दे सकता। उसे मानना ही होता है।

काफी सोच–विचार के बाद उसने सालो से कहा, 'सुन, तुम दोनों गांव छोड़ दो। कहीं बाहर चले जाओ। दिल्ली–पंजाब कहीं भी। इससे दीपक को भी कुछ नहीं होगा और जमीन भी बच जाएगी।'

'नहीं, मैं तुम्हें अकेली छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी।'

'और कोई रास्ता नहीं है। मेरी बात मान ले।'

'नहीं माय। हमने शादी की है। कोई गलत काम नहीं किया है। पड़हा–पंच ज्यादती कर रहे हैं। तुम क्या सोचती हो हम दोनों के चले जाने से वे जुर्माना के लिए तुम्हें तंग नहीं करेंगे?'

'हां ... नहीं करेंगे।'

'फिर भी हम कहीं नहीं जायेंगे। यहीं रहेंगे।'

'बस ... यही तो दिक्कत है तुम्हारे साथ। सुनोगी ही नहीं।'

'अच्छा, ठीक है आज रात में दीपक आयेगा। उससे बात करूंगी।' सालो ने मां के आगे हथियार डाल दिया। मां ठीक ही कहती है।

रात को दीपक आया, तो उसने कहा, 'मां कह रही है हमलोग गांव छोड़कर चले जाएं।'

'तुम क्या सोचती हो?' दीपक ने पूछा।

'मैंने तो मना किया। लेकिन सवाल चालीस हजार जुर्माने का है। कल महाजन आया था। बाइपास वाली जमीन खरीदने की बात कर रहा था।'

'हूं ... सब की नजर उसी जमीन पर है। पड़हा–पंच महाजन के लिए दलाली कर रहे हैं।'

'मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। पुलिस में रिपोर्ट करने से भी कोई फायदा नहीं होने वाला।'

'हां, पुलिस–थाना, पंच–महाजन सभी आपस में मिले हुए हैं। कोई मदद नहीं करेगा।'

'तो, फिर मां ठीक ही कहती है।'

'हमलोग गांव छोड़ दें?'

'हां .... जमीन बेचना तो ठीक नहीं होगा।'

'नहीं, हमलोग यहीं रहेंगे।'

'तुम्हारी जान को खतरा है। महाजन का हांड़ी–दारू पी लेने के बाद पंचों को न्याय–अन्याय कुछ नहीं सूझता।' सालो दीपक की छाती से चिपटती हुई बोली। दीपक ने उसे अपने भीतर ... और भीतर समेट लिया।

इसके ठीक तीसरे दिन जब दोपहर अलसायी हुई थी। पेड़–पौं सुबह से खड़े–खड़े थक चुके थे और निढाल पड़े थे। मार्था और सालो, दोनों मां–बेटी एक दिन बाद होने वाले पड़हा बैठक के बारे में सोच–सोच कर पस्त हो रही थीं। ठीक उसी वक्त कोई जोर–जोर से उनका दरवाजा पीटने लगा। घबरा कर दोनों ने दरवाजे की ओर देखा। मां–बेटी दोनों का ही दिल किसी अनजानी आशंका से धड़क उठा।

मार्था ने आखिरकार दरवाजा खोला। रतनी थी। एकदम बदहवास। बोली, 'पड़हावाला दीपक को पकड़ लिया है। साइंत सुबहे–सुबह। बहुते मारा है। गांव का अखड़ा में सब पंच लोग जुटे हैं। वहीं दीपक को ले गये हैं सब।' एक ही सांस में रतनी जितना बोल सकती थी बोल गयी।

इतना सुनते ही मार्था की चीख निकल गयी। दिमाग सुन्न हो गया। वह दरवाजे पर ही अचेत हो कर गिर पड़ी। सालो और रतनी दोनों मिल कर उसे आंगन में पड़ी चटाई पर ले आये। इस बीच सालो खुद को बड़ी मुश्किल से सम्हाले रही। उसका दिल नगाड़े की तरह जोर–जोर से बज रहा था।

मां को चटाई पर लिटाने के बाद उसने आंचल को कमर में मजबूती से बांधा। टांगी उठायी। रतनी से मां का ख्याल रखने को कहा और खुद अखड़ा की ओर दौड़ पड़ी।

अखड़ा में पूरा गांव उमड़ा हुआ था। पड़हा की बैठकों में औरतों के आने की मनाही है। इसलिए वहां सिर्फ पुरुषों का ही जमावड़ा था। मार से पस्त दीपक जमीन पर बेजान बैठा था। उसके कपड़े फट गये थे और देह धूल–मिट्टी से सनी थी। नाक और मुंह के आसपास खून जम कर काला पड़ गया था। महाजन पंच लोगों के साथ बैठा जाने क्या खुसरपुसर कर रहा था। अखड़ा में जितने मुंह, उससे ज्यादा बातें।

जब टांगी उठाये सालो अखड़ा में पहुंची, उस वक्त पंच पैफसला सुनाने की तैयारी में थे। पड़हा पंचों के अनुसार दीपक उरांव समाज का अपराधी था, क्योंकि उसने एक उरांव लड़की को न सिर्फ प्यार के जाल में फांसा था, बल्कि उसके साथ यौन संबंध भी कायम किया था। पंचों ने कहा कि सालो और उसके बीच अनैतिक तथा अवैध संबंध है, जिसके लिए उसे सजा मिलनी ही चाहिए। वह इसलिए भी उरांव समाज का अपराधी है, क्योंकि सालो के घरवाले पड़हा द्वारा निर्धारित जुर्माना चुकाने के लिए तैयार नहीं हैं।

लेकिन सालो के अखड़ा में पहुंचते ही मानो जैसे सब को सांप सूंघ गया। भीड़ एक–दूसरे से नजरें चुराने लगी। उसके इस तरह से आ जाने से पंच भौंचक्क थे। ऐसा आज से पहले कभी नहीं हुआ।

भीड़ को फाड़ती हुई सालो अंदर घुस आई। उसने बेजान दीपक को सहारा दे कर उठाया और उसे ले कर अखड़ा से बाहर निकलने लगी।

महाजन पंचों के कान में फुसफुसाया, 'अरे क्या नामर्दों जैसे चुपचाप तमाशा देख रहे हो। रोको उसे, नहीं तो सारा खेल बिगड़ जाएगा। एक लड़की तुम सब के मुंह पर कालिख पोत कर

जा रही है। सोचो, आज के बाद पड़हा–पंचायत की क्या औकात रह जायेगी। कौन पूछेगा तुम पंचों को?'

पड़हा–पंच मानो नींद से जागे। ठीक कहता है महाजन। अगर वह इस तरह से दीपक को ले गयी, तो कौन डरेगा पड़हा–पंचायत से? कैसे बचेगा उरांव आदिवासी समाज?

'रुक जा सालो। तुम उसे नहीं ले जा सकती। वह समाज का अपराधी है।' एक पंच उठ कर जोर से गरजा।

अब भीड़ की भी आवाज वापस आ गयी। माहौल फिर से शोरगुल के हवाले था।

सालो पर पंच की आवाज का कोई असर नहीं हुआ। वह आगे बढ़ती रही।

अचानक एक नौजवान ने उसका रास्ता रोक लिया। 'तुम्हारा और इसका संबंध अवैध है। समाज ने पैफसला सुना दिया है। इसे सजा भुगतनी ही होगी।'

टांगी वाले हाथ से ही सालो ने उसे जोर से धक्का दे दिया। जाने कहां से उसके भीतर ताकत आ गयी थी। उसे डर बिल्कुल नहीं लग रहा था।

'उसे रोको।' तुरंत एक दूसरा पंच चिल्लाया। 'इस पागल लड़की को बाहर करो यहां से। क्या तुमलोगों को नहीं पता – पड़हा की बैठकों में औरतों के आने पर पाबंदी है?'

भीड़ से आवाज आयी – 'हां–हां, इसे बाहर करो। कोई औरत पड़हा की बैठक में दखल नहीं दे सकती।'

सालो के पांव थम गये। उसने दीपक का हाथ अपने कंधे से हटाया और तेजी से पंचों की ओर बढ़ी।

'कौन रोकेगा मुझे?' सालो ने पंचों के आगे टांगी लहरायी। 'तुम ...?... तुम ?' फिर भीड़ से मुखातिब हो कर बोली, '... या फिर तुमलोग? बोलो...? कौन रोकेगा?'

उसके आक्रामक तेवर देखकर लोग सहम गये। पंचों के साथ–साथ समूची भीड़ की बोलती बंद।

'पड़हा–पंचायत के पैफसले में तुम्हारा टांग अड़ाना ठीक नहीं है।' खेल बिगड़ता देख महाजन चट से बोल पड़ा।

'और तुम्हारा अड़ाना ठीक है। बोलो? तुम तो हमारे समाज के भी नहीं हो। क्यों पंचों? यह महाजन हमारे समाज की बैठकी में क्यों है? जवाब दो?'

पंचों के सर झुक गये। महाजन कमजोर पड़ गया।

'कुसुम भी तो उरांव समाज की ही है। पिछले चार सालों से यह महाजन उसके साथ क्या कर रहा है? क्या महाजन और कुसुम का संबंध वैध है?' सालो ने तुरंत चोट की। 'बोलो पंचों?... क्यों महाजन .. बुलाऊं कुसुम को? अरे दीपक ने तो मुझे अपनी पत्नी बनाया है। जवाब दो?'

भीड़, महाजन और पंचों के पास इसका कोई जवाब नहीं था। चुप्पी और गहरा गयी।

सालो ने घृणा से सबको देखा। झुके हुए सर और झुक गये।

'अगर पड़हा–पंचायत और गांव–समाज को हमारी इतनी ही चिंता है, तो क्यों नहीं उस ठेकेदार को सजा दी, जिसने छह महीने पहले ही कठर टोली की लड़की से बलात्कार किया था। या फिर उस जुएल को क्यों छोड़ दिया, जो अब तक नौकरी दिलाने के नाम पर कई आदिवासी

लड़कियों को दिल्ली में बेच चुका है? पुरखों ने क्या इसीलिए पड़हा–पंचायत की व्यवस्था बनायी थी कि समाज अपने ही कमजोर लोगों को और दबाये? या फिर इसलिए कि समाज को सताने और लूटने वालों से हम सभी बच सकें?

इस अंतिम वार के बाद उसने दीपक को अपने साथ लिया और अखड़ा से बाहर निकल पड़ी। किसी को उसे रोकने की हिम्मत नहीं हुई।

कहानी

जंगल में सड़क

*लक्ष्मण प्रसाद

''चलते चलो, बस एक टप्पा अउर नुनु। एकदम नूर के दम पहुँच जाय के चाही।'' फिर कुछ ठहर कर, ''मिलेगा हो,. . . पूड़ी,–जिलेबी अउर आलू–बैगन की तरकारी भी। भर–भर दोना। घबड़ाओ मत।'' पिताजी की ललकार सुनकर तिलका ने चाल बढ़ा दी। पैर तो दनादन उठ रहे थे। भिनसारे जागना पड़ा था ; नहीं तो वह धूप आने तक सोया रहता है। बस, पुआल में घुड़की मार, हाथ–पाँव समेटे। भाभी या दीदी ऊपर से गेनरी धर देती है। कभी सबेरे जाग जाय तो दलदल काँपते पहाड़ के पूरब तरफ चौसर पत्थर पर बैठकर धूप खाता। वहाँ पर गाँव के और भी लड़के–बच्चे से लेकर बड़े–बूढ़े धूप सेंकते रहते हैं। नीचे खेत और कुछ ऊपर में चौड़ी–सी परती जगह। उसके ऊपर पहाड़ की फुनगी। बाल–बच्चों को खेलते देखिए तो ऐसा लगेगा मानो पहाड़ बच्चों को अपनी गोद में लेकर दुलार रहा हो। सबसे पहले धूप इसी जगह आती है। जाड़े में कहना ही क्या, भिनसारे से जमघट। तनिक धूप लगी नहीं कि बच्चों का खेल–तमाशा शुरू। जैसे तिलका कितने साल पीछे चला गया। वह उसी जगह पर खेल रहा है, जाड़ा के कारण काँप रहा है और लोग हैं कि उसे ही लेकर आपस में बतिया रहे हैं। याद आने लगीं, लोग–वाग की बातें, बातों का स्वाद और फिर घर जाकर कहने लगा, ''दो–दो गो देस कमायें और तब भी घर में बच्चा खातिर एक चादर तक नहीं।'' इस पर भाभी हँस कर काट देती, ''इस बार आते ही किनवा दूंगी।''

चादर की खातिर वह कई बार रूठ जाता। गोरूओं को बँधा का बँधा ही छोड़ देता। तब उस दिन चराने के लिए दीदी जाती और सुबह से शाम तक जंगल में चराती रह जाती। खाने के लिए साथ में ही लेती जाती। शाम को घर आने पर कहती, ''देख, कइसा भर पेट चराकर लायी हूँ, भर–भर कोंखा। अइसा कभी चराए हो ?'' तिलका मुँह फुलाकर चउल मारता, ''हाँ, हाँ, तुम तो घास गढ़कर खिलाती हो न ! जैसे मैं तो बस, घुमाता ही चलता हूँ ! एक दिन गोरूएँ चराने निकली तो इतनी बड़ाई। रोज चराओ, तब न बुझा जाय।''

''रोज चराने में क्या है ? तुम घर में काम करो, मैं चराऊँगी।''

''हूं :, घर का काम ! ननद–भौजाय दो–दो मिलकर काम करती हो अउर इतनी लम्बी . . . । मैं तो अकेले ही गोरूएँ चराता हूँ अउर साँझ को पत्ता भी लेकर आता हूँ, रात में खिलाने के लिए। तुम लायी हो ?'' बात यह है कि पूरे गाँव का जानवर एक ही साथ चरते हैं। तिलका को खेलने के लिए समय भी मिल जाता था। झुंड की निगरानी के लिए बारी–बारी का हिसाब तय कर लिया जाता। फिर गोरखिया सब गुल्ली–डंडा, फेदा–फेदी और कभी हाथी–घोड़ा का खेल खेलते।

तिलका बाउ के साथ रपेटता हुआ जा रहा था, एकदम खेत–खलिहाने। इसलिए कभी सोता, तो कभी झाड़–झंखार और कभी पहाड़ी पर भी चढ़ना पड़ता। कार्तिक महिना रहने के कारण घुटना तक ओस से भींग गया था। आसमान में अब लाली फैलने लगी थी। जंगल के निशिचर जानवर किनारा पकड़ चुके थे। वस, सियार, वनबिलाड़ या खिखिर फलांगते हुए इधर–उधर भाग रहे थे। सियार या वनबिलाड़ रास्ता काटा नहीं कि पिताजी थुकथुका कर आगे बढ़ते और बदबुदाने लगते, ''या जंगलिया माय, तनि सहाय रहियो। एक बच्चा भी साथ है। आते ही चढ़ावा चढ़ाऊँगा।''

*हिन्दी विभाग, जमशेदपुर को–ऑपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर, संपर्क : 09661504673

पहाड़ की ऊँची जगह पर चढ़कर तिलका ने पीछे निहारा। जंगल के ऊँचे–ऊँचे पेड़ों में डूबा गाँव दिखाई नहीं पड़ा। उसे लगने लगा मानो गाँव छूटता जा रहा है। वह गाँव से बहुत दूर निकल गया है। मन के कोने में गाँव इस तरह से प्रवेश कर चुका है कि उससे दूर होते ही उसके मन में मरोड़ उठने लगी, भूचाल समाने लगा। पैर आगे बढ़ रहे हैं और मन पीछे खिंचता जा रहा है। इधर का गाँव भी ऐसा है कि थोड़ी–सी दूर निकल जाने पर एकदम इड़ोत। बचपन में वह गोरूओं को जंगल ले जाता तो गाँव खो जाता। लेकिन इतना दुखी नहीं होता था। घर लौटने का भरोसा उसमें हिम्मत भरता। भरोसा आदमी के लिए सब से साहसी साथी होता है। जिस दिन भरोसा टूट जाता है उस दिन से जिंदगी भार की तरह हो जाती है। जिंदगी और भरोसा मानो ईंट और गारा हों। एक–एक उम्मीद, एक–एक दिन भरोसा के गारा से जुड़ता जाता है और सब जोड़कर आदमी जीवन रूपी महल खड़ा कर लेता है। उसे याद है, एक दिन देर साँझ को घर पहुँचा था। उस दिन तो गाएँ ही आड़े–तिरछे और सीधे होकर आगे–आगे चलीं। उन सब के पीछे तिलका। उसी दिन उसे समझ में आया कि घर और रास्ता के संबंध में आदमी से अधिक जानवर का ज्ञान पक्का होता है। जानवर अपना रास्ता नहीं भूलता, आदमी भले ही भूल जाय। उस दिन उसे स्वयं से ही अधिक उस पर ही भरोसा हो गया था। हिम्मत बढ़ गई थी और गाय चराने के लिए दूर–दूर तक निकल जाता। लेकिन एक दिन उसने भाभी से कहा, ''मैं गाय नहीं चराऊँगा। अपने बाप–बेटा परदेश कमाने चले गए और गोरूएँ हमारे ऊपर।''

''एक दिन आप भी . . . ।'' भाभी ने हँसी की थी।

उस दिन की बात याद आते ही उसे लगा कि भाभी सच्च में आगरों (भविष्य) जानती थीं। पहले पिताजी परदेश कमाने जाते थे। भैया, दीदी, माँ और वह घर पर रहता। वनछिल्ली में कुछ खेत हैं। धान के रोपा में पिताजी आते और सोहराय के बाद चले जाते। इतने दिनों में नानीघर, फूआ दीदी घर . . . न मालूम कितनी जगहों पर घूम आते थे। उसे यह बात बाद में समझ आयी कि वे रिश्तेदारी करने नहीं, बल्कि परदेश कमाने लिए आदमी की तलाश में जाते हैं। परदेश जाते समय गाँव–जेवार, हित–कुटुम्ब के कई लोग शामिल हो जाते। बाप रे, बाप ! पूरी एक झुंड। जत्था का जत्था।

पिताजी परदेश और सभी बाल–बच्चे घर में। दो दुधारू गायें थीं। दूध शहर पहुँचानेवाला सुबह में नपा लेता था। महिना पूरा होने पर पैसा हाथ पर। गर्मी के दिनों में बीड़ी का पत्ता तोड़ता। वैसे सब मिलकर लकड़ी चुनता। मोटगर–मोटगर लकड़ियाँ काट नहीं पाता। इसलिए झाड़ी–झूरी चून लिया करता। उसी से चून–बिछ कर माँ कभी हाट पहुँचा देती। रविवार के रविवार हाट लगती। गाँव से तनिक दूर पर हाट है। एकाध बार तो तिलका भी हाट गया था।

मिसमांमिस आदमी। मुर्गे की लड़ाई, जूआ। सामान बेचनेवालों की कतारें। कपड़ा—लत्ता से लेकर खाने—पीने के सारे सामान। 'कच्ची—पक्की' सब कुछ। माँ हाट से तरकारी की खातिर आलू, कभी बैगन, नमक, तेल, मिरचा के साथ—साथ मीठी चीज भी ले आती। हल्दी तो उपजती ही है। कभी—कभी सालन भी आता, तो मानो त्योहार ही आ गया।

हिसाब जोड़ने में माँ एकदम से भोथर। वह क्या, उस दिन फूफा के मार्फत पिताजी रुपए भेजे थे। महाजन आया और तीन—तेरह करके सब हथिया ले गया। महाजनों को जैसे भविष्यवाणी लग जाती है। किसके यहाँ पैसा आया, किसके यहाँ नहीं आया या किसके यहाँ कब आएगा, जैसे कि तार लगा हो। कितना नाखरुस होता है महाजन। तनिक भी दया—माया नहीं। डरा—धमका कर पैसा वसूलता है। गाली—ग्लौज तो मानो उसकी बपौती है। पता नहीं कि पैसा हाथ से छीन ले। देते समय तो फुसलाता है और फिर तो हुंड़ार—सियार हो जाता है। घर—आँगन निहारेगा। बेटी—बहू पर नजर गड़ाएगा। हिसाब—किताब में जीवित गाय निगल जाने के लिए तत्पर। केवल तिलका—घर की बात नहीं, यह तो लगभग पूरी बस्ती की बात है। सब का सब इसी तरह लंगो—तंगो। परदेश की कमाई महाजन के हाथ या बचा—खुचा जलसा—जुलूस में . . . । कुछ बच भी जाय तो वर—बीमारी लगी ही रहती है। यहाँ हाथियाँ भी उत्पाती हो गये हैं। बड़े लोग जंगल उजाड़ रहे हैं और जंगली जानवरों का गुस्सा दीन—दुखियों पर। सच ही कहा गया है सबल सहायक सबल के . . . । तिलका ने किसी के मुँह से ऐसा ही सुना है।

जब जंगल में सड़क बनने लगी तो देह पर तनिक रोगन चढ़ा। सब औरत—मरद यहाँ तक कि छोटे—छोटे बाल—बच्चों से लेकर अधेड़ तक को काम मिल गया था। सड़क बनानेवाला ठेकेदार और उसके आदमी मजदूर खोजने के लिए गाँव—गाँव दौड़ते। उसी दिन से भैया भी माँ के साथ काम करने लगे। तिलका और उसकी दीदी भी। लेकिन इन दोनों की गिनती एक ही होती। जंगल का का अपना हिसाब होता है। दो अल्पवयस्क मिलाकर एक। लोगों के हौसले बुलंद हुए, मन में मालपूए पकने लगे। घर के नजदीक ही काम जो मिल गया था, वह भी पूरे परिवार के लिए। आने—जाने के लिए सड़क फाव में। शहर एकदम नजदीक हो जाएगा। गाड़ी चढ़ो और कुछ ही देर में शहरी।

कुछ दिनों के बाद मिट्टी उलटने वाली मशीन आ गई। आदमी के हाथ पर हमला। मशीन के आगे आदमी का क्या मोल ! लेकिन पहले तो आदमी ने ही जंगल में रास्ता बनाया। मिट्टी काटी और सड़क का रूप दिया। आसपास के ग्रामीण नेताओं ने पहले तो मशीन का विरोध किया, कई दिनों तक काम भी बंद रहा। कभी—कभी तो रात में धमाका भी हुआ। जंगल चीखा और लपटें भी निकलीं। लेकिन पता नहीं, ठेकेदार और नेताओं के बीच क्या बातचीत हुई कि फिर मशीन चलने लगी। धक्—धक् ! पों—पीं। पक्की करने खातिर भी मशीनें। माटी पर गिट्टी और गिट्टी पर अलकतरा, फिर धूरमुसिया मशीन। सड़क समतल हो भी तो कैसे नहीं।

तिलका को याद है, वह आधी मजूरी भर का आदमी था। सड़क बनाने वाले बाबू सब सूट—बूट पहने रहते। देखने में एकदम अलग। यहाँ तो भगवा पहनो। औरत भी एक ही साड़ी में बँधी—जकड़ी। साड़ी भी घुटने तक ही। माथे पर आँचल की जगह छाती को बाँधे हुए। सड़क बनने

के समय ठेकेदार का आदमी कितनों को चोली पहनना बताया। रंग—विरंगी साड़ी, किसिम—किसम की चोली। तिलका सब स्वाद रहा था कि चोली—साड़ी कितनी कीमती पड़ रही हैं। उसे सब कुछ समझ में आता था। जवान—जोग औरत के साथ ठेकेदार के आदमी का वर्ताव उसे अच्छा नहीं लगता था। वह गुमसुम रहने लगा था और एक दिन तो कह ही बैठा, ''माँ, तुम और दीदी काम छोड़ दो। मैं और भैया करते ही हैं, परदेश से पिताजी पैसा भेज ही देंगे। खाने भर . . . ।''

''और भैया—दीदी का बिआह ?'' तिलका की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि माँ बोल उठी थी। तिलका की बात माँ की समझ में आ रही थी, लेकिन इलाका के जोरू—मरद तो काम करते ही थे। लाचारी में क्या किया जाय ? आदमी की लाचारी देखकर दौलतमंद चटोर हो जाता है। उसका खेल चलने लगता है और इधर लाचार आदमी अपनी आँख पर पट्टी बाँध कर सब कुछ सहता है। भूख आदमी का पहला सवाल है और उसके लिए उसे ऊँच—नीच, ठाँव—कुठाँव लाँघना पड़ता है। जीने के लिए तो आदमी जहर भी पीता है। मरजाद ढोनेवाला आदमी भूख के सामने हार रहा है।

उसी साल भैया का ब्याह हुआ। कुछ दूर—दराज का परिवार सड़क में काम करने के लिए आया था। जान—पहचान हुई और पहचान रिश्तेदारी में बदल गई। कुछ दिनों के बाद दीदी का भी ब्याह हो गया। आज कितने वर्ष बीत गए। बाहर निकलते ही घर की सारी बातें एक—एक कर याद आ रही हैं। बाहर होने के पहले वह गोहाल में गया था। केवल एक गाय और चार दाँत वाली उसकी बछिया रह गई। बाकी को पिताजी ने बेच दिया। उसने गाय को निहारा और बछिया के गले लिपट गया। भर—भर आँख आँसू। हाथ बढ़ाया और बछिया उसकी हथेली चाटने लगी। पिता के पुकारने पर बाहर निकला था।

''तनि रपेटले चलो, वहाँ भी लम्बी कतार में लगना होगा। ढेर आदमी न पहुँच जाता है।'' पिताजी ने टिटकारी भरी।

जैसे तिलका ने कुछ भी नहीं सुना हो और पैर में गड़ा काँटा निकालता हुआ पूछ बैठा, ''भैया का ब्याह हुए कितने दिन हो गए बाऊ?'' तिलका की बात सुन कर पिताजी ने सिर घुमाया ही था कि पैर में ठेंस लग गई। गिरते—गिरते बचे, तिलका पर नजर दौड़ाई। उन्हें लगा, जैसे तिलका अब सयान हो गया है। समझाते हुए कहा, ''इस साल सोनीला को निवाह दें तब भार हल्का हो जाय। जुगाड़ बैठे तब न, मैं तो दोबाह भी देख रहा हूँ।''

तिलका की आँखों के सामने सोनीला के पाहुन का चेहरा घूम गया। कितना हँसमुख थे! ब्याह में कितना खुल के बोलते थे। सोनीला दीदी को कितना मानते थे। ससुराल जाकर दीदी खुश थी। लेकिन उसकी खुशी अधिक दिनों तक नहीं ठहरी। जीजा जी परदेश कमाने के लिए गये और एक दिन मालूम पड़ा कि किसी दूसरी औरत के साथ वे वहीं रह गए। दीदी कितना रोई। उसी साल माँ ने खटिया पकड़ी, सो उठ ही तो गई। बीमार पड़ने पर पिताजी और भैया आए थे। कुछ दिन तो घर में रहे, लेकिन बाद में जब खावा—खरची का चोंचा पड़ने लगा तो पहले पहले भैया चले गए। वैद्यजी ने कहा था कि इसकी बीमारी धीरे—धीरे ठीक होगी। घबड़ाने की बात नहीं है। माँ ठीक भी होने लगी, लेकिन काम—धाम कर पाना संभव नहीं था। द्वार पर बैठी रहती। बाद

में पिताजी भी परदेश चले गए। कुछ दिन के बाद एक रोज माँ अचक्के गिर पड़ी और देखते ही देखते साँस रुक गई। उस दिन भी घर में भाभी, दीदी और तिलका ही था। पिताजी और भैया तो परदेश में ही। काम–किरिया खातिर आए। श्राद्ध के बाद पिताजी चले गए। भाभी के कहने पर भैया और कुछ दिनों के लिए रुक गए। लेकिन जब पैसा–कौड़ी खत्म, तो भैया भी परदेश चले गए। हाँ, जब तक रहे, तब तक तिलका को मौज ही मौज। दूसरे–तीसरे कुछ नुनगर–तितगर हो ही जाता था। गाँव के साथी–संघाती के साथ वह भी अघाया रहता।

पिताजी और भैया के जाने के बाद गोरु की जिम्मेदारी तिलका के ऊपर। अब तो सड़क भी पक्की हो गई थी। गाड़ी–छागड़ चलने लगे थे। जगह–जगह पर चाय–पानी की दुकानें भी खुल गई थीं। कहीं–कहीं तो होटल भी खुल गए थे। लाईन होटल। चकाचक। कतारे–कतार खाट। कुर्सी–टेबुल भी। सब्जी और सालन भूंजने की गंध चारों तरफ उड़ती रहती थी। बूढ़–पुरनियां के हाथ पर दो पैसे आए नहीं कि साँझ–सकेरे चाय पीने के लिए हाजिर। अनुभवी बूढ़े लोग चाय के साथ वहाँ की बातों का माने–मतलब भी बूझ रहे थे। शाम ढलने के बाद की कथा–कहानी पर उनके कान खड़क जाते। तिलका अब बड़ा हो गया है। इसलिए वह बूढ़–पुरनियां की बातें बूझता है। लाईन होटल, चर्चा का विषय। सब की एक ही आवाज, ''इससे अधिक अभाव में भी जी लेते थे। बड़–पीपर के पोकहा से लेकर आम, जामुन और कोइया भी खा लेते थे। अब जमाना ही बदल गया। हम सब का सत्–पत् उठता जा रहा है। कपड़ा–लत्ता की तो बात ही अलग है, नहान–धोवन तक में बदलाव। खान–पान . . . रहनइ–सहनइ. . . कोई किसी को कहने–सुननेवाला नहीं। छिला–छोकरी . . . आवा–जाही।''

तिलका शहर पहुँच गया। दर–दुकानें एकदम चकाचक। मिठाइयाँ और इसी तरह अन्य चीजों की खातिर गुमटियाँ। पहिले भी वह अपनी माँ के साथ कई बार शहर आया था। तब तो हरदम माँ का आँचल ही धरे रहता था। अब पिता के साथ आया तो परदेश जाने के लिए। वह धर्मशाला के आगे पहुँच गया। देखा कि सैकड़ों आदमी कतार लगाए बैठे हुए हैं। पहले ठेकेदार गाँव–गाँव जाकर आदमी की तलाश करता था। मोल–भाव गाँव में ही होता था। लेकिन अब जंगल की ओर नहीं जाता है। डर समा गया है। बाहरी आदमी तो अब एकदम ही नहीं जाता है। गाँव के आदमी के माध्यम से ही सम्वाद जाता है और वही झुंड के झुंड ले आता है। मजदूरी की बात तय। गाँववाला आदमी शहर को शहर बनाने खातिर भूखे–प्यासे जानवर की तरह झुंड के झुंड बाहर हो रहा है। गाँव की जमीन पानी के बिना तरस रही है। नहर, कूआँ और बोरिंग पर किसी का ध्यान नहीं। खेती–वारी की जमीन सेंत–मेंत में हथियायी जा रही है। सुना जा रहा है कि पहले कल–कारखाना चलाने के लिए मजूर बसाए जाते थे। अब तो किसान के जर–जमीन हथिया के उसे किसान से मजदूर बनाने का चलन हो गया है। औद्योगीकरण का खामियाजा किसान को भुगतना पड़ता है। किसानी के ऊपर खतरा है और पूंजीपतियों के पंख लग रहे हैं।

तिलका ने देखा कि ठेकेदार का आदमी एक छपे हुए कागज पर सबसे अँगूठा लगवा रहा है। वह कुछ दूर पर ही खड़ा हो गया। काफी देर तक खड़ा–खड़ा उसका पैर दुखने लगा। थका तो था ही, भूख भी लग गई थी।

वह पिता के साथ सामने के एक टूटे–फूटे होटल पर चला गया। देखा कि जलेबियों

का परात धरा हुआ है और कचौड़ियाँ उतर रही हैं। पिताजी ने समझाते हुए कहा, ''कहा हुआ रहता है, एक–एक दोना सब जानेवालों को मिलेगा, मालिक की ओर से ही।''

उसका ध्यान होटल के आगे बिछे हुए खाट पर चला गया। उसकी आँखों के आगे अपने गाँव के सामने वाले लाईन होटल में बिछे हुए खाट दिखने लगे। रात में कितने बस, ट्रक और इसी तरह की गाड़ियाँ रुकती हैं। हाइवे के घुमावदार दूरियों को कम करती है यह सड़क। रात भर चूल्हा जलता रहता है। अँधेरा होते ही गलियों में चहलकदमी बढ़ने लगती है। उसका सिर चकराने लगा और एहसास ऐसा हुआ कि जैसे नींद से जागा हो और बूढ़े लोगों की बातें कान में समा रही हों, ''अब हम सब का सत्–पत् उठता जा रहा है। कोई किसी को कहने–सुननेवाला नहीं। छिला–छोकरी . . . आवाजाही।''

उस दिन गोरु चराकर वह घर आया था। उसे होटल की तरकारी खाने के लिए मिली। पूछ बैठा, ''ई होटल की तरकारी दीदी?'' दीदी चुपा गई। भाभी ने कहा, ''होटलवाला लकड़ी न खरीदा है, पैसा माँगने गए तो सोंध महकी। इसलिए तरकारी ले ली।'' उस दिन से कभी होटल की तन्दूरी रोटी, तो कभी सालन और इसी तरह कुछ न कुछ आने लगा। तिलका पूछे तो सब का एक ही जवाब। अधिक पूछने पर मुँह बिजकाना सामान्य बात। एक दिन भाभी की रंगीन साड़ी देखकर चौंक गया। उस दिन कुछ भी नहीं पूछ सका। दिन भर महुआ चुनता रहा। इधर कितने ही दिनो से महुआ टपक रहा था। इस समय पूरा इलाका महमह करता रहता है। महुआ की धमक से मन भर–भर जाता है और तब पुराना महुआ भी ताजा हो जाता है। नया महुआ की महक से जब मन बौरा जाता है तब आदमी पुराना महुआ निकाल कर रात–विरात तक सिझाता रहता है। फगुआ का बयार और 'महुआ की तरी'। तब तो माँदल पर थाप पड़ने ही लगता है। साँझ होने पर तिलका भी हाँड़ी में फूलता हुआ महुआ चूलाया था। यार–दोस्तों को भी बुलाया। खा–पीकर बाहर बथान पर ही सो गया था। आधीरात में नींद खुली। इधर–उधर देखा तो सामने वाले घर का दरवाजा खुला पाया। किसी के आने–जाने का अंदेसा भी हुआ। पहले तो लगा कि 'बहरभूंइ' (पैखाना) की बात होगी, लेकिन उसे बूढ़े–बुजूर्गों की बातें याद आने लगीं। तिलका उठा और घर की ओर सिधिया गया। किवाड़ भिड़ी हुई मिली। घर के भीतर गया। एकदम सन्नाटा। अँगना और ओसारा दोनों ही जगहों की खटिया खाली।

जलेबी, कचौड़ी और आलू–बैंगन की सब्जी भरा दोना आगे में आ गया। मुदा तिलका को भूख नहीं। होटल का नौकर देने के लिए तैयार। उसने हाथ समेट लिया। उसे चिंतित मुद्रा में देखकर पिताजी ने कहा, ''घर की याद आ रही है ? होता है, पहले–पहिल न जा रहे हो, इसलिए। घबड़ाने की बात नहीं है बाबू। घर में ननद–भौजाई दोनों हैं ही। घास गढ़ कर गैया–बछिया को खिलाएगी। इसलिए तो एक बाछा और एक गाय हटा दिया। भूक्खल गोरु पगहा तोड़ देता है।''

तिलका की आँखों के आगे गाँव, गाँव का सिमाना और पहाड़ पर गिरता हुआ झरना आने लगा। उसे लगने लगा कि अगर झरना का पानी मोड़ कर गाँव की ओर सीधा कर दिया जाय

तो खेती–बारी हो सकती है। अब तो गर्मी में भी धान का रोपा होता है, गरमा धान! टमाटर, तरकारी की खेती। फिर तो भर थाली भात। इस दोना से भारी। परदेश किसलिए? वह अपने में डूबा हुआ था। उसी समय सामने सड़क पर एक तेज रफ्तार से आती हुई गाड़ी गुजरी। गाय का एक बच्चा सामने आ गया, टकराते–टकराते बचा। पिताजी कुछ बोलना ही चाह रहे थे कि उसने कहा, ''मैं नहीं जाऊँगा। घर के सामने भी सड़क है। बछिया... इक्सीडेंट का खतरा... ।''

विमर्श

आदिवासी कौन?

*हरिराम मीणा

भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को समझने के लिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हमें वर्ण व्यवस्था से होकर वर्तमान, प्रमुख रुप से जाति आधारित समाज की व्यवस्था तक गुजरना होता है। जहाँ तक आदिवासियों का सवाल है तो वे इस सामाजिक प्रणाली का अंग ना होकर अलग–थलग रहते आये समुदाय हैं जिन्हें वर्ण व जाति आधारित समाज से पृथक देखना होगा। व्यवसाय के आधार पर बनने वाली श्रेणियों की दृष्टि से भी आदिवासी समुदायों का वर्ग भौगोलिक, सांस्कृतिक व नृतत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विशिष्ट ही माना जाता रहा है।

सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में व्यवसाय आधारित जनगणना सन् १८९१ में हुई थी उसके बाद सन् १९३१ में जाति पर केन्द्रित जनगणना की गई। ब्रिटिश काल में हुई इस तरह की व पश्चात्वर्ती दस सालाना जनगणना के आँकड़ों में भी आदिवासी समाज को भारतीय मुख्य समाज से पृथक मानव समाज माना जाता रहा है। कुल मिलाकर भारतीय समाज को जाति व आदिवासी दो बड़े वर्गों में विभाजित करके ही देखा जाता रहा है जिसकी प्रमुख वजह यह रही है कि आदिवासी समुदायों में जाति की अवधारणा विकसित नहीं हुई। यह अलग बात है कि उनका वर्गीकरण प्रजातीय व आंचलिक आधार पर किया जाता रहा है। इतिहास की यात्रा में भारतीय समाज के परिवर्तनक्रम में यह सम्भव है कि कुछ आदिवासी समुदायों की मुख्य समाज की श्रेणी में आने की प्रक्रिया में उनकी संज्ञात्मक अवधारणा की परम्परा को जाति के रुप में पहचान दी जाने लगी, यद्यपि इससे उनका जातिगत समुदाय स्थापित हो जाना नहीं मान लेना चाहिए। इसकी प्रमुख वजह यह है कि अभी भी समुदाय के स्तर पर उनका नामकरण उनके आवासीय भूगोल, गोत्र, गणचिन्ह या वंश परम्परा के आधार पर ही जाना जाता रहा है और यही उन समुदायों की मूल पहचान है।

किसी भी राष्ट्र–समाज के उन घटकों के मानव समुदाय के सम्मिलित समाज को हाशिये का समाज कहा गया है जो समाज के अगुवा तबके की तुलना में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्तर पर किन्हीं कारणों से पीछे रह गया है। इस सामान्यीकृत परिभाषा को विस्तार से समझने से पूर्व हाशिये शब्द पर थोड़ा विचार करना जरुरी है। किसी पृष्ठ में हस्तलेखन या टंकण करने से पूर्व शीर्ष एवं परम्परा अनुसार मुख्य रुप से बायीं ओर कुछ जगह छोड़ी जाती रही है और इसी जगह को हाशिया कहा जाता है। प्रश्न यह उठता है कि हाशिया का समाज समग्र समाज के लिए कितना महत्वपूर्ण है और उसे शीर्ष का समाज कहना चाहिए या एक ओर छोड़े गये हाशिये का समाज?

*31, शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड, अजमेर हाइवे, जयपुर–302019, राजस्थान, मो० 09414124101

भारतीय राष्ट्र के सन्दर्भ में हाशिये के समाज में निस्संदेह आधी मानवता के रुप में महिलायें होंगी। इससे इतर स्त्री पुरुष को साथ–साथ लेते हुए दलित, आदिवासी व अति पिछड़े अन्य वर्ग और अल्पसंख्यक शामिल माने जायेंगे। स्त्री की दशा इतिहास में पुरुष की तुलना में कुल मिलाकर दोयम दर्जे की रहती आई चाहे मूल में मातृ सत्तात्मक परिवार की वास्तविकता रही हो या भारतीय शास्त्रों में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' का कथन रहा हो। यह दशा कालांतर में विसत पुरुष वर्चस्व के विकसित होते जाने के साथ पैदा हुई। पुरुष की तुलना में स्त्री की ऐसी दशा के अलावा जब सामाजिक घटकों के स्तर पर बात की जायेगी तो दलित व आदिवासी समाज की बात सामने आती है। यह समाज कैसे अस्तित्व में आया, यह शोध का विषय अभी भी है लेकिन जो अध्ययन और इतिहास हमारे सामने है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य–अनार्य संग्राम शृंखला के दौरान जो ज्ञात मूल–जन विजित कर लिये गये और दास, सेवक या शूद्र के रुप में जिनके साथ व्यवहार किया गया वे आज का दलित समाज है जिसने मुख्य रुप से अछूत होने का दंश सहा। जो जन समूह विजेताओं की पकड़ से बाहर रहे, खदेड़ दिये गये या बचकर दूर–दराज सुरक्षित दुर्गम जंगलों व पहाड़ों में शरण लेने को विवश हुये वे आज के आदिवासी कहे जा सकते हैं। दलितों के साथ अछूत जैसा व्यवहार करना एक समाज शास्त्रीय अवधारणा है जबकि आदिवासीजन राजसत्ता के वर्चस्व से दूर दलन की प्रक्रिया से गुजरते हुए पृथक भौगोलिक क्षेत्रों में चले गये। उनके जीवन की दशा को राजनीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए, क्योंकि सामाजिक–सांस्कृतिक परम्परा के साथ उनकी राजनैतिक प्रणाली शेष समाज से पृथक रही। गणतंत्र की अवधारणा ऐसे ही आदिम समाजों में विकसित हुई थी जो अभी भी किसी न किसी रुप में देखी जा सकती है। पूर्वोत्तर राज्य इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

उक्त समाज शास्त्रीय व राजनीति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर सामाजिक व राजनैतिक शोषण प्रमुख रुप से उभरकर सामने आता है।

जहाँ तक अति पिछड़े अन्य वर्गों का सवाल है तो उन्हें हम अर्थशास्त्रीय अवधारणा से समझ सकते हैं। इन घटकों का प्रमुख संकट वर्चस्वकारी प्रभु वर्ग द्वारा श्रम का शोषण था। इस वर्ग में कृषक, शिल्पी व श्रम पर निर्भर अन्य मानव समुदाय आते हैं। यद्यपि इस वर्ग ने सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर दोयम दर्जे का सलूक नहीं झेला लेकिन आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग का शोषण होता रहा। इसलिए यह वर्ग भौतिक स्तर पर पीछे रहता चला गया। हाशिये के समाज में एक अन्य महत्वपूर्ण घटक ऐसा शामिल है जिसे हम अल्पसंख्यक वर्ग कहते हैं। जिसमें प्रमुख रुप से भारतीय हिन्दू या गैर हिन्दू परम्परागत समाज के मानव समुदाय स्वैच्छिक या दबाव में अन्य धर्मो को अपनाते रहे। इनमें प्रमुख रुप से मुस्लिम, ईसाई व सिख शामिल हैं जिनका अधिसंख्यक दलित, आदिवासी व पिछड़े वर्गों से ताल्लुक रखता है। यहाँ हम बौद्ध व जैन धर्मावलंबियों को शामिल नहीं कर रहे हैं चूँकि ये दोनों ही धर्म जड़ होते जा रहे हिन्दू धर्म के विरुद्ध धार्मिक क्रान्तियों के रुप में सामने आते हैं एवं हाशिये के समाज से उस रुप में सम्बन्ध नहीं रखते जैसे कि यहाँ चर्चा की जा रही है। यद्यपि यह भी पृथक से गहन विश्लेषण का विषय हो सकता है।

स्पष्ट है कि दलित, दमित, शोषित व धर्म के स्तर पर अल्पसंख्यक घटकों का वृहद समाज हाशिये का समाज बनता है। हाशिये का यहाँ अत्यन्त सीमित अर्थ है जिसमें सामाजिक,

राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक स्तर पर इन्हीं से सम्बन्ध रखने वाली सत्ताओं यथा: सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक शक्तियों पर वर्चस्व रखने वाले वर्ग ने हाशिये के इस वर्ग को उत्पीड़ित किया। फलस्वरुप यह वर्ग समाज के समग्र विकास की यात्रा में पीछे और हाशिये पर लटकता चला गया या उधर जाने के लिए विवश किया गया। वस्तुत: यह हाशिये का समाज ही राष्ट्र समाज की प्रमुख मानवता है जिसकी महत्वपूर्ण भूमिका सभ्यता व संस्कृति के विकास में हुई तथा उत्पादन का कार्य भी इसी वर्ग द्वारा किया गया। इसलिए जब राष्ट्र निर्माण में मानव संसाधन के अवदान पर चर्चा की जायेगी तो श्रम–सन्नद्ध इसी हाशिये के समाज को केन्द्र में रखा जायेगा न कि वर्चस्वकारी पराश्रयी प्रभु वर्ग को।

उक्त विश्लेषण से वर्ग की अवधारणा हमारे सामने आती है और किसी भी राष्ट्र समाज में अन्तत: दो ही वर्ग उभर कर सामने दिखाई देते हैं– एक श्रम सम्मत व्यापक लोक और दूसरा वर्चस्वकारी कुलीन वर्ग। ठेठ आदिम अवस्था से वर्तमान तक इस वर्गीय अवधारणा को केन्द्र में रखकर चीजों को समझने का प्रयास किया जाये तो व्यापक लोक बनाम वर्चस्वकारी वर्ग की ही तरह शारीरिक श्रम बनाम बौद्धिक श्रम का प्रत्यय हमारे सामने आता है। भारतीय ज्ञान परम्परा के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि किस तरह चालाक बुद्धिजीवी वर्ग ने शारीरिक श्रम की तुलना में बौद्धिक श्रम को महत्व देते जाने का प्रयास करते करते अन्तत: बुद्धिबल को श्रम से अधिक तवज्जो दी और यह प्रस्थापित कर दिया कि बौद्धिक अवदान ही सभ्यता, संस्कृति और विकास की यात्रा के लिए प्रमुख है। इस प्रस्थापना के कारण श्रम पर आधारित वर्ग बौद्धिक वर्ग की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। यह सर्व विदित है कि किस तरह इस बौद्धिक वर्ग ने श्रम व बुद्धिबल का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए स्वयं के वर्चस्व को प्रस्थापित किया। इसी के साथ विराट पुरुष से वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की जिसने मनुवाद को जन्म देते हुए अन्तत: भारत की व्यापक लोक–परम्परा के मौलिक गुणों यथा: समानता, सामूहिकता, मातृ प्रधानता, सार्वजनिक सम्पत्ति एवं प्रकृति व मानवेतर प्राणी जगत से सहअस्तित्व के सम्बन्धों को शनै: शनै: तिलाजंलि दी और यही प्रक्रिया आज के बहुआयामी संकटों की जननी है। राज, धन व धर्म की सत्ताओं पर जो वर्ग काबिज रहा उसने शेष समाज को उपेक्षित रखने का षड़यंत्र रचा। यहाँ तक कि पुरुष वर्चस्व की परम्परा को सुदृढ़ करते हुए स्वयं के वर्ग के नारी समुदाय को भी दोयम दर्जे पर पटक दिया।

जिसे हम हाशिये का समाज कहते हैं उसका अधिकांश ज्ञात स्तर पर देश का मूल निवासी है। इस देश की सभ्यता व संस्कृति का निर्माता है। इस राष्ट्र की भूमि का असली वारिस है। जो मानसिकता समानता, सामूहिकता, प्रकृति व प्राणियों के साथ सहअस्तित्व, श्रम की महत्ता आदि में विश्वास नहीं करती उसे राष्ट्र हित के लिए घातक माना जाना चाहिए। इस उत्तर–आधुनिक वैश्वीकरण के दौर में चीजें और साफ होती जा रही हैं जबकि पूंजी, बाजार, तकनीकी आदि के रुप में उभर रही नई शक्तियों पर भी एक चालाक वर्ग का कब्जा होता जा रहा है जो बाजार की ताकत के आधार पर शासन प्रणाली एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी अपने हित में इस्तेमाल करने की क्षमता रखता है। यह ऐसा वर्ग है जिसका एक मात्र लक्ष्य अधिकाधिक भौतिक लाभ अर्जित करना है। इस वर्ग को राष्ट्र–समाज के सरोकारों से अधिक मतलब नहीं है।

परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अब हाईटेक पूंजीनायक वर्ग बनता जा रहा है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनसंख्या एवं मतदाताओं का निर्णय शासन संचालन के लिए प्रमुख शक्ति–स्रोत होता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो दलित, आदिवासी, अति पिछड़ा वर्ग एवं अल्पसंख्यक (महिलाओं सहित) क्रमशः १६, १२, २२ व २० (कुल ७० प्रतिशत) एवं ३० प्रतिशत प्रभु वर्ग का ५० प्रतिशत अर्थात कुल का १५ प्रतिशत स्त्रियों को मिलाकर तथाकथित हाशिये के समाज का यह वर्ग भारत की ८५ प्रतिशत जनसंख्या बनती है और इसी अनुपात में मतदाता। इस बहुलजन को हाशिये का समाज कैसे कहा जा सकता है?

इस बहुसंख्यक समाज की समस्याओं में कुछ समान समस्याएं हैं जिनमें हम बहुआयामी शोषण, पहचान का संकट और अन्ततः मानवाधिकारों की समस्याओं के रुप में देख सकते हैं। विशिष्ट समस्याओं के रुप में दलित वर्ग अभी भी अस्पृश्यता के संकट से जूझ रहा है। आदिवासी समाज के लिए तो इस दौर में अस्तित्व का संकट चुनौती के रुप में सामने आ रहा है। अति पिछड़ा वर्ग श्रम के शोषण से अभी भी जूझ रहा है। और अल्पसंख्यक वर्ग आये दिन साम्प्रदायिक स्तर पर हिंसा एवं उत्पीड़न से ग्रसित है। कुल मिलाकर समान व विशिष्ट समस्यायें इस वर्ग की जिस वजह से उत्पन्न हुई हैं वह प्रभु वर्ग का समग्र वर्चस्व है जिसमें विकास के लिए आवश्यक संसाधनों पर उसका कब्जा निर्णायक तत्व के रुप में देखा जा सकता है।

मुक्ति का मार्ग एक ही है कि हाशिये के जिस समाज को अब हम बहुसंख्यक समाज कहने की स्थिति में हैं, उस समाज के विभिन्न घटक एकजुट होकर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक मोर्चो पर लामबंद हों और शिक्षा, जागृति व नेतृत्व को विकसित करें एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपना सशक्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करें ताकि निर्णय उनके पक्ष में सम्भव हो सकें और साथ ही वर्चस्वकारी वर्ग को यह आत्मानुभूति हो कि परम्परा दर परम्परा उसने जो चालाकियां की हैं, वे अन्ततः समग्र मानव समाज के हित में नहीं हैं। ये हरकतें मनुष्य विरोधी हरकतें रही हैं जिनसे स्वयं वह वर्ग भी सुरक्षित नहीं रह पायेगा।

हाशिये के समाज से सम्बन्धित जिन घटकों की हम बात कर रहे हैं उसे यदि मिथक और इतिहास में देखा जाये तो स्त्री, शूद्र, राक्षस आदि एवं कृषक–शिल्पी आदि मानव समुदाय सामने आते हैं। सतयुग में इन्द्रलोक की अप्सराओं, शकुन्तला, गार्गी व माधवी जैसे नारी पात्र हमारे सामने हैं जिन्होंने पुरुष वर्चस्व के कारण उत्पीड़न सहा। त्रेतायुग में सीता और द्वापर में द्रोपदी जैसे चरित्र मिलते है जिन्होंने अपने पक्ष की लड़ाई लड़ी। यह स्त्री का परम्परागत प्रतिरोध था। यही प्रतिरोध आज नारी मुक्ति आन्दोलन के रुप हमारे सामने है। दलित–आदिवासी–लोक के अन्य घटकों से सम्बन्धित उदाहरणों में त्रेतायुग के उन सारे आदिवासी समुदायों को लिया जा सकता है जो राम के पक्ष में लंका की लड़ाई लड़े। हनुमान के अलावा सभी पात्र चाहे कितने भी योद्धा, कूटनीतिज्ञ व रणनीतिकार रहे हों अन्ततः वे सबके सब वही रहे जहाँ थे। अयोध्या की शासन प्रणाली में उनमें से किसी को कोई उचित पद नहीं दिया गया। यही स्थिति द्वापर युग के कृष्ण–काल में देखी जा सकती है। कौरव–पांडव तत्कालीन समाज के शासक थे और उनके प्रमुख सलाहकार श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने जहाँ अपना बचपन गुजारा और युवावस्था की दहलीज पर कदम रखा तब तक सारे संगी–साथी श्रम सम्मत लोक से जुड़े हुए चरित्र थे चाहे वे ग्वाल, बाल

सखा, गोपिकाएं कोई भी हों। इनमें से केवल सुदामा के अलावा अन्य की भौतिक दशा में कोई परिवर्तन हुआ या नहीं हुआ, कोई उदाहरण हमारे सामने नहीं है। राधा के बारे में कहते रहिए कि 'भविष्य में उनका नाम कृष्ण से पहले भक्तजनों की जुबान पर रहेगा' मगर भौतिक जीवन में राधा ने सम्पूर्ण जीवन कृष्ण के विरह में गुजारा। यह द्वापर का एक कटु सत्य सामने है।

भारतीय मिथक एवं इतिहास परम्परा में बहुत ऐसे सन्दर्भ हैं जिनका जिक्र परम्परागत वर्चस्वकारी वर्ग अपने पक्ष में करता रहा है, यह साबित करने के लिए कि भारतीय समाज एवं संस्कृति में शान्ति, सद्भाव, वसुधैव कुटुम्बकम, नारी का सम्मान आदि को उच्च स्थान दिया जाता रहा है। जितने भी युद्ध होते रहे हैं उनको अन्ततः धर्म–युद्ध सिद्ध करने के प्रयास किये गये, चाहे वे कितने भी हिंसक व नरसंहारी रहे हों, जबकि राम–रावण व महाभारत युद्ध की जड़ में भद्र वर्ग के किसी बड़े पात्र से सम्बन्धित कोई व्यक्तिगत कारण रहा था। राम–रावण संग्राम में रावण के द्वारा सीता–हरण के कृत्य को पृथक से देखा जाना चाहिए और समस्त शत्रु पक्ष के विनाश के अभियान को अलग से, जो सुरासुर आर्य–अनार्य संग्राम शृंखला को ही एक प्रकार से आगे बढ़ाता है। महाभारत युद्ध को दुर्योधन के पक्ष से देखा जाये तो यह तथ्य गौर करने लायक है कि वह कालखण्ड कृषियोग्य भूमि के विस्तार से सम्बन्धित था जिसमें पांडवों के अलावा दुर्योधन की अगुवाई में कौरवों द्वारा जंगली इलाकों को साफ कर कृषियोग्य भूमि तैयार की गई और उन दिनों पांडव कहीं अन्यत्र तपस्या कर रहे थे ताकि श्रम से पृथक साधना के आधार पर दैवीय शक्तियां प्राप्त की जा सकें। यहाँ श्रम का प्रतिनिधित्व दुर्योधन का पक्ष कर रहा है और साधना का पांडव पक्ष। जब दुर्योधन व युधिष्ठर के पक्षों के बीच सम्पत्ति के बंटवारे की बात आती है तो वह सम्पत्ति केवल भू–क्षेत्र थी– जिसको देने के लिए दुर्योधन ने स्पष्ट इन्कार किया था। तात्कालिक कारण चाहे दुर्योधन पर द्रोपदी का हंसना रहा हो लेकिन पृष्ठभूमि का वास्तविक कारण भू–सम्पदा पर अधिकार का था। यह वैसा ही था जैसा श्रीलंका युद्ध में सीता–हरण तात्कालिक कारण रहा हो और वास्तविक कारण अनार्य कौम के विनष्टीकरण का महाअभियान। मिथकैतिहास एवं इतिहास में युद्धों के जितने उदाहरण हैं उनका विश्लेषण करने से अतिक्रमी विस्तारवादी शक्तियों के वर्चस्व की मानसिकता सामने आयेगी, चाहे उसे गौरवान्वित करने के लिए कोई अन्य नाम दिया जाता रहा हो।

परम्परा के उपरोक्त उदाहरणों के ही क्रम में वर्तमान तथाकथित वैश्वीकरण में जो कुछ घटित हो रहा है उसे देखा जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि यह बात भारत के सन्दर्भ में ही नहीं प्रत्युत विश्व के श्रम–सम्मत समस्त लोक एवं वर्चस्वकारी शक्तियों के माध्यम से होने वाले अन्तर्संघर्षों के रुप में आती है। परम्परा के अनुसार राज, समाज व धर्म प्रमुख अवधारणा के रुप में सामने आते हैं। राज व समाज की व्यवस्था पर भी धर्म की मोहर लगाई जाती थी ताकि लोक में से कहीं कोई प्रतिरोध हो तो यह कहा जा सके कि यह सारी व्यवस्था अन्ततः ईश्वरीय इच्छा है। अब स्थिति बदल गई है। धर्म का स्थान पूंजी ने ले लिया है पर पूंजी के इर्द–गिर्द राज, समाज व धर्म से सम्बन्धित सारी गतिविधियां चलने लगी हैं। कुल मिलाकर पूंजी का वर्चस्व है। पूंजी को एक प्रभावकारी हथियार के रुप में एक वर्ग विशेष इस्तेमाल किये जा रहा है जिसे अन्ततः वैश्विक विस्तारवादी–वर्चस्ववादी वर्ग कहा जा सकता है। अमेरिका जैसे हाईटेक, अति

विकसित राष्ट्रों के सन्दर्भ में यह अवधारणा नवसाम्राज्यवाद के रुप में सामने आती है जिसके ज्वलंत उदाहरण अमेरिका की अगुवाई में ईराक व अफगानिस्तान पर आक्रमण तथा लादेन जैसे आंतकवादियों को अन्तरराष्ट्रीय कानून की परवाह न करते हुए अन्य देश की भूमि से बिना उसकी सहमति लिये मारा जाता है। यहाँ प्रश्न विश्व के सामने सद्दाम व लादेन की चुनौती का नहीं है प्रत्युत संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्मान व सुदृढ़ीकरण का है जो विश्व में वैश्विक राजनैतिक व्यवहार के लिए प्रथम व द्वितीय विश्व युद्व की त्रासदियों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए गम्भीर विमर्श के पश्चात स्थापित की गई थी। यह तो मानना पड़ेगा कि विश्व व्यवस्था के लिए कोई विश्व संस्था सर्वोच्च मानी जाये जो सिद्धान्त व व्यवहार के स्तर पर राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रभावी भूमिका निभा सके। चाहे किसी राष्ट्र, समाज के भीतर का प्रभु वर्ग हो या विश्व के स्तर पर कोई प्रभुराष्ट्र या राष्ट्र समूह, शक्तिशाली का अन्तत: ध्येय वर्चस्व स्थापित करना हो जाता है। यही वर्चस्ववादी मानसिकता है जिसे व्यक्ति व राष्ट्र के स्तर पर विश्लेषित किया जाना चाहिए।

वैश्वीकरण के इस दौर में प्रभु वर्ग द्वारा स्वयं के हित में चलाये जा रहे अभियान को यह कहकर न्यायसम्मत ठहराये जाने का प्रयास किया जाता है कि निजीकरण—उदारीकरण—भूमंडलीकरण आम आदमी की प्रगति के लिए है। मोबाईल फोन जैसी कुछ तकनीक आम आदमी के हित में हो सकती है लेकिन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आखिरी मकसद प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, बाजार की शक्ति के आधार पर अधिकाधिक लाभ, पूंजी व तकनीकी के बल पर अपने व्यवसायिक विस्तार आदि हैं जहाँ आम आदमी का हित गौण हो जाता है।

नई पीढ़ी के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण के दौर में रोजगार की सम्भावना बढ़ेगी और लोगों की माली हालत तथा आधारभूत सुविधाओं में बढ़ोतरी होगी। वास्तव में रोजगार युवा वर्ग के उस घटक के लिए सम्भव हो पा रहा है जो तकनीकी स्तर पर शिक्षित व अनुभवी है या कुशल श्रमिक के रुप में अपने श्रम से व्यवसायकर्ता को अधिकाधिक आर्थिक लाभ पहुँचा सकता है। ऐसा युवा वर्ग पैदा करने के लिए तकनीकी व विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएँ स्थापित की जा रही हैं जिनका अधिकांश भाग प्राईवेट सैक्टर में है। ऐसी शिक्षा या सेवा के नाम पर स्वास्थ्य व अन्य गतिविधियां भी अन्तत: आय के केन्द्र बनकर रह जाते हैं। इस प्रक्रिया में राज्य की कल्याणकारी भूमिका नकारात्मक दृष्टि से प्रभावित होती है। उसका क्षेत्र सीमित होता है और जो कुछ भूमिका अदा की जाती है उस पर प्रभु वर्ग एक शक्तिशाली दबाव समूह के रुप में काम करने लगता है। वैश्वीकरण की यह समस्त प्रक्रिया अन्तत: सार्वजनिक व निजी दोनों ही क्षेत्रों पर अपना बहुआयामी वर्चस्व कायम करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

मिथक, इतिहास व परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जब भारतीय समाज पर वर्तमान वैश्वीकरण की दृष्टि से विचार किया जायेगा तो तकनीकी, पूँजी व प्रभु वर्ग के वर्चस्व की इस मुहिम में विकास के सबसे निचले पायदान पर हम आदिवासियों को पायेंगे । इसलिए आदिवासीजन पर चर्चा से पहले उक्त पृष्ठ—भूमि आवश्यक समझी गयी है।

'आदिवासी' शब्द को परिभाषित करना थोड़ा मुश्किल है। आदिवासी शब्द के साथ मूलवासी, (indigenous) आदिम (ab-origin) जैसी संज्ञाएं भी सामने आती हैं। आदिवासी

शब्द को परिभाषित करते वक्त समाजशास्त्र, नृतत्व विज्ञान, इतिहास, संस्कृति जैसे अनुशासनों का संदर्भ भी ग्रहण करना होता है। यहाँ तक की भारतीय संविधान में अनुसूचित आदिवासियों की दृष्टि से राजनैतिक दृष्टिकोण भी हमारे सामने आता है। शब्द को समझने के लिये मैंने इन्टरनेट का सहारा लेना चाहा एवं जैसे ही मैंने गूगल पर तलाश किया तो एक परिभाषा देखकर मुझे दुखद: आश्चर्य हुआ। www.olx.in साइट पर जो परिभाषा सामने आई वह इस प्रकार थी— ''असभ्य एवं जंगली बर्बर लोगों का समुदाय जो किसी एक मुखिया या शासन के अधीन रहता है।''

इस साईट से पीछा छुड़ाकर मैंने आदिवासी की परिभाषा अन्यत्र खोजना प्रारम्भ किया। ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी पर जो परिभाषा मिली, वह इस प्रकार है— ''एकाधिक परिवारों से बने परम्परागत समाज का वह वर्ग जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक तथा रक्त के स्तर पर बंधे हों और जो एक क्षेत्रीय नेतृत्व के अधीन रहते आये हैं।'' यह परिभाषा वास्तविकता के काफी निकट दिखाई दी ।

रेमण्ड फर्थ ने आदिवासियों को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''आदिवासी समुदाय विशेष'' एक ही सांस्कृतिक श्रृंखला का मानव समूह है जो साधारणत: एक ही भूखण्ड पर रहताहै, एक ही भाषा भाषी है तथा एक प्रकार की परम्पराओं व संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है।'' जार्ज पीटर मर्डाक ने कहा है कि ''यह एक सामाजिक समूह होता है जिसकी एक अलग भाषा होती है तथा विशिष्ट संस्कृति व एक स्वतंत्र राजनैतिक संगठन होता है।'' डब्लू.एच.आर.रिवर्स, फ्रेज बोऑस एवं गिलिन व गिलिन क्रमश: सामाजिक समूह, स्वतंत्र जन समूह व भू—भाग व भाषा विशेष को आदिवासी समुदाय का आधार बनाने पर जोर देते हैं। इम्पीरियल गेजटियर ऑफ इण्डिया में भी सामान्य नाम व भाषा के भू—भाग पर रहने वाले परिवार के समूह को रेखांकित किया है।

प्रागैतिहासिक युग में समस्त मानवता आदिम दशा में थी। सभ्यता के विकास के साथ विभिन्न मानव समूह आदिम जीवन शैली के बाहर निकलते गये। अब से करीब डेढ करोड़ वर्ष पहले हिमालय के उत्तर पश्चिम में अवस्थित शिवालिक पहाड़ियों में रामापिथेकस नामक प्रजाति बसी। यही भारत में आने वाली पहली प्रजाति है। ऑस्ट्रॉलोपीथेकस प्रजाति को आज से करीब २० लाख वर्ष पहले भारत में आना माना गया है। इन दोनों प्रजातियों के बीच में दीर्घ काल के दौरान हुए मानव विकास के संबंध में कोई शोध निष्कर्ष हमारे सामने नहीं हैं। वर्तमान भारतीय—जन नृतत्व विज्ञान की दृष्टि से विभिन्न प्रजातियों के वंशज या मिश्रित सन्तानों के रुप में हैं।

सन् १८९१ में पहली बार व्यवसाय के आधार पर भारत की जनसंख्या को वर्गीकृत किया गया। इसके बाद १९३१ में जाति आधारित जनगणना हुई। इस क्रम में कुछ आदिवासी समूहों को पहचाना गया। नृतत्वशास्त्रियों ने भी महत्वपूर्ण अध्ययन किये। आजादी के बाद सन् १९५० में कुल २१२ आदिवासी समुदायों की पहचान की गयी है, जिसका प्रमुख आधार सामाजिक व आर्थिक पिछड़ापन था। कुछ समुदायों को संविधान की अनुसूची में शामिल नहीं किया, जिसका काफी विरोध हुआ। फलस्वरुप पिछड़ी जाति आयोग के नाम पर काका कालेलकर आयोग

बनाया गया। इस आयोग ने पिछड़ी जातियों को चिन्हित करते हुए उनमें से कई समुदायों को अनुसूचित जाति व जनजाति के रुप में वर्गीकृत करने के लिए अपनी सिफारिश की। इसी के साथ राज्य पुनर्गठन कानून लागू किया गया और आदिवासी समूह को प्रान्तीय आधार पर १९५६ में अनुसूचित श्रेणी में शामिल किया गया।

भारत के आदिवासियों का भौगोलिक वितरण पहली बार बी.एस. गुहा ने वर्ष १९५१ में किया। उन्होंने उत्तर एवं उत्तर पश्चिम क्षेत्र में हिमालय अंचल व तलहटी क्षेत्रों को शामिल करते हुए पूर्वोत्तर को इस श्रेणी में रखा। दूसरी श्रेणी में मध्यवर्ती अर्थात बिहार, बंगाल, दक्षिण उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान, उत्तरी महाराष्ट्र व उड़ीसा के आदिवासी समुदायों को शामिल माना। तीसरे क्षेत्र में दक्षिणांचल को शामिल किया, जिसमें तत्कालीन हैदराबाद, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कोचीन व अण्डमान–निकोबार को शामिल किया गया।

सन् २००१ की जनगणना के मुताबिक आदिवासियों की कुल तादात ८ करोड़, २० लाख थी। भारत के आदिवासियों में सीमान्त आदिवासी करीब ११ प्रतिशत हैं जो पूर्वोत्तर के राज्यों तथा हिमालय पर्वत शृंखला के इर्द–गिर्द बसे हुए हैं, शेष ८९ प्रतिशत आदिवासी अन्य प्रान्तों में हैं जो उन राज्यों की कुल जनसंख्या का, मध्यप्रदेश में २३ प्रतिशत, उड़ीसा २२ प्रतिशत, राजस्थान १२ प्रतिशत, बिहार ८ प्रतिशत, गुजरात १४ प्रतिशत, दादरा–नगर हवेली ७९ प्रतिशत एवं लक्षद्वीप ९४ प्रतिशत हैं।

भौगोलिक दृष्टिकोण से डॉ० श्यामाचरण दुबे ने आदिवासियों के चार क्षेत्र यथा: उत्तर–पूर्व, मध्य, दक्षिण एवं पश्चिम में वर्गीकृत किया। इसी तरह योगेश अटल ने वर्ष १९६५ में कमोबेश इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया। वर्ष १९७१ में बी.के. रायवर्मन ने उन्हीं क्षेत्रों को पाँच भागों में वर्गीकृत किया, जिसमें पूर्वोक्त भौगोलिक क्षेत्र शामिल रहे। ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने कुछ अर्सा बाद इन भौगोलिक क्षेत्रों में से अण्डमान निकोबार व लक्षद्वीप को पृथक अंचल मानते हुए उसे 'द्वीप समूह' की संज्ञा दी। इसके आधार पर निम्न चित्र सामने आता है ।

भौगोलिक क्षेत्र		**प्रमुख आदिवासी समुदायों के नाम**
१. हिमालय प्रदेश	–	गद्दी, गुज्जर, भोट, किन्नौरा, थारु, मिजो, कचारी हमार, बिमसा, नागा आदि। अनेक उपजातियाँ भी हैं यथा, त्रिपुरी, रियान, थड़ाऊ आदि।
२. मध्य भारतीय क्षेत्र	–	संथाल, मुण्डा, उराँव, हो, भूमिज, लोधा, खोण्ड, सोवर, गदबा, कमार, बैगा, भूईवाँ, कोरकू, हल्बा आदि।
३. पश्चिम भारतीय क्षेत्र	–	मीणा, भील, डफली, घोटिया, गमीत, सहयाद्री, कोली, महादेव, कोंकण आदि।
४. दक्षिण भारतीय क्षेत्र	–	गोंड, कोया, अण्डी, भेरुकूलू, कोण्डा डोरा, इरुला, माला, कुरावान, नैकाडा, यरावा, पुलियन, पनियन, कादर आदि।
५. द्वीप समूह क्षेत्र	–	अण्डमानी, ओंगी, जारवा, सेन्टेनेलिस, निकोबारी शॉम्पेन, आदि।

प्रजातीय आधार पर भारतीय आदिवासियों के वर्गीकरण का प्रश्न काफी जटिल है। इसकी खास वजह इन समुदायों के बारे में अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होना है। मदन एवं मजूमदार का कथन है कि ''भारतीय प्रजातीय इतिहास संबंधी सभी ऐतिहासिक निर्मितियों को अटकलबाजियों पर आधारित करना पड़ता है।'' हर्बट होप रिजले ने वर्गीकरण करते हुए सात भारतीय प्रजातीय प्रकारों का जिक्र किया हैं जिनमें द्रविड़ व मंगोल प्रजातियों से भारतीय आदिवासियों का सम्बन्ध माना है।

१. तुर्क–ईरानी – इस प्रजाति में रिजले ने उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के अफगान (जो अब अफगानिस्तान में है) और बलूचिस्तान के बलोच और ब्राहुई लोगों को रखा है। ये लोग तुर्की और ईरानी तत्त्वों के सम्मिश्रण का प्रतिफल हैं। इनका औसत से ऊँचा कद, गोरा रंग, काली और कहीं–कहीं भूरी आँखें, चौड़ा सिर, लम्बी नाक और अधिक बालयुक्त सिर होता है ।

२. इण्डो–आर्य – इस प्रजाति के लोग पंजाब, राजस्थान और कश्मीर में पाये जाते हैं। इनका कद ऊँचा, रंग गोरा, आँखें काली, चेहरे पर घने बाल, लम्बा सिर, पतली नाक होती है ।

३. साईथो–द्रविड़ – मध्यप्रदेश, गुजरात और कुर्ग के पहाड़ी क्षेत्रों में इस प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इसके मुख्य प्रतिनिधि महाराष्ट्र के मराठा ब्राह्मण, कुर्गवासी कुर्ग और गुजरात के नागर ब्राह्मण हैं। इस प्रजाति का निर्माण साईथियन एवं द्रविड़ तत्त्वों से माना गया है। इनका सिर चौड़ा, कम दाढ़ी–मूंछें, मध्यम कद, सुन्दर नाक (अधिक लम्बी नहीं) तथा रंग गोरा होता है। (इस प्रजातीय वर्गीकरण में आदिवासी समुदायों को चिन्हित नहीं किया गया।)

४. आर्य–द्रविड़ – इसमें पंजाब की पूर्वी सीमा, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और बिहार के कुछ भागों में पाये जाने वाले समूह हैं। इनका सिर लम्बा, कद मध्यम, हल्का भूरा या काला रंग तथा नाक इण्डो–आर्य से थोड़ी चौड़ी होती है। इनका कद भी उनसे कम होता है ।

५. मंगोल–द्रविड़ – बंगाल और उड़ीसा में पाये जाने वाले कुछ मानव समूह इस प्रजाति के अन्तर्गत रखे गये हैं। इसे मंगोल और द्रविड़ का मिश्रण रुप माना गया है। इनका सिर चौड़ा ,नाक मध्यम कभी–कभी चपटी, रंग काला, कद मध्यम और चेहरे पर घने बाल होते हैं।

६. मंगोल–उत्तर – पूर्वीभारत में इस प्रजाति के अधिकतर लोग पाये जाते हैं। विशेषकर नेपाल एवं असम में इनकी तादात ज्यादा है। इनका सिर चौड़ा, रंग पीला, दाढ़ी मूंछ के नाम पर नगण्य बाल, कद काफी छोटा अर्थात औसत से कम, नाक पतली और चौड़ी (दोनों प्रकार की) चेहरा चौड़ा, आँखों के ऊपर माँस की मोटी परत के कारण पलकें झुकी हुई होती हैं।

७. द्रविड़ – तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश विशेषकर हैदराबाद, मध्यप्रदेश के दक्षिणी भाग एवं बिहार के छोटा–नागपुर में इस प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इनके सर्वप्रमुख प्रतिनिधि पनियन और छोटा–नागपुर के संथाल हैं। इनका कद छोटा, रंग काला, घुंघराले बाल, काली आँखें, लम्बा सिर, और नाक बहुत चौड़ी होती है।

ए.सी. हड्न, विलियम कुक, आइकस्टीड, हेमेन्डोर्फ, एस.एस.सरकार ने भी प्रजाति

संबंधी अटकलें लगाई हैं, लेकिन अन्तिम अध्ययन और सर्वप्रचलित वर्गीकरण हटन, गुहा एवं मजूमदार के हैं। गुहा ने १९३१ की जनगणना के समय स्वयं नृतत्वमिति का उपयोग करते हुए २००० मानव सिरों का मापन कर अपने निष्कर्षों को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सम्पूर्ण भारतीय जनता के छः मुख्य और नौ उप–प्रजाति प्रकार हैं :

१. निग्रिटो
२. प्रोटो–ऑस्ट्रेलायड
३. मंगोलायड
(क) पेलियो मंगोलायड
(i) लम्बे सिरवाले (ii) चौड़े सिर वाले
(ख) तिब्बती मंगोलायड
४. मेडिटरेनियन (भू–मध्य सागरीय)
(क) पेलियो मेडिटरेनियन
(ख) मेडिटरेनियन
(ग) ओरिएन्टल
५. पश्चिमी ब्रेकीसेफल्स (चौड़े सिर वाले)
(क) एल्पिनॉयड
(ख) डिनॉरिक
(ग) आर्मिनायड
६. नॉर्डिक

भारतीय आदिवासी प्रजातियों का रचना–वर्गीकरण गुहा ने १९५२ में प्रस्तुत किया जो निम्नलिखित है :–

१. दक्षिण भारत के कादर, इरुला और पनियान अपने घुंघराले बालों के कारण निश्चित रुप में निग्रिटो का प्रतिनिधित्व करते हैं।
२. भारत के मध्य क्षेत्र की जनजातियों को प्रोटो–ऑस्ट्रेलायड का सदस्य कहा गया।
३. उत्तर पूर्वी भारत के चौड़े सिर वाले मंगोलायडों में आँख और चेहरे से संबंधित विशिष्ट लक्षण पाये गये ।
४. मध्यम कद, ऊंचे सिर वाले मध्यम नाक वाले थोड़े भिन्न प्रकार के मंगोलायड ब्रह्मपुत्र घाटी क्षेत्र के निवासी हैं (भारत की जनजातीय संस्कृति, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी)।

प्रजाति विमर्श को समाप्त करते हुए विशेषज्ञ एवं शोध शास्त्रियों की इस सहमति का जिक्र किया जा सकता है कि आज जितने भी मनुष्य संसार में रहते हैं वे सभी एक प्रजाति के सदस्य है, जिसे ''हीमोसेपियन्स'' कहते हैं।

नृतत्व वैज्ञानिकों ने आदिवासी शब्द को परिभाषित करते हुए वंश एवं रक्त के तत्त्व पर सर्वाधिक जोर दिया है। दूसरा, आदिवासी समुदायों से मिलती अवधारणाओं को स्वीकार किया है। भारतीय संविधान में आदिवासियों को परिभाषित करते हुए कुछ तत्त्वों को आवश्यक बताया है जिनमें अलग–थलग भूभाग में निवास करना, अनूठी सांस्कृतिक परम्परा, प्रगति की

दृष्टि से पिछड़ापन तथा बाहरी समाज से घुलने–मिलने में झिझक को शामिल किया है।

'मूलवासी' (इण्डीजीनिस) शब्द को परिभाषित करना अत्यधिक कठिन है। इस शब्द पर चर्चा करने के साथ–साथ आदिवासी (ट्राईब), देसी (नेटिव) एवं आदिम (अबोरिजनल) जैसे शब्दों की अवधारणाएं सामने आती हैं। वर्ष १९८७ में ग्रेलर ने मूलवासी की व्याख्या करते हुए कहा कि यह 'राजनैतिक दृष्टि से अधिकार–विहीन लोगों के ऐसे समुदाय हैं जो अपनी विशिष्ट नस्लगत पहचान बनाये रखते हैं और आधुनिक राष्ट्र की अवधारणा के मूर्त्तरुप लेने के बावजूद अलग ईकाई के रुप में समाज का हिस्सा बनकर चलते हैं।' इससे पूर्व वर्ष १९७२ में मूलवासी–जन के लिये गठित संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य समूह ने जोस माल्टीनेज कोज की परिभाषा से सहमति प्रकट करते हुए 'किसी भू–भाग पर विश्व के अन्य हिस्सों से आने वाले बाहरी मानव समूहों से पहिले वहाँ प्राचीन काल से रहने वाले लोगों के वंशज' के रुप में मूलवासी की पहचान की है। इस प्रक्रिया में बाहरी घुसपैठियों द्वारा आक्रमण एवं उस भू–भाग पर अधिकार करने तथा मूलवासियों को दोयम दर्जे का जीवन जीने को विवश किया गया। परिणास्वरुप वर्चस्वकारी व्यवस्था में उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाने लगा और यहीं से विश्व की सबसे बड़ी समस्या नस्ल पर आधारित भेदभाव तथा मूलवासियों से सम्बन्धित अन्य मुद्दे सामने आये।

वर्ष १९८३ में संयुक्त राष्ट्र संघ के स्तर पर 'मूलवासी' शब्द की व्याख्या करते हुए माना कि 'किसी भू–भाग पर प्राचीन काल से रहने वाले मानव समुदाय के वंशज हैं जो नस्ल एवं संस्कृति के स्तर पर विशिष्टता रखते हों। इनमें से काफी लोग राष्ट्र–समाज की मुख्य धारा से अलग–थलग अपने पुरखों की परम्परा एवं रीति रिवाजों का संरक्षण करते हुए जीवन जीते चले आ रहे हैं और विकसित राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को ये लोग बाहरी (एलियन) मानते हैं।' कुल मिलाकर ''किसी भू–भाग के ज्ञात प्राचीनतम निवासियों'' को मूलवासी कहना उचित होगा।

भौगोलिक दृष्टिकोण से आस्ट्रेलिया महाद्वीप के मूलवासियों को आदिम (अबोरिजनल) और शेष दुनिया के मूलवासियों को 'इण्डीजीनस' कहा जाता है। आदिम शब्द में मौलिकता जैसे सांस्कृतिक–मनोवैज्ञानिक तत्व का तथा मूलवासी (इण्डीजीनस) में भू–भाग विशेष में जीवन जीते रहने का भाव संकेतित होता है। आदिवासी समुदाय आदिम एवं मूलवासी समाज का वह हिस्सा है जो अभी भी मुख्य समाज से अलग–थलग प्रमुख रुप से प्रकृति पर आधारित जीवन जीता आ रहा है और प्राचीनता एवं नैसर्गिकता के सन्दर्भ में आदिम सरोकारों का कमोबेश संरक्षण किये हुए है।

सामान्य तौर पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलवासी किसी भूखंड पर निर्विवाद रुप से लम्बे समय से वंशानुगत क्रम में निवास करने वाले ऐसे जन हैं जिनका नस्ल विशेष से गहरा संबंध होता है। यहाँ नस्ल, भू–भाग एवं प्राचीनता महत्वपूर्ण शब्द हैं। आधुनिक राष्ट्र समाज एवं सरकारों के उद्‌भव के साथ अपनी स्वतन्त्र ईकाई के सन्दर्भ में ऐसे मूलवासी समुदाय राजनीति के स्तर पर अपने अस्तित्व एवं अधिकारों के लिये एक विशिष्ट पहचान बनाने की प्रक्रिया से गुजरते आये हैं। काल–खण्डानुक्रम की दृष्टि से प्राचीन काल, उपनिवेशवाद काल

एवं आधुनिक काल के संदर्भ में इनकी अस्मिता, पराभव एवं पुनरुत्थान की प्रक्रिया को समझना आसान होगा। इस प्रक्रिया में होने वाले नस्ल परिवर्तन, सांस्कृतिक प्रदूषण, भाषागत अर्न्तक्रिया, मूल्यगत ह्रास की दृष्टि से परम्परा एवं आधुनिकता का अन्तर्सघर्ष, अन्तविर्रोध, अन्तर्क्रिया, परस्पर प्रभाव जैसी प्रमुख स्थितियाँ उभर कर सामने आती हैं । इस क्रम में भू–भाग विशेष महत्वपूर्ण तत्त्व न रहकर मानव समूहों के बिखराव एवं विस्थापन की स्थिति सामने आती है। यहाँ वनांचल से मुख्य भूमि, गावों से शहर और परम्परागत समाज से आधुनिक समाज की ओर अग्रसर होने की स्वाभाविकता या विवशता भी महत्वपूर्ण बन जाती है। निश्चित रुप से इतिहास एवं संस्कृति जैसे प्रमुख क्षेत्र प्रभावित होते हैं और प्राचीन ऐतिहासिकता एवं मौलिक संस्कृति के संरक्षण के प्रश्न सामने आते हैं।

विश्व मूलवासी अध्ययन केन्द्र की स्थापना वर्ष १९८४ में डा० रुडोल्फ सी० रायसर एवं जार्ज मेनुअल ने एक स्वतंत्र शोध एवं शैक्षिक संगठन के रुप में की। जार्ज मेनुअल राष्ट्रीय भारत मैत्री संगठन (कनाडा) के पूर्व अध्यक्ष थे जिन्होंने उपनिवेशवाद से उबरे मूलवासियों के लिये कार्य किया। उन्होंने ही संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित मूलवासियों की विश्व परिषद के गठन में महत्पूर्ण योगदान दिया।

उल्लेखनीय है कि विश्व की कुल जनसंख्या करीब ६ अरब में से ३ अरब ७० करोड़ मूलवासी हैं, जो करीब ७० देशों में रह रहे हैं। *भारत राष्ट्र के सन्दर्भ में मूलवासी श्रेणी में ही आदिवासियों को माना गया है।* वर्ष २००१ की जनगणना के अनुसार करीब आठ करोड़ चालीस लाख लोगों को मूलवासियों के रुप में चिन्हित किया गया है। इनके कुल ४६१ समूह माने गये हैं। स्वतन्त्र शोध निष्कर्षो के अनुसार ऐसे कुल ६३५ आदिवासी घटक हैं जिनमें प्रमुख गोण्ड, सन्थाल, उरांव, भील व नागा आदि हैं। जनगणना के मुताबिक ४६१ चिन्हित आदिवासी घटकों में से २२० उत्तर–पूर्वी राज्यों में रहते हैं, जो कुल आदिवासियों का १२ प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। वैसे मध्य भारत में कुल आदिवासियों की करीब ५० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया जाये और आर्य–अनार्य संग्राम–श्रृंखला के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है तो आदिवासी समाज के साथ दलित (अनुसूचित जाति) जनसंख्या भी मूलवासी की श्रेणी में आती है और साथ ही द्रविड़ मूल के अन्य घटक भी।

वैश्विक मूलवासियों पर जब चर्चा की जाती है तो विश्व के सभी महाद्वीप विमर्श के केन्द्र में आते हैं। मूलवासियों की जनसंख्या अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, एशिया, यूरोप आदि सभी महाद्वीपों से गहरा संबंध रखती आई हैं चाहे समस्या उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनस् की हो या दक्षिणी अमेरिका के 'बुश नीग्रो' की हो या अफ्रीका के सांन की हो या मैक्सिको के माया लोगों की हो या न्यूजीलैंड के मोरानी की हो या आस्ट्रेलिया के कुरी, नुनगा, टीवी की हो या यूरोप के खिनालुग, कोमी, सामी की हो अथवा एशिया के अडंमान टापू के सेंटेनलीज या जारवा की हो।

मूलवासियों को सर्वाधिक त्रासदी का सामना उपनिवेश–काल के दौर में करना पड़ा था जो पन्द्रहवीं शताब्दी से शुरु होकर बीसवीं सदी के मध्य पार तक चला। नव साम्राज्यवाद एवं वैश्वीकरण के इस दौर में मूलवासियों की समस्याओं के और अधिक पेचीदा बनने की संभावनाएं

सामने हैं। वे उच्च तकनीकी, बाजारवाद एवं पूंजी की वर्तमान भूमिका से सर्वथा अपरिचित हैं। मूलवासियों का विश्व–समाज आधुनिक प्रगतिशील जगत से स्वयं को पृथक व पिछड़ा हुआ महसूस करता है और है भी।

अन्तर्राष्ट्रीय मूलवासी दिवस के रुप में नौ अगस्त को मनाने की पृष्ठभूमि यह है कि वर्ष १९८२ में इसी तारीख को संयुक्त राष्ट्र संघ के मूलवासी लोगों के कार्यसमूह की प्रथम बैठक सम्पन्न हुई थी। तद्नुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की दिनांक २३ दिसम्बर १९९४ को हुई बैठक में इस तिथि को 'अन्तराष्ट्रीय मूलवासी दिवस' मनाने का निर्णय लिया। विश्व के मूलवासियों के उत्थान के लिये वर्ष १९९५ से २००४ तक की अवधि को 'प्रथम मूलवासी दशक' एवं वर्ष २००५ से २०१४ तक की अवधि को 'द्वितीय मूलवासी दशक' के रुप में मनाये जाने का संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा में घोषणा की गई।

मूलवासियों के प्रति सामान्यीकृत दृष्टिकोण विरोधाभासी रहे हैं। मूलवासियों के समर्थक उनके इतिहास एवं संस्कृति को विश्व धरोहर तथा प्रकृति के साथ बेहतरीन सामंजस्य से आपूरित जीवन शैली एवं संस्कृति के रुप में देखते हैं, वहीं दूसरा दृष्टिकोण मूलवासियों को आदिम, असभ्य, जंगली एवं अविकसित श्रेणी का मानता है।

वर्तमान काल में मूलवासियों से संबंधित समस्याएं विश्व के सामने महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं जिनमें नस्लभेद, रोटी–कपड़ा–मकान, शिक्षा–स्वास्थ्य जैसी मूलभूत सुविधाएं, विस्थापन, संस्कृति का संरक्षण, पहचान का संकट एवं मानवाधिकारों के संरक्षण आदि शामिल हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में आदिवासी आबादी की आधी से अधिक जनसंख्या गरीबी के स्तर से नीचे का जीवन जीने को विवश है जबकि गरीबी की रेखा से नीचे जीने वाले भारत की कुल आबादी का करीब तिहाई अंश है। शेष विश्व के मूलवासियों की भौतिक दशा भी कमोबेश ऐसी ही है। इन समस्याओं के समाधान के बिना मूलवासियों का भविष्य सुरक्षित नहीं है, जो विश्व मानवता के सामने सबसे बड़ी चुनौती है।

हाल ही में 'सेंटर फॉर सेल्युलर एंड मोलेक्युलर बायोलोजी' के पूर्व निदेशक लालजी सिंह एवं इसी संस्था के वरिष्ठ वैज्ञानिक कुमारस्वामी थंगराजन ने आर्य व द्रविड़ प्रजातियों को लेकर शोध किया है जिसका आधार जीन्स् के अध्ययन को बनाया। उनका निष्कर्ष है कि आर्यो एवं द्रविड़ों का भेद एक भ्रान्ति है और इन दोनों प्रजातियों के आधार पर उत्तर एवं दक्षिण भारत को अलग अलग देखने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। आर्यजन के भारत में प्रवेश के हजारों वर्ष पहले उत्तर व दक्षिण भारत में पृथक मानव प्रजातियाँ निवास कर रही थी ।

दोनों वैज्ञानिकों ने उत्तर एवं दक्षिण के १३ प्रांतों के २५ मानव समूहों के कुल १३०० व्यक्तियों को सेम्पल के रुप में अध्ययन में शामिल किया। इस शोध में ५ लाख जैनेटिक संकेतकों (markers) पर विश्लेषण किया गया। अध्ययन में शामिल सभी व्यक्ति भारत की प्रमुख ६ भाषा परिवारों से सम्बंध रखते हैं। साथ ही परम्परागत रुप से जिन्हें उच्च व निम्नवर्ग कहा जाता है उनका भी प्रतिनिधित्व रखा गया।

यह अध्ययन हार्वर्ड मेडिकल स्कूल, हार्वर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ और एम०आई०टी० के सहयोग से किया गया। शोधार्थियों का मानना है कि वर्तमान भारत के लोग

उनके उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय पूर्वजों के वंशज हैं। आर्यों के भारत आने से बहुत समय पूर्व अर्थात आज से करीब १,३५,००० से ७५,००० वर्ष पहले पूर्वी अफ्रीका भू–भाग में बाढ़ आने से वहाँ की करीब ९५ प्रतिशत जनसंख्या विस्थापित हुई और उनमें से कुछ ने दक्षिण समुद्री तट होते हुए अंडमान तक का रास्ता लिया जो इस क्षेत्र के आदिपूर्वज पाये गये। ६५ हजार वर्ष पहले दक्षिण भारत में मानव समूह अन्यत्र से आकर रहने लगे एवं ४० हजार वर्ष पहले उत्तर भारत में। कालान्तर में दोनों भू–भागों के वे आदि–मानव आपस में घुले मिले और उनके मध्य पैदा हुए सम्बंधों से मिश्रित जनसंख्या सामने आई। यह जनसंख्या दोनों किस्म के पूर्वजों से भिन्न पैदा हुई। यही जनसंख्या आज के भारत का प्रतिनिधित्व करती है। राष्ट्र की आदि–मानवता के इन वंशजों के जैविक विश्लेषण से यह तथ्य उजागर हुआ है। यह अद्‌भुत संयोग है कि इसी क्रम में जैनेटिक रोगों की दृष्टि से आंचलिक विशेषताएँ सामने आई जो यह संकेत देती हैं कि भारत की जनसंख्या का करीब ७० प्रतिशत हिस्सा जैनेटिक असंतुलन (disorder) से ग्रसित है और इसी वजह से आंचलिक एवं मानव समुदाय विशेष के स्तर पर जेनेटिक रोग पाये जाते हैं यथा पारसी महिलाओं में स्तन–कैंसर, चित्तूर व तिरुपति के निवासियों में मोटर न्यूरोन बीमारी और पूर्वोत्तर तथा मध्य भारत के आदिवासियों में 'स्किल सैल एनीमिया'।

शोधार्थियों के अनुसार इस मत में कोई दम नहीं है कि प्राचीन भारत में कोई मानव समूह मध्यपूर्व यूरोप, दक्षिण पूर्व एशिया अथवा आस्ट्रेलिया से भारत आये। उल्लेखनीय है कि इस अध्ययन का आधार जेनेटिक्स है इसलिए एकांगी दृष्टि से किसी विषय को देखना आधिकारिक नहीं माना जा सकता। वैज्ञानिक द्वै का निष्कर्ष जैविक–प्रजातीय विशिष्टताओं के अध्ययन पर आधारित है। और भी बहुत से अनुशासन हैं, जिनके आधार पर आर्य–अनार्य की अवधारणाओं को परखा जा सकता है। इनमें नृतत्व–विज्ञान, उत्खनित सभ्यताई अवशेष, सांस्कृतिक परंपरा प्रचलित मिथक–कथाएँ, भाषा आदि प्रमुख हो सकते हैं। उदाहरणार्थ डॉ० रामविलास शर्मा ने भाषा–विज्ञान को आधार बनाकर यह प्रस्थापना दे दी कि 'आर्य भारत में बाहर से नहीं आये।' यह मत भी निराधार है। इसे आधिकारिक निष्कर्ष नहीं माना जा सकता। अद्यतन शोध से यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदू पौराणिक ग्रंथों में वर्णित क्षीरसागर वास्तव में केस्पियन समुद्र है जिसके पानी का रंग दूधिया है। यह अवधारणा जो कालांतर में मिथक बनी, मध्य–पूर्व से जुड़ी हुई है। स्पष्ट है कि वहीं कहीं से आर्य प्रजाति भारत में आयी और जो एक स्थापित मत है। वह मानव समुदाय गति एवं तैयारी के साथ आया था (जैसा कि हर अक्रांता आता है) इसलिए पुराने वासिंदों पर विजय प्राप्त करता गया। आर्यों के आगमन से पूर्व के मानव समाज से सम्बन्धित शोधार्थी वैज्ञानिकों–लालजी सिंह एवं थंगराजन से यहाँ इस सीमा तक सहमत हुआ जा सकता है कि आर्य–पूर्व भारतीय मानव–समाज के सम्पन्न व चालाक वर्ग ने अपने ही समाज के आम आदमी के ऊपर वर्चस्व कायम करना आरम्भ कर दिया। यही वजह है कि जिन्हें हम अनार्य या द्रविड़ मानते हैं उनमें भी आर्य (आज की हिंदू मानसिकता) परम्परानुरुप पुरातनपंथवाद पाया जाता है।

लालजी सिंह एवं थंगराजन के शोध–निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए यदि भारत की आदिम मानवता अर्थात् वर्तमान के आदिवासियों पर चर्चा की जाये तो यह कहना शायद ठीक हो

कि प्रथमत: भारत के मूलवासियों के वंशजों को तो तलाशना कठिन ही नहीं, असम्भव है। चूँकि किसी भी अध्ययन से यह सिद्ध नहीं हुआ है और यह तार्किक विसंगति होगी कि पृथ्वी के किसी भी भू–भाग पर जो इंसान आदि मनुष्य के रुप में पैदा हुआ उसके वंशज उसी भू–भाग में वर्तमान तक रहते आये। मूलवासी की अवधारणा का यदि ऐसा अर्थ निकाला जाता है तो वह तर्कसम्मत नहीं होगा और कई तरह की भ्रांतियां पैदा करेगा। ज्ञात प्राचीनकाल से किसी भू–भाग पर रहते आये मानव–समुदाय को यदि मूलवासी की संज्ञा दी जाये तो शायद यह मानने में कोई गुरेज नहीं और इस दृष्टि से भू–भाग विशेष की सापेक्षिकता के स्तर पर ऐसे मानव–समुदायों को आदिवासी कहा जा सकता है। दूसरे, जो मानव–समुदाय भारतीय समाज की तथाकथित मुख्य धारा से भौगोलिक और वहाँ विकसित जीवन के विभिन्न पक्षों के स्तर पर अलग–थलग रहते आये मगर आदि–मानवता के सरोकारों को संरक्षित रखते रहे यथा प्रकृति व मानवेतर प्राणी जगत के साथ सह अस्तित्व, सामूहिकता, आदिम सामाजिकता, सांस्कृतिक परंपराएँ कायम रखे, उन्हें आदिवासी संज्ञा दी जानी चाहिए। कुल मिलाकर भारत के ज्ञात आदि–जन के शुद्ध वंशज जो वक्त की रफ्तार से पैदा हुई हवाओं से बहुत कम प्रभावित हुए, सब मिलाकर वर्तमान का आदिवासी समाज बनाते हैं।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में आदिवासियों पर ब्रिटिश काल से पहले कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं हुआ। पौराणिक काल में सुरासुर संग्राम शृंखला एवं महाकाव्य काल के सन्दर्भों के अलावा कोई उदाहरण हमारे सामने नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश काल से पहले के इतिहास में आदिवासी समाज को लेकर कोई विमर्श सामने नहीं आया। समाज के प्रबुद्ध वर्ग व राजसत्ता ने भी इस समाज की ओर कोई ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी। इसी का परिणाम है कि आदिवासी समुदाय अपने अतीत–कालीन जंगल, पहाड़ी इलाकों में रहते चले आये। इसके दो पहलू खासकर उभर कर सामने आते हैं। सुखद पहलू यह है कि शेष समाज या व्यवस्था ने किसी भी स्तर पर आदिवासी समाज के जीवन में हस्तक्षेप नहीं के बराबर किया। यही कारण रहा कि आदिवासी संस्कृति, परम्परा व जीवनशैली संरक्षित व अप्रभावित रहती चली आई। इसका दुखद पहलू यह रहा कि विकास की धारा से आदिवासी समाज अलग–थलग पड़ा रहा।

ब्रिटिश काल में चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी कालखण्ड रहा हो या ब्रिटिश राजसत्ता, एक नीति के तहत आदिवासी अंचलों में हस्तक्षेप आरम्भ किया गया, जिसका प्रमुख उद्‌देश्य प्राकृतिक सम्पदा का दोहन था। इसी समयावधि में विशेष रुप से ब्रिटिश प्रशासक–विद्वानों ने आदिवासी समाज पर गम्भीर शोध व अध्ययन किये जिनमें नृतत्व विज्ञान का दृष्टिकोण प्रमुख रुप से हावी रहा। इन विद्वानों में डाल्डन, रिस्ले, थ्रस्टन, एन्थोवेन, क्रूक व रसैल शामिल थे।

नदीम हसनेन ने अपनी पुस्तक 'ट्राईबल इण्डिया' में यह स्पष्ट जिक्र किया है कि भारतीय राजनैतिक व बौद्धिक नेतृत्व ने भी ब्रिटिश काल में आदिवासी समाज पर कोई ध्यान नहीं दिया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, अरविन्द घोष, विपिन चन्द्र पाल, महादेव गोविन्द राणाडे, गोपाल कृष्ण गोखले व बाल गंगाधर तिलक जैसे राष्ट्र नायकों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज, सत्ता, धर्म आदि की चिन्ता व इन विषयों पर चिन्तन करने के बावजूद आदिवासी समाज उनके एजेंडा में

शामिल नहीं रहा। निहाररंजन राय ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सन्दर्भ देते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में कांग्रेस के एजेन्डा में दलित वर्ग था, लेकिन आदिवासी समाज नहीं रहा। आदिवासी समाज की ओर सर्वप्रथम मुखर रुप से पण्डित जवाहर लाल नेहरु ने चिन्ता जाहिर की। इसकी पृष्ठभूमि में डॉ० अम्बेडकर एवं पं० नेहरु के प्रभाव से आदिवासी समाज के उत्थान के लिए भारतीय संविधान में विशेष प्रावधान रखे गये।

सर्वोच्च न्यायालय ने ११ जुलाई, सन् १९९७ के अपने एक निर्णय में स्पष्ट कहा कि 'संविधान की मंशा है कि अनुसूचित क्षेत्रों की जमीन हमेशा आदिवासियों की बनी रहे, अन्यथा इन क्षेत्रों की शांति भंग होगी।' प्रकारांतर से, इनके अस्तित्व को खतरा पैदा हो जायेगा।

आदिवासियों के सम्बन्ध में ५ जनवरी, २०११ को उच्चतम न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय सुनाया। निर्णय १३ मई, १९९४ को भील आदिवासी महिला नंदा बाई के उत्पीड़न से सम्बधित था जिसमें अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा अपराधियों को अपर्याप्त सजा सुनाई थी। उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट कहा कि 'यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज आदिवासी, जो कि सम्भवतया भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं अब देश की कुल आबादी के ८ प्रतिशत बचे हैं। वे एक तरफ गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी, बीमारियों और भूमिहीनता से ग्रस्त हैं वहीं दूसरी तरफ भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या जो कि विभिन्न अप्रवासी जातियों की वंशज है उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करती है। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय में ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ विस्तार से इस बात की चर्चा की गई है कि भारत के असली मूल निवासी कौन है—द्रविड़ या उनसे पहले से रह रहे आदिवासी! सारी बहसों को सामने रखते हुए 'दी केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (भाग—१) के माध्यम से यही साबित किया गया है कि द्रविड़ों से पहले भी यहाँ आदिवासी रहते थे और वर्तमान मुण्डा, भील आदि उनके ही वंशज हैं।

फैसले में 'वर्ल्ड डायरेक्ट्री ऑफ माईनोरिटीज एण्ड इण्डीजीनस पुपिल—भारत: आदिवासी' (गूगल) लेख का जिक्र करते हुए बताया गया है कि शौर्य के धनी भीलों को १७वीं सदी में निर्दयता से कुचला गया। इनको अपराधी के रुप में पकड़ कर मार दिया जाता था। इनका सफाया करने की भरपूर कोशिश की गई है। कुछ भील जहाँ—तहाँ जंगलों और कंदराओं में छिप गये। फैसले में विभिन्न प्रजातियों के बाहर से भारत में आने के सिलसिले का सन्दर्भ दिया है जिनके दबाव में मूल आदिवासियों को अपनी भाषा व संस्कृति से समझौता करना पड़ा। इसके बावजूद मुण्डारी जैसी भाषाएँ सबसे प्राचीन सिद्ध होती हैं।

प्रस्तुत निर्णय में उपेक्षित, वंचित आदिवासी समाज के उत्थान के लिए संविधान में किये गये प्रावधानों का जिक्र किया गया है। 'ऐतिहासिक रुप से वंचित तबकों को विशेष सुरक्षा और अवसर दिये जाने चाहिए ताकि वे खुद को ऊपर उठा सकें। इसके लिए संविधान के अनुच्छेद १५(४), १५(५), १६(४), १६(४), ४६ आदि में विशेष प्रावधान किये गये हैं।' निर्णय में जोर देकर यह कहा गया है चूँकि आदिवासी यहाँ के मूल निवासियों के वंशज हैं, इसलिए उन्हें पर्याप्त सम्मान दिया जाना चाहिए। फैसले में एकलव्य की घटना को रेखांकित करते हुए फैसले के बिन्दु क्रम सं. ३८ के तहत लिखा है : 'यह द्रोणाचार्य की ओर से एक शर्मनाक कार्य था जबकि उन्होंने एकलव्य को सिखाया भी नहीं, फिर किस आधार पर गुरु दक्षिणा मांग ली और वह भी उसके दाँये हाथ का

अँगूठा, जिससे कि वह उनके शिष्य अर्जुन से श्रेष्ठ धनुर्धर न बन सके'। फैसले में आदिवासियों के बारे में कहा गया है कि वे सामान्यतया अन्य नागरिकों से ईमानदार, चरित्रवान होते हैं। यही वह समय है कि हम इतिहास में उनके साथ हुए अन्याय को दुरुस्त कर सकें।

यह अत्यन्त उल्लेखनीय बात है कि नंदा बाई के मुकदमे के बहाने भारत के उच्चतम न्यायालय ने आदिवासियों से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों को रेखांकित करते हुए व्यवस्था को आगाह किया है कि अगर आदिवासियों की अस्मिता व उत्थान को प्राथमिकता के आधार पर नहीं लिया गया तो यह देश के लिए शर्मनाक होगा। यह निर्णय आदिवासियों के कल्याण के लिए मील का पत्थर सिद्ध होना चाहिए और वह भी उस दौर में जब देश की करीब ४० प्रतिशत प्राकृतिक सम्पदा की रक्षा आदिवासीजन हजारों सालों से करते आ रहे हैं और अब उस सम्पदा को देशी—विदेशी कम्पनियों द्वारा छीनने की भरसक कोशिश की जा रही है। आदिवासियों का हित केवल आदिवासी समुदाय का हित नहीं है प्रत्युत सम्पूर्ण देश व समाज के कल्याण का मुद्दा है जिस पर व्यवस्था से जुड़े तथा स्वतन्त्र नागरिकों को बहुत गम्भीरता से सोचना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण में विशेष रुप से आजादी की लड़ाई के दौरान से लेकर इस उत्तर आधुनिक दौर तक बावजूद प्रयासों के आदिवासी समाज अपेक्षित रुप में नहीं बदला है और वर्तमान में नक्सलवाद जैसी समस्या को ध्यान में रखते हुए इस समाज के उत्थान की बात की जाये तो बहुत कुछ करना शेष है। महान विद्वान एल्विन वेरियर ने एक महत्वपूर्ण बात कही है कि 'केवल स्वतंत्रता के नारे से आदिवासी समाज का उत्थान सम्भव नहीं है। यह तभी सम्भव होगा जब सरकारी कार्यक्रम उन पर बाहर से लादे नहीं जायें बल्कि उनके द्वारा आत्मसात् करने के साथ उनका क्रियान्वयन किया जाये।'

आदिवासी समाज को समझने के लिए जितने भी बिन्दु उभर कर सामने आये हैं, उनके साथ ही यह एक महत्वपूर्ण पक्ष है कि नृतत्व विज्ञान की दृष्टि से समाज के किन मानव समुदायों को आदिवासी की श्रेणी में रखा जाये। यह संकेत पूर्व में दिये जा चुके हैं। जब हम ऐसे समुदायों की संख्या पर कोई आधिकारिक निष्कर्ष निकालते हैं तो भारतीय संविधान में अनुसूचीबद्ध कुल ५८३ आदिवासी समुदायों के साथ अपरिगणित एवं घूमन्तु समुदाय भी इसमें जोड़े जायेंगे। वे ब्रिटिशकाल में आपराधिक जनजातीय अधिनियम में आदिवासियों के रुप में चिह्नित किये हुए थे। इनके अलावा कई मानव समूह ऐसे भी हैं जो आदिवासी के रुप में चिह्नित नहीं किये गये लेकिन वे नृतत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आदिवासी श्रेणी में आने चाहिए। इसी से जुड़ा हुआ एक अन्य मुद्दा उन समुदायों का हो सकता है जो स्वयं को परम्परागत रुप से मूल वासी समाज की उपश्रेणियों के रुप में स्वीकार करते हैं। बहरहाल जो स्थिति सामने आती है उसमें संविधान में अनुसूचीबद्ध—समुदायों अपरिगणित एवं घूमन्तु मानव समुदायों को आदिवासी समाज की श्रेणी में स्वीकार करना चाहिए। इनकी कुल संख्या १०४८ हैं। यह संख्या चिह्नित आदिम समुदायों की पहचान के आधार पर तैयार की गई है ना कि संविधान या राज्य या जिला या तालुका स्तर पर उपलब्ध सूचियों के आधार पर। ऐसा इसलिए किया गया है कि संविधान, राज्य व नीचे की ईकाइयों को आधार मानने से समुदायों की पुनरावृत्ति होती है। इसलिए अधिकारिक आंकलन समुदाय को आधार मानकर ही सम्भव हो सका।

विमर्श

आदिवासी: मिथ और यथार्थ

*रणेन्द्र

यह लेख पद्मश्री स्व० डॉ० रामदयाल मुंडा से की गई बातचीत पर आधारित है, बातचीत के दौरान उन्होंने कई अध्ययन सामग्रियों का भी जिक्र किया, जिनका उपयोग इस लेख में किया गया है। आज जब झारखण्ड का वह बौद्धिक महापुरुष हमारे बीच नहीं हैं उनकी बातें ही हमारी पथप्रदर्शक रहेंगी। अतएव यह आलेख पुनर्पाठ की बार-बार माँग करता है।

स्वास्थ्य संबंधी मिथ :

बातचीत प्रारम्भ होते ही डॉ० रामदयाल जी ने डॉ० अमर सिंह के सोशल चेंज में छपे उस आलेख का जिक्र किया जिसमें डॉ० सिंह ने आदिवासियों से जुड़े मिथों का परीक्षण किया है। इस आलेख में डॉ० सिंह ने आदिवासियों के स्वास्थ्य संबंधी मिथों की चर्चा की है। सामान्य धारणा है कि आदिवासी बहुत हट्टे–कट्टे स्वस्थ–तंदरुस्त लोग होते हैं। प्रकृति की गोद में, प्रकृति के निकट रहने के कारण ये बीमारियों से दूर रहते हैं। किन्तु डॉ० मुंडा ने टिप्पणी की, कि स्थिति बिल्कुल भिन्न है। झारखंड के आदिवासी इलाकों में मलेरिया ने महामारी का रुप ले लिया है। बरसात के दिनों में 'डायरिया' फैलना एक आम बात है। स्वर्णरिखा जैसी प्रदूषित नदी के किनारे के ग्रामीणों में कुष्ठ रोगियों की संख्या तुलनात्मक रुप से ज्यादा है। खानों में काम करने वाली आबादी में टी.बी. एवं खांसी रोग के मरीज बढ़ते जा रहे हैं। जादूगोड़ा के इलाके में रेडियो एक्टिव कचरे ने आदिवासियों की अगली पीढ़ी को ही विकलांग बना दिया है। इस भयावह यथार्थ में से केवल मलेरिया के मामले को अगर ठीक से देखा जाए तो स्थिति थोड़ी और स्पष्ट होगी।

९० के दशक में 'डायरेक्टरेट ऑफ हेल्थ सर्विसेज' ने रोगियों का जो आंकड़ा पेश किया था, उसके अनुसार, झारखंड के गढ़वा, पलामू, चतरा, कोडरमा, हजारीबाग, पूर्वी सिंहभूम, पश्चिमी सिंहभूम एवं गुमला के साथ संताल परगना के लगभग सारे जिले–गोड्डा, दुमका और साहेबगंज मलेरिया से बेहद प्रभावित हैं... यहाँ के लोग मलेरिया के साथ ही बढ़ते हैं और इसी के साथ मरते भी हैं। इसका प्रमाण यहाँ के बच्चों एवं बड़ों में बढ़ी हुई प्लीहा (स्प्लीन) है जो बार–बार मलेरिया से ग्रसित होने के कारण इतनी बढ़ जाती है कि इसे एक अलग बीमारी के तौर पर (जिसे 'ट्रोपिकल स्प्लीनोमेगेली सिंड्रोम' कहते हैं) लिया जाने लगा है... इस राज्य की व्यापक आबादी के बीच लोगों के रक्त में छिपे मलेरिया विषाणुओं के जो सर्वेक्षण हुए हैं, उसमें रक्तपट धनात्मकता लगभग २० से ३० प्रतिशत पाई गई है। उनमें भी फेल्सीपेरम मलेरिया के विषाणु ३० से ८० प्रतिशत के बीच पाए गए हैं। झारखंड को लेकर पिछले कुछ वर्षों में एक ज्यादा चिंतनीय

*संयुक्त निदेशक, श्री कृष्ण लोक प्रशासन संस्थान (SKIPA), राँची, झारखण्ड, मो. 09431114935

स्थिति जो दिख रही है, वह है फेल्सीपेरम की बढ़ती संख्या। जमशेदपुर, पलामू एवं गुमला के सर्वेक्षणों में फेल्सीपेरम से आक्रांत रोगी ८० से १०० प्रतिशत तक के बीच पाए गए हैं। ऐसा क्यों हो रहा है, यह एक अलग अध्ययन का विषय है। दरअसल खतरे की बात भी यही है, क्योंकि मलेरिया से होने वाली मौतों में ९७ प्रतिशत रोगी इसी किस्म के विषाणु से सक्रमित पाए गए हैं। बच्चों तथा गर्भवती स्त्रियों के लिए तो यह और भी जानलेवा साबित होता है क्योंकि फेल्सीपेरम मलेरिया से हुई मौतों में करीब आधी (५६७६०:) गर्भवती स्त्रियाँ पाई गईं, जबकि लगभग एक तिहाई (३३७३०:) बच्चे थे।'' तो यह है आदिवासियों के हट्टे–कट्टे, स्वस्थ होने के मिथ का यथार्थ।

वर्गविहीन समाज का मिथ :

डॉ० मुंडा के अनुसार सैद्धांतिक रुप में आदिवासी समाज एक जाति–वर्गविहीन समतामूलक समाज है। इसके बावजूद कि भारतीय उपमहाद्वीप की विभिन्न समाज व्यवस्थाएं हिंदू जाति–वर्ण व्यवस्था से बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। आदिवासी क्षेत्रों पर इसका प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा है। इसका कारण यह है कि पहले यह क्षेत्र दुरुह और अगम्य था। इसीलिए यहाँ बाहरी प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ा। इनमें समता का बोध न सिर्फ अंतरसामुदायिक रहा, बल्कि यह समानता समाज में स्त्री–पुरुषों के आपसी संबंधों में भी देखी जा सकती है। एक प्रतीक रुप में सम्मान का अंतर छोड़ कर किसी गांव के ग्राम–प्रधान और एक सामान्य सदस्य की हैसियत के बीच कोई खास अंतर नहीं होता।

श्रम की महत्ता और समानता आदिवासी समाज की विशेषता थी, लेकिन समतामूलक आदिवासी समाज की अवधारणा आज एक मिथ मात्र बन कर रह गई है। यह वर्गविहीन साम्य उस काल में सच्चाई थी जब संसार के सभी आदिवासी क्षेत्रों की तरह झारखंडी अर्थव्यवस्था सामुदायिकता पर आधारित थी। हवा की तरह जमीन, जंगल और जल व्यक्तिगत संपत्ति नहीं, बल्कि सामुदायिक संसाधन थे। किन्तु सन् १६२७ ई० में जब राजा दुर्जन साल मुगल बादशाह जहांगीर के कैद से लौटा, तब से स्थिति बदलने लगी। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्थाई बंदोबस्ती (१७९३ ई.) की राजस्व व्यवस्था लागू होते ही स्थिति बिल्कुल बदल गई। जंगल से अधिकार क्रमशः घटता चला गया। भूमि न केवल व्यक्तिगत संपत्ति में तब्दील हो गई, बल्कि 'जिंस' की तरह खरीदी–बेची–रेहन रखी जाने लगी। जो आदिवासी समाज में निहित सामुदायिकता के लिए बहुत ही आघातकारी साबित हुआ, परिणामस्वरुप प्रतिकार–विद्रोह, क्रांति–उलगुलानों का सिलसिला प्रारंभ हुआ। नतीजनतन साम्राज्यवादी प्रशासन ने परंपरा में अपना सम्मान व्यक्त करते हुए इस क्षेत्र में उस समय प्रचलित प्रथाओं को कानूनी स्वीकृति (विल्किंसन रुल, संताल परगना टेनेंसी एक्ट और छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट) दे दी। इसके बावजूद व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा हावी होती चली गई। आदिवासी पुरुष को लगा कि चूंकि रिकार्ड में उसका नाम दर्ज है अतएव मालिक वही है। ऐक्ट में किए गए संशोधनों ने भूमि हस्तांतरण के वैध–अवैध तरीके ईजाद किए। सामुदायिकता लुप्त हो गई। वर्ग–विहीन समाज वर्गों में बंटता चला गया।

ऐसी कारीगर जातियाँ जिन्होंने ग्राम–समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को

अपना व्यवसाय बना रखा था, जंगल—जमीन पर से सामुदायिक हक समाप्त होने की प्रक्रिया के कारण निम्नतर आर्थिक हैसियत में आने लगीं। कृषि से जुड़े समुदाय संताल, मुंडा, उरांव, हो चेरो, खरवार, खड़िया आदि, जिनके नाम से भूमि के खतियान बने थे, जिनके कब्जे में कृषि योग्य भूमि थी, धीरे—धीरे तुलनात्मक रुप से बेहतर स्थिति में आ गए। तीसरी श्रेणी में ऐसी आदिम जनजातियां हैं, जिन्होंने भ्रमणशील जीवन शैली अपना रखी थी, कृषि को पेशा बनाने में पिछड़ गईं, भोजन संग्रहण और शिकार ही पेशा बना रहा, नतीजन वे सबसे निम्नतम स्थिति में पहुँच गईं। चिक बड़ाईक (कपड़ा बुनने वाली जाति), लोहरा, महली जैसी आदिवासी कारीगर जातियां बाजार घटने के कारण अपनी उत्पादन प्रक्रिया से कटती चली गईं। कुशल कारीगर जातियां पूंजीवादी विकास की आंधी से उखड़ कर भूमिहीन अकुशल मजदूर में बदल गईं। यही स्थिति असुर, बिरजिया, बिरहोर, कोरवा, परहैया, माल पहाड़िया, सौरिया पहाड़िया आदि आदिम जनजातियों की भी है। कृषि योग्य भूमि इनके पास नहीं है, सरकार ने जो भूमि बंदोबस्त की है वह खेती योग्य है नहीं और, हाथ में जो हुनर है उसकी बाजार में मांग नहीं है।

संपूर्ण आदिवासी समाज को इस वक्त (१) कृषक आदिवासी समाज, (२) कारीगर आदिवासी समाज और (३) आदिम आदिवासी समाज के तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वैसे यह वर्ग—विभाजन बहुत सरल भी नहीं है, क्योंकि पूंजीवादी विकास की तेज प्रक्रिया ने झारखंडी समाज पर बहुत ही विध्वंसकारी प्रभाव डाला है। बड़ी—बड़ी परियोजनाओं (डीवीसी, एचइसी, बोकारो, राउरकेला स्टील प्लांट इत्यादि) ने बड़ी संख्या में आदिवासी समाज को विस्थापित किया है। बहिरागतों की कई लहरों ने आबादी का स्वरुप ही परिवर्तित कर दिया। आदिवासियों की जनसंख्या कुल समाज में ७० : ३० अनुपात में थी। विगत दो सो वर्षों में वह ३० : ७० में सिमट कर रह गई है। बेशक ईसाई मिशनरियों और ठक्कर बापा के आदिम जाति सेवा मंडल जैसे संस्थानों के प्रयास से उरांव, संताल, मुंडा, खड़िया एवं हो समाज के मुट्ठी भर लोगों ने शिक्षा ग्रहण की, नौकरियां पाईं और एक छोटे मध्यवर्ग का निर्माण किया। मगर इस मध्य वर्ग को छोड़ कर समस्त आदिवासी समाज की स्थिति बदतर ही है।

स्त्री—समानता का मिथ :

आज आदिवासी समाज में स्त्री—पुरुष समानता भी एक मिथ बन कर रह गया है। हालांकि आज भी कथित मुख्यधारा के समाज में आम स्त्री की जो हैसियत है, उससे कहीं बेहतर स्थिति में आदिवासी स्त्री है। आदिवासी स्त्रियां अपने व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र दिखती हैं और जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में पुरुषों के साथ उनकी सहभागिता दिखाई पड़ती है, किंतु औपनिवेशिक सत्ता के प्रभाव से स्थापित जमींदारी—सामंती प्रथा के तत्वों ने अपना कुप्रभाव डाला। आदिवासी स्त्री की स्थिति समाज में बदतर हुई। डब्ल्यू.जी. आर्चर ने अपनी पुस्तक 'ट्राइबल लॉ एंड जस्टिस' में ग्राम सभा की बैठकों में महिलाओं की उपस्थिति एवं उनके निर्णयों के प्रभाव का उल्लेख किया है (द संताल मिथ ऑफ वुमन, पृष्ठ १२९)। लेकिन बाद के दिनों में ग्राम सभा की बैठकों से महिलाएं अनुपस्थित होती चली गईं। डॉ० मुंडा के अनुसार, दुर्योग से संविधान में निषिद्ध होने के बावजूद झारखंड क्षेत्र में नई आबादी के आरोपण एवं औद्योगिक विकास का लाभ कुछ ही लोगों के बीच सीमित हो गया, जिसके कारण जात—पाँत एवं

संपन्न—विपन्न होने के भेद ने झारखंडी आदिवासी समाज में कई खाइयाँ खड़ी कर दी हैं। इन नवागंतुक लोगों ने एक षड्यंत्र के तहत यहाँ की राजनीतिक सत्ता भी हथिया ली है। जात—पाँत की पृष्ठभूमि वाले ये लोग स्थानीय समुदायों की सामाजिक प्रथाओं पर भी नकारात्मक प्रभाव डाल रहे हैं।

इन लोगों ने आदिवासी समाज में स्त्री—पुरुष संबंध को भी प्रभावित किया है। स्वतंत्र और खुले में रहने वाली झारखंडी स्त्री पर्दानसीन और कुंठाग्रस्त बन रही है और उसका कार्यक्षेत्र घर—आंगन तक ही सीमित होता जा रहा है।

बाहरी समाजों के प्रभाव को छोड़ भी दें, तो स्त्री समानता एक मिथ ही लगता है। डब्ल्यू.जी. आर्चर (१९०७—७९ ई.) ने 'ट्राइबल लॉ एंड जस्टिस' के 'द राइट्स ऑफ संताल वुमैन' अध्याय (पृष्ठ १८७ से २०१) में यह लिखा है कि व्यवहार में आदिवासी महिलाओं ने अपनी श्रमशक्ति और उपादेयता के कारण परिवार में भले ही निर्णयात्मक स्थान ग्रहण कर लिया हो सिद्धांतत: उन्हें समाज में पुरुष की तुलना में दोयम दर्जा ही हासिल है। वह जब तक कुंवारी है तब तक अपने पिता—भाई की, विवाहोपरांत पति और वृद्धावस्था में पुत्र की जिम्मेवारी मानी जाती है। उसने अगर किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन किया है तो ग्राम के 'पंच' उसकी अवस्थानुसार उस पर जुर्माना लगाते हैं और उम्मीद करते हैं कि उसके पति, पिता भाई या पुत्र उसे चुकाएंगे। बहुत सारी सामाजिक—आर्थिक गतिविधियों से महिलाओं को वंचित कर दिया गया, जैसे—हल चलाना, खेत को समतल करना, छप्पर छाना, तीर—धनुष चलाना, उस्तरे का उपयोग, बरमा से छेद करना, कुल्हाड़ी चलाना, बंशी—कांटा से मछली फंसाना, कपड़ा बुनना, खटिया बुनना आदि। वे पुरुषों का वस्त्र धारण नहीं कर सकतीं, न उनके उपकरणों का उपयोग कर सकती हैं। चूंकि महिलाएं ही 'डायन' बन सकती हैं इसीलिए न तो वे 'शव' के साथ अंतिम यात्रा में भाग ले सकती हैं, न ही मांझीथान में नगाड़ा बजा सकती हैं। स्पष्टतया अन्य समाजों की तरह ही जब संपत्ति की अवधारणा विकसित हुई तो आदिवासी समाज ने भी 'स्त्री' को मात्र एक 'संपत्ति' ही मान लिया। आदिवासी समाज में भी स्त्री पुरुष की प्रतिष्ठा और 'शान' की वस्तु है।

हिंदुत्व का मिथ :

डॉ० मुंडा ने आदिवासियों के परिप्रेक्ष्य में हिंदुत्व के मिथ की चर्चा की। उनका कहना था कि यह मिथ खड़ा किया जा रहा है कि हिंदुत्व का मूल स्वरुप आज आदिवासी समाज में ही सुरक्षित तौर पर बचा हुआ है। आज के दिन आदिवासी ही सच्चे हिंदू हैं। बहुत जोर देकर इसे बार—बार दुहराया जा रहा है। उन्होने व्यंग्य करते हुए कहा कि अगर हिंदुत्व हममें ही सच्चे स्वरुप में है तो वे मंदिरों में हनुमान को क्यों स्थापित कर रहे हैं, हमें ही स्थापित कर दें! यथार्थ में ऐसा है नहीं, यह स्पष्ट है कि वे लोग हमें हथियार बनाना चाहते हैं। गुजरात में इस हथियार का वे उपयोग कर भी चुके हैं। इसीलिए कुछ ज्यादा ही अपनापन दिखा रहे हैं। निर्विवाद रुप से हम आदिवासियों का सहिष्णुता पर आधारित एक विशिष्ट प्रकृतिवादी धर्म—दर्शन है, जिसे आदिधर्म (सरना) कहा जा सकता है। आदिधर्म से हमारा तात्पर्य भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वरुप से है, जिसे प्रकारांतर में एनिमिज्म, एनिमिस्टिक रिलीजन, प्रिमिटिभिज्म, प्रिमिटिभ रिलीजन, एवोरिजिनल रिलीजन, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म,

सरनाइज्म, सरना धर्म, बोगाइज्म इत्यादि नामों से विहित किया गया है। भारतीय संविधान में आदिवासियों को सांस्कृतिक रुप से एक विशिष्ट समुदाय माना गया है, किंतु उनकी कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर प्रति दस वर्षों में होने वाली जनगणना में उनकी धार्मिक पहचान दर्ज करने के लिए मात्र 'अन्य' का विकल्प है, इसके परिणामस्वरुप जो आदिवासी स्पष्ट रुप से अपने को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे हिंदू के अंतर्गत ही चिन्हित होने को विवश हैं। हमारा मानना है कि आदिवासी ने ईसाई, मुसलमान या बौद्ध धार्मिक समुदाय में धर्मांतरित होकर आंशिक रुप से अपने आदिवासीपन को खोया है, तो उसका विकल्प हिंदू बनाना/बनना कतई नहीं है। ऐसा करके आदिवासी सामाजिक मान्यता की सीढ़ी में कहीं ऊपर नहीं जा रहा। उस अवस्था में उसकी जगह सबसे नीचे (दलित से भी नीचे) ही बन रही है। तथाकथित मुख्यधारा का आकर्षण भ्रांतिपूर्ण है। आदिवासी के लिए उसके अंदर जाना अनंत काल के लिए गुलामी स्वीकार करना है।

विमर्श

विकास के जादू से वंचित जनाकांक्षाओं को अदृश्य नहीं किया जा सकता है

*वंदना टेटे

विकास एक जादुई शब्द है, तो बेदखली, विस्थापन और संघर्ष– यथार्थ। भारत के आदिवासी क्षेत्रों में पिछले ढाई सौ वर्षों से ये दोनों शब्द आमने–सामने हैं। इसके बीच में १९४७ का अगस्त महीना है। कहा जाता है इसी महीने में भारत 'स्वतंत्र' हुआ था। पर दोनों शब्द जिस तरह से आज भी अनवरत मुठभेड़ में हैं, 'स्वतंत्रता' शब्द पर विश्वास करना मुश्किल है। फिर, दोनों ही शब्द दो संस्कृतियां, दो राजनीतिक व्यवस्थाएं और दो जीवन मूल्यों की अभिव्यक्तियां हैं। पहले शब्द का प्रतिनिधित्व भारत का समर्थ दबंग समाज करता है, तो दूसरा कमजोर, वंचित आदिवासी और दलित समाज का। और तो और भारतीय संविधान की भी हैसियत भारतीय राजनीति और प्रशासनिक व्यवस्था में किसी दलित जैसी ही है, जिसे कोई नहीं सुनना चाहता। जिसकी परवाह संसद भी नहीं करती। इसीलिए जीवन और आजीविका के अंतिम पायदान पर खड़े लोगों को अपने अधिकारों (संविधान) की रक्षा के लिए बार–बार न्यायालय का दरवाजा खटखटाना पड़ता है। परंतु न्यायालय न्यायाधीश चलाते हैं जो इसी समाज–देश के नागरिक हैं और वे भी किसी न किसी सामाजिक वर्ग से आते हैं।

भारत में विकास शब्द औपनिवेशिक काल में आया था। तब से यह विश्वासघात का पर्याय बना हुआ है। इतिहास इस विश्वासघात के अनेक अमानवीय रुपों से भरा पड़ा है। वर्तमान आक्रांत है। झारखंड, उड़ीसा, छतीसगढ़ और दक्षिण के राज्यों में बसने वाले आदिवासी–दलित समुदाय 'विश्वग्राम' के आकाओं के पहले निशाने पर है। पश्चिम बंगाल के लालगढ़ में जो कुछ अभी–अभी हुआ वह सामने है ही। वहां की मार्क्सवादी सरकार जो पिछले तीस सालों से संताली अकादमी का एक बोर्ड नहीं लगवा सकी, राजकीय दमन को 'वैध' ठहराने के लिए हैलिकॉप्टर से संताली भाषा में पर्चे गिराती है। एक शांतिपूर्ण आदिवासी–दलित जनांदोलन को माओवादी 'ब्रांडिंग' कर उसे बुरी तरह से कुचल दिया जाता है। सर्वहारा की पैरोकार सरकार के राज्य में जब यह हश्र है, तो शेष राज्यों में भारत के वंचित समुदायों की स्थिति क्या होगी, यह कल्पना करने में भी भय होता है।

स्थापित इतिहासकार १८५७ को भारत का पहला स्वतंत्रता संघर्ष बताते हैं। आदिवासी युद्धों को जंगल–पहाड़ में चलने वाला छिटपुट विद्रोह कह कर साहस, वीरता और शहादत को

*सं./प्र. : 'अखड़ा', 'सोरिनानिङ', पत्रिका 'जोहार सहिया', 09234678580

'मुख्यधारा की नस्लीय श्रेष्ठता' के नाम सुरक्षित कर लेते हैं। जनइतिहास के अध्येताओं के अनुसार १७६७ से १९४७ के बीच आदिवासियों ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ छोटे–बड़े कुल ७२ जनयुद्ध किये। पहला मोर्चा १७६७ में झारखंड के पहाड़िया आदिवासियों ने राजमहल के पहाड़–जंगलों में खोला था। यह रुक–रुक कर १७८५ तक चला। १७८५ में भागलपुर में बाबा तिलका मांझी को फांसी देने के बाद ही इसे दबा पाना संभव हुआ। जबकि १७६९ में उत्तरी उड़ीसा और दक्षिण झारखंड के कोंड आदिवासियों ने रॉबर्ट क्लाइव को बंदी बना लिया था। इसके बाद भी उन्होंने क्लाइव की हत्या नहीं की। चेतावनी देकर इलाके से बाहर कर दिया। आदिवासी सहअस्तित्व में यकीन रखते हैं, हत्या में नहीं। इसके बाद के दो दशक आदिवासी–दलित जनयुद्धों की महागाथा से भरे पड़े हैं। १७६७ से चल रहे अनवरत जनयुद्धों में सम्मान और अधिकार के साथ जीने की उत्कट अभिलाषा है, क्रूरतम शासकीय दमन है, और हैं अनगिन शहादतें। उत्तर औपनिवेशिक भारतीय शासन में भी दमन का सिलसिला रुका नहीं है। जल, जंगल, जमीन से जबरन बेदखल किये जा रहे लोग अपने परंपरागत जीवन–संस्कृति को बचाने के लिए निहत्थे जनयुद्ध में शामिल हैं। इन जनयुद्धों को विकास विरोधी कह कर खारिज किया जा रहा है। सरकारी–गैरसरकारी पूंजीवादी मीडिया लूट–दोहन की परियोजनाओं को २०२० या २०५० तक की जरुरतों के लिए 'पानी–बिजली–ऊर्जा के लिए आवश्यक' बता कर 'राजकीय दमन' को वैध बनाने तथा जनसंघर्षों को 'अदृश्य' करने में लगी हुई है। फिर भी जीने की प्रबल आकांक्षा को खत्म कर पाना शासक वर्ग के लिए असंभव बना हुआ है।

भारत का वंचित समुदाय आज इतिहास से भी भयानक यातना के वर्तमान में जी रहा है। सोवियत संघ के ढहते ही पूरी दुनिया को मुनाफे के 'विश्वग्राम' में बदल देने का जो निर्मम खेल शुरु हुआ है। वह अत्यंत अमानवीय और लोमहर्षक है। दमन और क्रूरता के मध्ययुगीन तरीकों को भी मात देने वाला। भारत जैसे देशों के लोकतांत्रिक संकल्पों को ताक पर रख कर नई आर्थिक नीतियां थोप दी गईं। प्राकृतिक संसाधनों वाले आदिवासी इलाकों की बोलियां लगने लगीं। रातों–रात देशी–विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बिना किसी 'सिंगल विंडो' के पट्टे बाँट दिये गये। गरीब लेकिन संसाधनों से अमीर आदिवासी समुदायों के पास जब भूमि अधिग्रहण का नोटिस पहुँचा, तो वे अवाक् रह गये। उन्हें लगा वे इस देश के नागरिक ही नहीं हैं। उनसे यह पूछने की भी कोई जहमत नहीं की गयी कि वे क्या चाहते हैं। सिंचाई, शिक्षा, पानी, स्वास्थ्य या और कुछ। वे सब कुछ कहते इसके पहले ही उनके मुँह बारुद से भर दिये गये। सामान समेटने से पहले ही मार–मार कर खदेड़ दिया गया। जब उनमें से कोई कोर्ट पहुँचा, तो फैसला सुना दिया गया – 'राष्ट्रहित में विकास जरुरी है। विस्थापितों का मानवीय पुनर्वास सरकार की जिम्मेवारी है।' पिछले साठ सालों में झारखंड की लगभग सत्तर प्रतिशत आदिवासी–दलित–अल्पसंख्यक आबादी 'लापता' है। सरकार के किसी विभाग के पास इनके बारे में कोई रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं है। खनन, जंगल कटने और औद्योगीकरण से असंख्य गाँव भूगोल के नक्शे से 'डिलीट' हो चुके हैं। सरकार हर जनगणना के बाद आंकड़े रखकर बताती है कि आदिवासी आबादी में पिछले एक दशक में कितने प्रतिशत का 'ग्रोथ' हुआ है। इसे क्या कहा जाए मासूमियत या फिर धूर्तता!

यही वजह है झारखंड समेत देश के सभी आदिवासी इलाकों में विस्थापन के खिलाफ

लोगों का आक्रोश शांत नहीं हो रहा है। इससे सरकार और कंपनियां, दोनों ही चिंतित हैं। हालत यह है कि झारखंड गठन के बाद खनन एवं औद्योगिक विकास के लिए राज्य में जितने भी करार हुए हैं, जनता के उग्र विरोध के कारण लंबित हैं। प्रस्तावित परियोजना के कई इलाकों में कंपनी और सरकार के प्रतिनिधि जा ही नहीं सकते, परियोजना स्थापित करना तो दूर की बात है। लोगों ने पुरखा और वर्तमान, दोनों ही अनुभवों से विकास की अमानवीय अवधारणा को खारिज कर दिया है। जैसा कि उनके पुरखों ने ब्रिटिश शासन में किया था। इसलिए विकास के प्रति वंचित–दमित जनता का यह रुख कोई नयी परिघटना नहीं है। ब्रिटिश राज के बाद से बड़े पैमाने पर हुई जमीनों की लूट तथा पारंपरिक स्वतंत्रता का हरण इसके मूल में है। लेकिन गुलाम और आजाद भारत के शासकों में फर्क है। १७६७ से शुरु हुए विद्रोहों को दबाने के लिए ब्रिटिश राज ने हर तरह के हथकंडे अपनाए थे। इसके बाद भी जब वे आदिवासी असंतोष को नहीं कुचल सके, तो अंततः उन्हें घुटने टेकने पड़े। झारखंड में लागू अधिसूचित क्षेत्र कानून, सीएनटी एक्ट, एसपीटी एक्ट जैसे विशेष अधिनियम एवं कानून उसी के परिणाम हैं। इन कानूनों के माध्यम से अंग्रेजी राज ने यह जताने की कोशिश की कि ब्रितानी हुकूमत झारखंडियों की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए तो वचन देती है, परंतु वे औद्योगिक विकास के लिए खनन एवं अन्य व्यावसायिक गतिविधियां जारी रखने की जनस्वीकृति चाहते हैं। आजाद भारत में जबकि केन्द्र सरकार द्वारा साठ साल बाद वन्यजीवी समुदायों को अधिकार देने के लिए 'वनों पर परंपरागत हक का अधिनियम' बनाया और लागू किया जाता है। इस स्वीकारोक्ति के साथ कि उनके साथ 'ऐतिहासिक अन्याय' हुआ है।

अंग्रेजी राज द्वारा कानूनों को बनाना एक तरह से झारखंडी जनता से संवाद करना था। झारखंडियों के प्रबल विरोधों और हमलों को झेलते हुए दरअसल ब्रितानी हुकूमत एक तरह से हार मान चुकी थी। लगातार दो सौ से भी अधिक समय तक दमित समुदायों ने अनगिनत शहादतें देते हुए और अंतहीन अथक लड़ाईयों से यह साबित कर दिया था कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों के बिना जीवित नहीं रह सकते। इसीलिए बीसवीं सदी की शुरुआत होते–होते अंग्रेजों ने संवाद का रास्ता अख्तियार किया और आदिवासी–दलित हितों की रक्षा के लिए कई कानून बनाए। इसके साथ ही उन्होंने अपने संवाद को और पुख्ता करने के लिए 'धर्म' का सहारा लिया। आदिवासी इलाकों में उन्होंने मिशनरियों का जाल–सा बिछा दिया, 'सेवा' जिनका सबसे बड़ा हथियार था।

अब अगर आज सरकार को विस्थापन विरोधी समुदायों की वास्तविक समस्याओं को हल करना है, तो उन्हें संवाद की पहल करनी होगी। ऐतिहासिक अनुभवों को ्यान में रखते हुए सरकार और कंपनियों को दमन और आतंक के हथकंडे अपनाने से बचते हुए संघर्षरत जनता से सीधा संबंध कायम करना होगा। प्राकृतिक संसाधनों पर उनके मालिकाना हक को मान्यता देनी होगी। चोर दरवाजे से अधिसूचित क्षेत्र, सीएनटी एक्ट, एसपीटी एक्ट जैसे कानूनी प्रावधानों में फेरबदल कर या फिर कलिंग नगर, सिंगुर, नंदीग्राम, लालगढ़ जैसी कार्रवाईयों से मुश्किलें बढ़ेंगी ही। सरकार और कंपनियों को इस ऐतिहासिक तथ्य को आत्मसात् करने की जरुरत है कि अगर ब्रिटिश राज के गुलाम भारत में जब आदिवासी समुदाय दो सौ साल तक अनवरत लड़ते रहे, तो

लोकतंत्र में उन्हें दमन के जरिए नहीं रोका जा सकता है। दमन का रास्ता संवादहीनता का रास्ता है। विकास बरास्ता दमन, यह प्रस्थान बिंदु ही गलत है। सरकार और कंपनियों को अपनी भाषा बदलने की जरुरत है। उन्हें समझना होगा कि जो जनता विस्थापन का विरोध कर रही है, वह विकास विरोधी नहीं है। विकास की अवधारणा प्राथमिक तौर पर जन की ही रही है, जिसके ज्ञान—विज्ञान और कला—कौशल के बल पर मानव समाज ने आज इतनी तरक्की की है। इंसानी समाज के इतिहास में पूंजी जनित विकास का योगदान आंशिक ही है। और आज के पूंजी का चरित्र, तो 'हर कीमत' पर मुनाफे की अवधारणा पर टिका हुआ है। इसमें सामाजिक अथवा इंसानी विकास का पक्ष नगण्य है। यह अनुभव आजादी के बाद के साठ सालों के आदिवासी—दलित—वंचित भारतीय जनता का है। इस अनुभव को लाठी—गोली और बंदूकों से सरकार व कंपनियां नहीं झुठला सकतीं। बिजली से जगमगाते किसी भी भारतीय शहर की आखिरी परिधि पर घुप्प अंधेरे में डूबी आदिवासी—दलित और मलिन बस्तियाँ, झुग्गी—झोपड़ियां विकास के इस अंतरविरोध को समझने के लिए काफी है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि जनसंवाद तभी संभव हो सकेगा जब शासक वर्ग विकास की देशज अवधारणा को सुनने के लिए तैयार हो। अपनी राजनीतिक—सांस्कृतिक अस्मिता के लिए संघर्षरत विस्थापन विरोधी समुदायों से अब एक सवाल यह भी किया जाने लगा है— अच्छा आप इस विकास के विरोधी हैं तो क्या आपके पास विकास का अपना कोई मॉडल है? दरअसल यह सवाल करना ही उनके परंपरागत ज्ञान और सदियों से जीने के कौशल को नकारना है। उनके पास विकास की अपनी देशज अवधारणा है। जिसमें हथियारों एवं युद्ध सामग्रियों के निर्माण के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन शामिल नहीं है। मुनाफे के लिए खनन, बड़े डैम और विशालकाय उद्योगों, जो जन जरुरतों के लिए आवश्यक नहीं हैं, के लिए कोई जगह नहीं है। उनके विकास के मॉडल में समुदाय आधारित कृषि विकास, लघु एवं माध्यम सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण, वन आधारित आजीविका के स्थायी कार्यक्रम, देशज संस्कृति पर आधरित प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा का सर्वव्यापीकरण, देशज एवं आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार, बिजली, पेयजल, सड़क, संचार जैसी बुनियादी आधारभूत संरचना का निर्माण, स्थानीय एवं राष्ट्रीय जरुरतों के अनुरुप ही उद्योगों की स्थापना, भाषा—संस्कृति एवं अन्य धरोहरों का संरक्षण—संवर्द्धन, कुटीर उद्योग—धंधों को समुचित प्रोत्साहन, कल्याणकारी योजनाओं का प्रभावी क्रियान्वयन और भ्रष्टाचार रहित पारदर्शी एवं जिम्मेदार प्रशासनिक तंत्र।

अगर सरकार और कंपनियां वास्तव में राष्ट्रीय एवं सामाजिक विकास के लिए खनन एवं उद्योगों की स्थापना करना चाहती है, तो उन्हें विकास की इस जन अवधारणा को लागू करना होगा। पूंजीवादी विकास ने आज दुनिया और पर्यावरण को किस अंजाम पर ला खड़ा किया है, उससे हम सभी वाकिफ हैं। ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन परत में छेद, ग्लेशियरों का पिघलना, समंदर और नदियों का बेकाबू हो जाना, धरती का गुस्सा लगातार बढ़ना, बारिश की नाराजगी और हवाओं का सबकुछ रौंद कर चले जाना। यह सब आधुनिक विकास की ही देन है। विश्वग्राम का विकास सिर्फ आदिवासी—दलित और वंचित समुदायों को ही नहीं मार रहा है बल्कि वह हमारी समूची धरती को ही नष्ट करने पर तुला है। आदिवासी पुरखों ने सदी—दर—सदी धरती को सहेजे

रखा। वनस्पतियां, जीव—जंतु, चिरई—चरगुन और हिंसक जानवरों तक के साथ रहने की कला विकसित की। उसे मुख्यधारा के समाज और उसके विकास ने उसे महज सौ वर्षों में खत्म कर डाला। आदिवासी—दलित एवं वंचित समुदायों के विकास का मूल दर्शन सहजीविता, सहभागिता, सहअस्तित्व और सामूहिकता पर आधारित है। पूंजीवादी विकास के पहले चरण में ही वे मुख्यधारा के व्यक्तिगत स्वार्थों और मुनाफे की क्रूर राजनीति से अपनी असहमति जता चुके हैं। दुनिया भर में वे जहाँ—जहाँ भी हैं इस असहमति की उन्होंने बड़ी कीमत चुकाई है। वे प्राकृतिक संसाधनों के असली वारिस हैं, उनके साथ बराबरी के साथ पेश आना होगा। प्रकृति उनके जीवन का उल्लास है और इस उल्लास को अगर सरकार व कंपनियां राष्ट्रीय उल्लास बनाना चाहती हैं, तो उन्हें लालगढ़, कलिंग नगर, नंदीग्राम या सिंगुर नहीं, संवाद और देशज विकास का रास्ता अपनाना होगा। जनता कभी विकास विरोधी नहीं होती।

विमर्श

संताल परगना : पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य

*खगेन्द्र ठाकुर

सन् १८५५ के संताल हुल के बाद सन् १८५६ में तत्कालीन भागलपुर और वीरभूमि के कुछ–कुछ हिस्सों को लेकर संताल परगना जिला बनाया गया था। उस समय जिले को राजमहल, गोड्डा, देवघर और दुमका इन चार अनुमंडलों में बाँटा गया था। बाद में पकौड़ और जामताड़ा अनुमंडल भी बनाये गये। आज संताल परगना के सभी अनुमंडल जिला बन चुके हैं और दुमका के साथ संताल परगना प्रमंडल बन गया है।

सन् १८५६ में बनाये गये संताल परगना जिला और सन् २००० में बनाये गये झारखण्ड राज्य के पीछे भी आदिवासियों के हितों को आगे बढ़ाना और उनको पिछड़ी हुई अवस्था से उठाकर विकास के रास्ते पर बढ़ाना उद्येश्य रहा। झारखण्ड प्राकृतिक संपदा और खनिज संपदा की दृष्टि से देश का सबसे धनी राज्य है लेकिन, अलग राज्य बने दस साल से अधिक हो जाने के बाद भी न झारखण्ड राज्य का विकास हो पाया है और न राज्य की जनता का। यहाँ हम संताल परगना की हालत पर गौर करेंगे। लेकिन ध्यान देने और समझने की बात है कि संताल परगना की नियति तो झारखण्ड से बँधी है, इसके अलग विकास की उम्मीद करना बेमतलब होगा। हकीकत तो यह है कि झारखण्ड राज्य के भीतर आदिवासी मुख्यमंत्रियों के शासन में भी संताल परगना उपेक्षित रहा है।

इस प्रसंग में पहले कुछ प्राकृतिक बातों को ध्यान में रखना जरुरी है। १८५६ में संताल परगना के गठन के समय इस क्षेत्र में संताल आबादी बहुत कम थी। एक अंग्रेज बुकानन हैमिल्टन की डायरी से पता चलता है कि सन् १६१५ से १८३० तक में संताल यहाँ धीरे–धीरे आकर बसने लगे। इसी अवधि में खासतौर से १७९० से १८१० ई. तक संतालों को यहाँ लाया भी गया। दो कारणों से ऐसा हुआ– एक तो यह कि वीरभूमि के जमींदारों के शोषण–उत्पीड़न से परेशान होकर संताल इधर राजमहल और गोड्डा इलाके की पहाड़ियों की ओर भाग कर आये। जंगल साफ कर वे यहाँ बसे और जीविका चलाने लगे। दूसरी बात यह कि १७९० से १८१० के बीच संतालों को यहाँ लाकर बसाया गया जंगल साफ करके खेती के योग्य जमीन बनाने के लिये। जंगली जानवरों से सुरक्षा पाना भी एक उद्येश्य था। मि. सदरलैण्ड ने १८१८ई. में संतालों को गोड्डा इलाके में जंगलों को साफ करते देखा था। भागलपुर के एक कलेक्टर डनवार की एक रिपोर्ट के अनुसार १८३६ तक इस क्षेत्र में संताल और भुइयाँ लोगों के ४२७ गाँव बस चुके थे। इस इलाके को दामिन–ए–कोह कहा जाता था। इनके वास का विकास के राजमहल के बरहेट तक भी हो गया था। यह प्रक्रिया जारी रही और १८३० के बाद भी १८५१ तक उड़ीसा, दालभूमि, मानभूमि, बड़ाभूमि, छोटानागपुर, पलामू, हजारीबाग, मिदनापुर, बाँकुड़ा आदि में भी संताल आकर इधर बसे। बरहेट उनका सबसे बड़ा गाँव था।

राजस्व वसूली का काम एक अधिकारी करता था, जिसे सुपरिटेंडेंट कहा जाता था। वह निर्धारित दर से दोगुनी मालगुजारी वसूलता था, आधा ऊपर जमा करता था और बाकी खुद मार लेता था। इस क्षेत्र में पहले से पहड़िया जाति भी रहती थी। ये पहाड़ों पर रहते थे, वहीं खेती करते थे। ये संतालों से डरते थे, दोनों के हितों में मेल नहीं था। ईस्ट इंडियन कंपनी के अधिकारियों ने दोनों के इस आपसी विरोध का एक दूसरे के खिलाफ इस्तेमाल हमेशा किया। इस तरह संताल परगना में संताल आबादी यहाँ आने के बाद से ही तरह–तरह के शोषण–उत्पीड़न का शिकार होती रही, महाजन, जमींदार, पुलिस और ब्रिटिश राज के अधिकारी सभी उसके शोषण में शामिल रहे और धीरे–धीरे जो जमीन उन्होंने जंगल साफ करके अर्जित की थी, जो पशुधन उन्होंने हासिल किया था, वह भी उनके हाथ से निकलता गया। इन्हीं सब का परिणाम था १८५५ का हूल। जो सिद्धो–कान्हू चाँद और भैरव इन चार भाइयों के नेतृत्व में हुआ था। चारों अन्ग्रेजों के द्वारा मारे गये थे। १८५६ के बाद ही संताल परगना को आम नियमों और कानूनों से अलग कर दिया गया। ऐसा जमीन के हस्तानांतरण को रोकने के उद्येश्य से किया गया। लेकिन कोई नया कानून नहीं बना, इसे कानून–रहित क्षेत्र (Non Regulated District) घोषित किया गया। लेकिन इसके बाद भी कर्ज के कारण जमीन हस्तांतरित होती रही, रजिस्ट्री करके दाखिल–खारिज तो नहीं होता, लेकिन 'कुरफानामा' एक शब्द आया और यही अवैध हस्तांतरण का जरिया बनता रहा। एक अध्ययन के अनुसार १८७१ तक चालीस हजार हस्तांतरण हो चुके थे। इसके फलस्वरुप १८७१ में भी एक विद्रोह संतालों का हुआ था, जिसका नेतृत्व भगीरथ मांझी और ज्ञान परगनैत ने किया था।

अंग्रेजी सरकार ने पहली बार १९०८ में संताल परगना सेटलमेंट रेगुलेशन ऐक्ट (पूरक) की धारा २७ के जरिये जमीन हस्तांतरण पर पूरी रोक लगाने की कानूनी व्यवस्था की। इसी साल छोटानागपुर काश्तकारी कानून की धारा ४६ के जरिये वहाँ भी जमीन के हस्तांतरण पर रोक लगायी गयी। इसके अलावा १८८७ में एक कार्यादेश जारी करके तमाम हस्तांतरण को रद्द करने की घोषणा की गई। लेकिन यह सब बेअसर रहा। संतालों की जमीन वापस नहीं हुई। बीच–बीच में कुछ नियमन और कार्यादिशों के जरिये स्थिति से निपटने की कोशिश की गई, लेकिन स्थिति में कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ। १९३५ में बनाये गये कानून में भी कुछ कानूनी कदम ही उठाये गये, संताल हितों को ध्यान में रखकर। यों वह भी कारगर नहीं हुआ। अन्ततः १९४९ में १९३५ में दिये गये सुझावों को समेटते हुए बिहार काश्तकारी कानून के अन्तर्गत संताल परगना काश्तकारी कानून (पूरक)– १९४९ बनाया गया। इसमें कुछ परंपरागत रिवाजों को भी मान्यता दी गई, जैसे प्रधानी। इस कानून में आदिवासियों के भूमि अधिकार को सुरक्षा दी गई। लेकिन अवैध हस्तांतरण रुका नहीं। दूसरी तरफ विकास और राजनीतिक चेतना में वृद्धि के फलस्वरुप आदिवासियों में जमीन–वापसी की चेतना बढ़ती गई।

पहले–पहल १९६७ में बिहार में जब गैर कॉन्ग्रेसी संविद सरकार बनी और कम्युनिस्ट

*जनशक्ति कॉलोनी, रोड नं. 24, राजीव नगर, पटना, बिहार-24, मो० 09431102736

पार्टी के नेता अरिदीप सिंह राजस्व मंत्री बने तो महाजनी प्रथा के खिलाफ कार्रवाई की गई और संतालों की जमीन वापसी का सरकारी अभियान चलाया गया। इसके फलस्वरुप संताल–पहाड़िया समुदाय में कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ा। इसी समय संतालों के लोकप्रिय नेता कामरेड शत्रुघ्न बेसरा और उनके अनेक साथी झारखण्ड पार्टी छोड़कर कम्युनिस्ट पार्टी में चले आये। यह उल्लेखनीय है कि अत्यन्त लोकप्रिय आदिवासी नेता जयपाल सिंह की झारखण्ड पार्टी का १९६२ में ही कॉन्ग्रेस में विलय हो गया था। फलत: झारखण्ड आंदोलन में कुछ दिनों के लिये विराम लग गया।

कम्युनिस्ट पार्टी का बढ़ाव निहित स्वार्थी तत्त्वों, चर्च वालों और सरकार के लिये चिंता का विषय था। इसी समय झारखण्ड मुक्ति मोर्चा का उदय हुआ। शिबू सोरेन ने संताल परगना में कम्युनिस्ट पार्टी को अपना निशाना बनाया। संतालों में उन्माद जगा। शिबू सोरेन के प्रति अंधविश्वास भी। उनको दिशोम गुरु घोषित करके कहा गया कि उनको कोई पकड़ नहीं सकता, कोई मार नहीं सकता। यों अंधविश्वास ज्यादा दिन नहीं चला।

संताल परगना : वर्तमान स्थिति :

संताल परगना प्राकृतिक और खनिज संपदा में एक धनी जिला है, लेकिन आम जनता के बीच गरीबी है। झारखण्ड बनने के बाद बनी सरकारों और अब तक केवल आदिवासी मुख्यमंत्रियों के होते हुए भी, दूसरों में तो नहीं ही, आदिवासियों की हालत में भी कुछ खास सुधार नहीं हो सका है।

संताल परगना में खनिज संपदा इस प्रकार है–

- कोयला– गोड्डा (ललमटिया), सिमलौंग, दुमका–चितरा, पकौड़ (पचुआरा) तथा कुछ अन्य जगह। संताल परगना में कोयले का विशाल भंडार है।
- लौह अयस्क– राजमहल, पोड़ैयाहाट आदि।
- बाक्साइट– राजमहल पहाड़ियों में।
- ताम्बा– राजमहल पहाड़ियों में।
- डोलोमाइट और लाइमस्टोन (चूना पत्थर)– मुख्यत: राजमहल पहाड़ियों में।
- फायर क्ले– राजमहल पहाड़ियों में।
- चीनी मिट्टी– गोड्डा

आज तक संताल परगना के खनिज पदार्थ की पूरी खोज नहीं की गई है। इस सम्बन्ध में और भी संभावनायें हैं। पूरी खोज नहीं हो पाना स्वयं उपेक्षा का संकेत है।

वन्य उत्पादन : रेशम उद्योग, लाह, बीड़ी पत्ता, बेल, केन, बाँस, लकड़ी, गोंद, आँवला, ताड़, खजूर, महुआ, सखुआ पत्ता आदि। संताल परगना में जंगल प्राय: २८ प्रतिशत है जबकि मानक है ३० प्रतिशत।

पत्थर तोड़ उद्योग : गोड्डा जिले में ललमटिया से उत्तर, पोड़ैयाहाट में और मिरजाचौकी में पकौड़ से पूरब तक बड़े पैमाने पर पत्थरतोड़ उद्योग फैला हुआ है। यह कारोबार वैध–अवैध दोनों तरह से चलता है और सबसे अधिक अवैध कारोबार यह होता है कि इस उद्योग में बाल–श्रम का उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है।

इतनी बड़ी खनिज और वन्य संपदा के होते हुए संताल परगना में गरीबी है।

क्षेत्रफल और आबादी : संताल परगना का क्षेत्रफल ७६१३४.४९ वर्ग किलोमीटर है। इसमें राजमहल की पहाड़ियों के अलावा बड़ा मैदानी क्षेत्र भी है, जहाँ खेती होती है। बहुत बड़ा क्षेत्र वीरान भी पड़ा हुआ है जिसे डंगाल कहते हैं। यहाँ पहले जंगल रहा होगा।

संताल परगना की आबादी करीब साठ लाख है। इसमें आदिवासियों की आबादी करीब पचास लाख है। अनुसूचित जातियों की आबादी ३६३५७२ के करीब है। संताल परगना में अनुसूचित क्षेत्र (प्रखण्ड) इस प्रकार हैं– दुमका– दस प्रखण्ड, जामताड़ा– चार प्रखण्ड, साहबगंज– नौ प्रखण्ड, पकौड़– छह प्रखण्ड और गोड्डा– दो प्रखण्ड। देवघर में एक भी नहीं।

झारखण्ड बनने से पहले बिहार और केन्द्र सरकार ने और झारखण्ड बनने के बाद वर्तमान राज्य सरकार और केन्द्र की सरकारों की भी नीति और राजनीति विश्वबैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों और वाशिंगटन सहमति के अनुसार चलती रही है, इसीलिये झारखण्ड की वन्य एवं खनिज संपदा का इस्तेमाल राज्य के विकास के लिये नहीं किया गया, फलत: 'अबुआ झारखण्ड' भी लूट का, अभूतपूर्व भ्रष्टाचार का शिकार होता रहा है। झारखण्ड सरकार ने जो औद्योगिक नीति अपनाई, वह यहाँ की संपदा और जमीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले कर देने की है। सरकार की अपनी नीति औद्योगिक विकास की नहीं है। यह सब संताल परगना को भी झेलना पड़ा है, झेलना पड़ रहा है।

झारखण्ड बनने के बाद एक बात सामने आयी है, वह यह कि आज आदिवासी भी आदिवासी का शोषण करते दिखायी पड़ रहे हैं। राजनीतिक पद और अधिकार पाते ही आदिवासी आदिवासी का भक्षक बन बैठ जा रहा है। झारखण्ड का तुरंत का इतिहास इसका गवाह है। आज भ्रष्टाचार विकास की कीमत पर हो रहा है, सरकारी खजाना और संपदा लूटी जा रही है। शासक समूहों के नेता अरबपति हो चुके हैं। विकास के नाम पर कुछ सड़कें बनी हैं, हालाँकि सड़कें विकास नहीं, विकास की अधोरचना होती हैं। संताल परगना में कृषि योग्य जमीन की सिंचाई आठ प्रतिशत से ज्यादा नहीं है। खेती मुख्यत: आसमान पर निर्भर रहती है। खाद्यान्न के मामले में यह प्रमण्डल आत्मनिर्भर नहीं है। उद्योग तो यहाँ नहीं के बराबर है, है भी तो कोयला उद्योग में भूमंडलीकरण के प्रभाव से स्वचालन का इस्तेमाल होने से मजदूरों की छंटनी बड़े पैमाने पर हुई है। पत्थरतोड़ उद्योग में बाल–श्रम के इस्तेमाल से बच्चों के साथ मानव–श्रम का भी शोषण हो रहा है। हमारे साथियों की रुचि संगठित ट्रेड यूनियन में ज्यादा है। इसलिये पत्थरतोड़ उद्योग के असंगठित मजदूर असहाय की तरह हैं।

पिछले साठ वर्षों के पूँजीवादी विकास ने पिछड़े आदिवासियों पर भी इतना प्रभाव डाला है कि उसमें एक छोटा हिस्सा धनाड्य बनकर उभरा है, जिसके उभरने का स्रोत राजनीतिक पेशा, इंजीनियर, डॉक्टर, शिक्षक, सरकारी कर्मचारी आदि के जरिये एक मध्यवर्ग विकसित हुआ है और शेष खेती या ग्रामीण एवं घरेलू उद्योग से गुजर करता है या रोजगार के लिए पलायन कर जाता है। इन सबके असर से यह बात सामने आयी है कि संतालों में भी कई सामाजिक स्तर बन गये हैं और उनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। आज उनके बीच एक असंतुष्ट और क्षुब्ध तबका भी है। इस विकासक्रम और स्थिति पर गौर किये बिना कोई भी संतालों में नये सिरे से प्रवेश

करके अपना सुधार का काम नहीं कर सकता है।

संताल परगना में भी राज्य सरकार ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने स्वार्थ का फैलाव करने की इजाजत दे दी है। दस से अधिक करार संताल परगना में बहुराष्ट्रीय कंपनियों से राज्य सरकार ने किये हैं। उन्हें किसानों से सीधे जमीन लेकर उद्योग खोलने की छूट दे दी गयी है। संताल किसान इसका विरोध कर रहे हैं। ऐसा एक खास टकराव दुमका के काठीडंड में हुआ और पुलिस ने बहुराष्ट्रीय कंपनी के पक्ष में खड़े होकर संतालों पर गोली चलायी, कई लोग मारे गये। तत्कालीन सत्ता ने पुलिस कार्रवाई का बचाव किया।

आज तमाम आदिवासी नेता संताल परगना काश्तकारी कानून खतम करने के पक्ष में बोल रहे हैं। यह उनके पूँजीवादी स्वार्थ के कर में जाने का ही इजहार है। एक तो यों ही संताल किसानों की जमीन नये सिरे से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में जा रही है, दूसरे काश्तकारी कानून खतम कर देने से तो और भी छूट मिल जायेगी। जिंदल, मित्तल आदि अनेक कंपनियाँ संताल परगना में जमने की कोशिश कर रही हैं। नाला, अफजलपुर (नाला), राणीश्वर, शिकारीपाड़ा, कुरमाटांद, गोड्डा आदि क्षेत्रों में ये कंपनियाँ काम करने लगी हैं। ध्यान देने की बात यह है कि ये कंपनियाँ जो उद्योग खड़े करके चलाएंगी, उनका लाभ यहाँ से बाहर चला जाएगा। स्थानीय जनता को कुछ नहीं मिलेगा। इससे न जिले का विकास होगा और न जनता का।

विकास का सही मतलब यह है कि उद्योग धंधे, खेती आदि की तरक्की से आम जनता की क्रय शक्ति बढ़े, उनका जीवन–स्तर ऊपर उठे और इससे घरेलू बाजार बने। लेकिन सरकार जो कुछ कर रही है, उससे यह सब नहीं होने वाला है।

शिक्षा का बुरा हाल है। निजी स्कूल बड़े पैमाने पर खुले हैं। सरकारी स्कूलों को सरकारी उपेक्षा का शिकार होना पड़ रहा है। निजी स्कूलों में व्यापार हो रहा है, शिक्षा बहुत महँगी हो गई है। गरीबों के बच्चे शिक्षा तक पहुँचने में असमर्थ हैं। मध्याह्न भोजन योजना भी बच्चों को स्कूल ले जाने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती। इस योजना में भी भ्रष्टाचार हो रहा है। संताल परगना के विकास के लिए जनपक्षी कार्यक्रम बना कर लागू करना पड़ेगा। इस प्रसंग में निम्नलिखित बिंदुओं पर गौर करने की जरुरत है :

१. पूरे जिले में पूरी तरह से भू–सर्वेक्षण कराया जाए, ताकि यहाँ की खनिज संपदा की पूरी जानकारी हो सके।
२. कोयला उद्योग के आधार पर अन्य उद्योग लगाए जाँए।
३. इस्पात उद्योग की सम्भावना है, इसके लिए सामग्री भी यहाँ उपलब्ध हैं।
४. चीनी मिट्टी से कई उद्योग खड़े किये जा सकते हैं।
५. अल्मूनियम कारखाना लगाया जा सकता है।
६. चीनी उद्योग की भी संभावना है।
७. कृषि और फलों पर आधारित उद्योग भी लगाये जा सकते हैं।
८. पत्ता उद्योग को बढ़ावा देना चाहिए।
९. कृषि योग्य भूमि की सिंचाई का प्रबंध समुचित ढंग से किया जाए।
१०. संताल परगना के सभी जिलों में बड़े–बड़े डंगाल परती पड़े हैं, उन्हें सिंचाई का प्रबंध करके खेती के लायक बना कर भूमिहीनों में बाँटा जाए।
११. जंगल सुरक्षा कानून को लागू करके आदिवासियों को उसका लाभ दिया जाए।
१२. रोजगार का प्रबंध, पलायन और विस्थापन का समाधान वास्तव में खेती और उद्योग का विकास करके स्थानीय स्तर पर रोजगार और समुचित मजदूरी दे कर ही किया जा सकता है।
१३. खाद्यान्न सुरक्षा तभी दी जा सकती है, जब सरकार के पास पर्याप्त अन्न भंडार हो और उसके वितरण की पूरी व्यवस्था हो।
१४. जन वितरण प्रणाली पुनर्गठित हो, गाँवों तक उसका विस्तार हो, और आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति सस्ते दाम पर करके बाजार की जमाखोरी और मुनाफाखोरी का मुकाबला किया जाए।
१५. पंचायतों को सरजमीन पर अधिकार सम्पन्न बनाया जाए और केन्द्र से मिलने वाली गाँव के विकास की रकम सीधे पंचायतों को दी जाए। पंचायतों में ग्राम सभाओं को सक्रिय करके जनतंत्र को सरजमीन पर लाने की कोशिश की जाए।

यह सब लागू करने का दायित्व वामपंथी जनवादी शक्तियों को लेना चाहिए और इसके लिए आंदोलन एवं कार्रवाई गाँव, पंचायत, प्रखण्ड और जिला स्तर पर करनी चाहिए। कार्यकर्त्ताओं को गाँवों में जाना होगा और व्यापक जन–संपर्क के जरिये जन–आंदोलन खड़ा करना होगा। जनता को पुकारने से आंदोलन नहीं होता, जन–समस्याओं को हल करने की सम्भावना प्रस्तुत करके, जनता को संगठित करके संघर्ष के मैदान में उतारने से आंदोलन होता है। आंदोलन के साथ ही जनता के बीच जन–संगठन बनाने की कार्रवाई करनी होगी। आंदोलन, संगठन और राजनीतिक–वैचारिक प्रचार करने से ही जनता की ताकत बनती है और आंदोलन का जनाधार बनता है। इन कार्यों को अंजाम देने के लिये नयी पीढ़ी को, छात्र–नौजवानों और किसान–मजदूरों को एक साथ लाना होगा। संगठित मजदूरों के साथ असंगठित मजदूरों को भी संगठित करना होगा, जिसके बारे में सोचा बहुत गया लेकिन, किया बहुत कम गया। एक ही काम करें– 'कथनी तजि करनी करें, विष से अमृत होय।'

विमर्श

संताल और उनकी दुनियाँ

*कमल

ये उन लोगों की बातें है जिनके बारे में प्रारंभिक जानकारियां बताती है कि आर्यो ने अपने अभियानों के दौरान उन पर आक्रमण ही नहीं किये, बल्कि उन्हें खदेड़ कर दूसरी जगहों पर जाने और बसने के लिए मजबूर किया। उनके जल, जंगल और जमीन पर नैसर्गिक व सामूहिक अधिकार की मूल अवधारणा को भंग किया। पौराणिक संदर्भों में देखे तो सतयुग, त्रेता व द्वापरयुग आदि कालों में आदिवासियों को राक्षस, प्रेत, दैत्य, दानव, असुर आदि संज्ञाओं से संबोधित कर उन्हें मनुष्य होने से नकारने का दुष्चक्र रचा जाता रहा है। और आधुनिक युग की विडंबना यह कि शब्दों के हेर–फेर के क्रम में आज उनके अस्तित्व को भी नकारने की जुगत भिड़ाई जा रही है। कोई उनके लिए जनजाति तो कोई उनके लिए वनवासी शब्द गढ़ता फिर रहा है। लेकिन 'आदिवासी' से बढ़ कर कोई दूसरा शब्द हो ही नहीं सकता जो उनके लिए उपयुक्त हो या उन्हें ठीक–ठीक परिभाषित कर सके। इस शब्द के साथ ऐसे लोगों का बोध होता है जिनका बोलना ही प्रकृति का गीत है और जिनका चलना ही प्रकृति का नृत्य। जिनकी संस्कृति और समूचा जीवन दर्शन अपनी प्रकृति के साथ सामंजस्य की अद्भुत मिसाल है।

ऐसा नहीं कि वे लोग आक्रमणकारियों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। सच तो यह है कि जंगलों और पहाड़ो में रहने वाले आदिवासी, बर्बर आर्य आक्रमणकारियों से कहीं ज्यादा सभ्य माने जाने चाहिए क्योंकि उन्होंने युद्ध की बर्बरता से ज्यादा महत्व शांति को दिया था। भले ही इसके लिए उन्हें पलायन का विकल्प चुनना पड़ा। गैर आदिवासियों से हार कर भी आदिवासियों का जुझारूपन कभी खत्म नहीं हुआ और उन्होंने निरंतर जंगलों को काट कर नये–नये गाँव बसाये, कृषि योग्य नयी भूमि तैयार की। सामने से आने वाले दुश्मन का तो वे सामना कर सकते थे लेकिन जो दुश्मन उनके अपने बन कर उनके साथ रहने लगे, उनका सामना करने में सीधी–सादी जिंदगी जीने वाले संताल असमर्थ थे। आने वाला काल राजतंत्र, जमींदारी प्रथा एवं महाजनी व्यवस्था का होता चला गया। छोटानागपुर, पोड़ाहाट, सराईकेला–खरसावाँ, धालभूम में राजवंशों में नींव मजबूत पड़ते ही आदिवासी ग्राम–प्रशासन व्यवस्था नष्ट होती चली गई।

विश्व के प्राचीनतम गोंडवाना पठार का कुल ७९,७१,४०० हेक्टेयर उत्तरी–पूर्वी भूखंड है झारखंड। भूगोलशास्त्रियों के अनुसार इसकी आयु डेढ़ से तीन अरब वर्ष है। नवगठित राज्य झारखंड को प्रशासनिक दृष्टि से संताल परगना, उत्तरी छोटानागपुर, दक्षिणी छोटानागपुर, पलामू और कोल्हान पाँच प्रमंडलों में बांटा गया है। १५ नवंबर २००२ (भगवान बिरसा जयन्ती) के पूर्व का

*डी-1/1, मेघदूत, मरीन ड्राइव रोड, पो०-कदमा, जमशेदपुर-831005 (झारखंड) फोन नं० 9431172954

बिहार और अब के झारखंड में आदिवासियों की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा संताल आदिवासी हैं। अकेले उनकी जनसंख्या उराँव, मुंडा और हो की कुल जनसंख्या के बराबर है। पूरे देश की बात की जाए तो लगभग पचास लाख संताली झारखंड, उड़ीसा और पं० बंगाल के विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। लेकिन इसके साथ ही यह निराशाजनक तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि प्रति हजार निरक्षरता की दर सबसे ज्यादा (८७२) उनकी ही है। वसंत पंचमी को 'बाहा पोरोब' (फूलों का त्योहार) मनाने वाले संताल कई मायनों में राज्य के अन्य आदिवासियों से भिन्न हैं। 'होरकोरेन मारे हपरमको रियाक' (गुरू कोलियन) की कथा का ध्यान रखा जाए तो प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में हो रहे राजनैतिक एवं सांस्कृतिक द्वंदों के काल में संताल आदिवासी छोटानागपुर के हज़ारीबाग, सिंहभूम एवं मानभूम जिलों में फैले। आगे चल कर वे लोग बंगाल के बीरभूम, बांकुड़ा एवं मेदिनीपुर आदि इलाकों में बसते चले गये। यह सही है कि संताल १९ वीं सदी के बाद जबरदस्त सांस्कृतिक दबावों का सामना कर रहे हैं और गैर–आदिवासी समाज का वर्चस्व लगातार बढ़ता जा रहा है। अभी मोटे तौर पर संताल आदिवासियों की दो तरह की बसाहटें है। पहली गैर– आदिवासी जन जीवन के बीच बिखरी हुई। इस तरह की बिखरी हुई बसाहट खासतौर पर इस इलाके में है जहाँ जंगल पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं और पहाड़ नहीं है। दूसरी है आदिवासी जनजीवन की निरंतरता वाली बसाहट जहाँ अभी भी आदिवासी बाहुल्य है या हाल तक रहा है। झारखंड के संताल परगना में निरंतर व बिखरी हुई दोनों तरह की बसाहटें मिलती हैं।

संताली गीतों व गाथाओं में इनकी उत्पत्ति के बारे में एक पौराणिक गीत है :–

'आमगे बाबा प्रभू ईश्वर कुश काराम सिरोम रेहेत रिन......पिचलू हाड़ाम पिचलू बूड़ही दो।'

अर्थात् हे पिता परमेश्वर! तुमने कुश करम सिरम पेड़ की जड़ों से हंस–हंसिनी का जोड़ा बनाया था। उन दोनों ने अतल समुद्र के मध्य स्थित करम पेड़ की डाल पर घोंसला बनाया था और उसमें दो अंडे दिये थे। हे पिता परमेश्वर! तुम्हारे आदेश से उन अंडों से दो मानव शिशुओं ने जन्म लिया था। तुम्हारे ही आदेश से दोनों ने हिहिड़ी–पिपिड़ी इलाके से कंटीली घास ला कर उन दोनों शिशुओं की रक्षा की थी। नौ दिनों के बाद अर्जुन के पत्तों में लिटा कर उनकी छट्टी की गई और उन दोनों मानव शिशुओं का नाम रखा गया था–पिचलू हाड़ाम बूढ़ा (पुरुष) और पिचलू बूढ़ी (स्त्री)। हम संताल उन्हीं दोनों की मानव संतान हैं। १७६० में संथाल परगना क्षेत्र में ईस्ट–इंडिया कंपनी के पाँव पसारते ही संतालों की स्वशासी व्यवस्था टूटने लगी। मगर आदिवासी इलाकों में बढ़ते अंग्रेजों के कदमों के साथ–साथ उनके विरुद्ध विद्रोहों का सिलसिला भी बढ़ता गया। पहाड़िया विद्रोह (१७८८–९०), चुआड़ विद्रोह (१७९८), चेरो विद्रोह (१८००)। इन विद्रोहों का झंडा झुका नहीं तो इसका एकमात्र कारण था कि संताल औरतें पीठ पर बच्चा बांधकर पुरुषों का साथ दे रही थीं। गैर–आदिवासी ठेकेदारों के हाथों अपनी जमीनें गंवाने के साथ–साथ संताल पुन: विस्थापित होने लगे, उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होने लगी। गरीबी और भुखमरी ने उनको महाजनों के चंगुल में जा पटका। महाजनों और सामंतों के शोषण ने उनकी जिंदगी नारकीय बना दी। जिसके खिलाफ संतालों का गुस्सा १८५४ में मोरगो मांझी और बीर सिंह मांझी

का दिकू लोगों के विरुद्ध आंदोलन और १८५५ में महान संताल विद्रोह के रूप में सामने आया।

शोषण का वह दौर अभी भी थमता नहीं दिखता, शायद इसीलिए यहाँ झारखंड राज्य गठन के बाद अब तक पंचायती राज पूर्णरूप से सक्रिय नहीं हुआ है। अपनी जमीनों को बचाने के लिए उनको हमेशा ही संघर्ष करने पड़े हैं। आज भी भारत सरकार जल, जंगल, जमीन और विस्थापन संबंधी नीतियों के मामले में अंग्रेजों की राह पर चल रही है, जो नीतियाँ कभी भी आदिवासियों की हितैषी नहीं रहीं। संताल परगना टीनेंसी एक्ट, १९४९ उनके ऐसे ही संघर्ष का परिणाम था। लेकिन एक्ट के तहत अंग्रेजों की सामंती व्यवस्था ने महिलाओं को सत्ता—संसाधनों के मालिकाना हक से दरकिनार कर दिया और अब तो कई—कई कारण गिना कर इस एक्ट को भी निरस्त करने की माँग उठने लगी। जैसे मुंबइया फिल्मों में 'भाई' शब्द का अर्थ बदल दिया है। पहले जहाँ इसका अर्थ आदरणीय बड़ा भाई या प्यारा छोटा भाई होता था वहाँ अब इसका नया अर्थ अपराधी, गुंडा या मवाली हो गया है। वैसे ही आज आदिवासियों के लिए 'विकास' शब्द का अर्थ बदल चुका है। अब यह शब्द उनमें खुशी की जगह भय पैदा करता है। क्योंकि इसके नाम पर विकास तो नहीं हुआ अलबत्ता विस्थापन और स्थानांतरण के रूप में विनाश ही अधिक हुआ है। यदि ऐसा न हुआ होता, तब क्या कारण है कि उनकी वर्तमान स्थिति और उस दिन की स्थिति (जब उनके लिए विकास योजनाओं का प्रारंभ किया गया था) में कोई भी उल्लेखनीय अंतर नहीं दिखता? सच तो यह है कि आदिवासियों के विकास के नाम पर किये गये कार्यों से चंद आदिवासी (क्रीमी लेयर) और प्रभावशाली गैर—आदिवासियों का ही विकास हुआ है। उनके विकास की बात करने के लिए संतालियों के अतीत और वर्तमान की चर्चा मात्र ही नहीं होनी चाहिए, वरन् हर स्तर पर (चाहे पंचायत हो या विधायिका, कार्यपालिका हो या न्यायपालिका) उनकी सीधी और सच्ची भागीदारी जरूरी है वर्ना उनके विकास की बात बेमानी होगी, जैसा कि अब तक होता आया है।

निश्चय ही हिन्दू लुटेरों, शोषकों के साथ—साथ ब्रिटिश शासन अथवा ईस्ट—इंडिया कंपनी के विरुद्ध १८५५ का संताल विद्रोह ही था जिसने विदेशी मिशनरियों में संताली भाषा के प्रति दिलचस्पी जगाई। 'संताली' ऑस्ट्रियक भाषा समूह की एक प्रमुख भाषा है। 'एन इंट्रोडक्शन टू संताल लैंग्वेज' (रेवरेंड डॉ० जे० फिलिप्स) सन् १८५२ में प्रकाशित संताली भाषा साहित्य की पहली पुस्तक मानी जा सकती है। इतर साहित्यों की तरह संताली साहित्य भी काफी प्राचीन व विकसित है। लगभग सवा सौ साल (सन् १८८०) पहले प्रकाशित कवि रामदास टुडू का महाकाव्य 'खेरवाड़ बोंशा धोरोम पुथी' एक महत्वपूर्ण रचना है। इससे ही प्रकाशित संताली साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। यह बंग्ला लिपि में प्रकाशित हुई थी।

संताली भाषा के साथ एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि इसकी रचनाएं बंग्ला, उड़िया, रोमन और नागरी लिपी सभी में लिखी जाती रही हैं। इधर संताली के लिए 'ओलचिकि' लिपि को समृद्ध और विकसित करने के प्रयास हो रहे हैं। नागरी लिपि में संताल लेखन, प्रकाशन बहुत बाद में प्रारंभ हुआ जबकि रोमन लिपि में कहानियाँ व कहानी संकलन दशकों पूर्व से प्रकाशित हो रहे है। हृदय नारायण मंडल 'अधीर' की कहानी 'बापुड़िचूकिन' को नागरी लिपि में प्रकाशित पहली संताली कहानी माना जाता है। संताली भाषा साहित्य में संताली और

असंताली—भाषी दोनों तरह के लेखकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। संताली में कविता की पहली किताब पूर्व लोकसभा सदस्य पाऊल जुझार सोरेन की 'ओनोड़हें बाहा डालवा' (फूलों की डाली) है जो रोमन लिपि में सन् १९३६ में प्रकाशित हुई थी। उसमें राष्ट्रनिर्माण, ग्रामोद्धार, प्रेम और सौन्दर्य के शाश्वत भावों से ओतप्रोत १७ कविताएं हैं। उसके लगभग छः वर्षों बाद संताली में एक पत्रिका 'मारसाल' (प्रकाश) के माध्यम से संताली कविताएं लिपिबद्ध हुई। उसके संपादक श्री सिहरी मुरमु उर्फ 'चंपाई' थे। सन् १९४२ में प्रकाशित 'मारसाल' का पहला अंक हस्तलिखित था, दूसरा अंक भवानी प्रेस गालूडीह से बंग्ला लिपि में छपा था।

इसके बाद अनेक लोक कवियों ने संताली लोक गीतों का संकलन एवं प्रकाशन किया है। इनमें पं० रघुनाथ मुरमू का 'होर सेरेज' (१९३६) डहर गीत, डब्लू. जार्ज आर्चर का 'होड़ सेरेज' (१९४५) लोक गीत एवं 'दोंङ सेरेज' विवाह गीत (१९४५), नायके मुगल चंद्र सोरेन का 'दांसाय—सोहराय—करम गीत' (१९४५), भागवत मुरमू ठाकुर का 'दोंड सेरेज' (१९६३) विवाह गीत, गोमस्ता प्रसाद सोरेन का 'अखाड़ा थुती' (१९६५) लांगड़े गीत, नुनकू सोरेन का 'कारम सेरेज' (१९८०) करम गीत, केवल राम सोरेन का 'माँझी छटका' (१९८१) लांगड़े गीत, मलिंद्र नाथ हंसदा का 'देवी देसाय' (१९८२), हरिहर हंसदा एवं बिरबल हेमब्रम का 'संताली लोग गीतों का संग्रह' (१९८५) आदि कई महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। संताली कविवर स्व० साधु रामचंद मुरमू की जन्म शताब्दी वर्ष १९९७ पर श्री प्रसाद दासगुप्ता ने उनकी रचनावली 'साधु रामचंद ओनोलमाला' की अधिकांश रचनाओं का बंग्ला में अनुवाद किया है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'देबोन तेंगोन आदिबली वीर' तो अब संताली राष्ट्रीयता का गीत बन चुकी है।

गीत—संगीत हमेशा से इनके सुख—चैन की जीवंत अभिव्यक्ति का मधुर माध्यम रहा है। अलग—अलग मौसमों और त्योहारों के अवसरों पर गाये जाने वाले इन विभिन्न गीतों और नृत्यों में ये अपने सारे दुख—दर्द भूल कर कुछ ऐसे खो जाते हैं मानों प्रकृति ने दुनियाँ भर की खुशियाँ इनकी झोली में भर दी हों। प्राचीन संताली काव्य में पर्व—त्योहार, विवाह, प्रकृति, प्रेम के गीत हैं, वहीं आधुनिक काव्य में देश भक्ति, हास्य, गीतिकाव्य प्रकृति, प्रेम आदि कई रस पाये जाते हैं। संताली कविता ने पद्य से छंदमुक्त होने तक का सफर सफलतापूर्वक पूरा किया है। आधुनिक संताली कविता में पाऊल जुझार सोरेन, पंचानन मरांडी, नारायण सोरेन, रघुनाथ टुडू, हरिहर हंसदा, साधु रामचांद मुर्मू, कृष्ण चंद टुडू, साकिल सोरेन, डोमन हंसदा, काजली सोरेन, डोमन साहू समीर, बासुदेव बेसरा, अमृत हंसदा, सुरूजमुखी मरांडी, कर्नलियस मुरमु, विभा हंसदा, नली सिरंजन मुरमु, बिटिया मुर्मू, निर्मला पुतुल आदि के साथ—साथ कई कवि उल्लेखनीय योगदान कर रहे हैं। दुनियाँ के अन्य समाजों की तरह आदिवासियों की समाज—रचना में भी महिलाओं एवं पुरुषों की साझेदारी रही है। यदि आक्रमणों व शोषण के विरूद्ध सिद्धो—कान्हों जैसे पुरुषों ने संघर्ष किया तो संताल विद्रोह के समय फूलों—झानों के रूप में महिलाओं ने भी उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया था। जहाँ तक संताल समाज की मूलभूत संरचना का प्रश्न है आदिवासी महिलाओं का योगदान पुरुषों से कई गुना ज्यादा है। वे अपने समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। खेत—खलिहान, जंगल—पहाड़, हाट—बाजार उन्हें हर जगह मेहनत—मजदूरी करते देखा जा सकता है। लेकिन कमाई के पैसों को खर्च करने में उनके

अपने निर्णय नहीं होते। परिवार के काहिल पुरुषों के खर्चा–पानी के अलावा उनके लिए दारू–ताड़ी आदि का प्रबंध करना भी उनके ही जिम्मे होता है। लेकिन अफसोस की बात यह है कि आज संताली समाज में स्त्री–पुरुष समानता भी एक ऐतिहासिक सत्य बन कर रह गई है। अपने समाज में ही संताल आधी आबादी बुरी तरह उपेक्षित है। संताल समाज में भी जन्म के साथ ही मादा शिशु को लेकर भेद–भाव शुरू हो जाता है। बेटा पैदा होने पर जिस धाई माँ को दो मन धान दिया जाता है वहीं बेटी पैदा होने पर उसका मेहनताना घट कर आधा हो जाता है। क्या बेटी पैदा होने पर धाई माँ को आधी मेहनत करनी पड़ती है? एक तरफ आदिवासी प्रथागत नियम कानून में संताली औरतों के लिए कहीं कोई व्यवहारिक व्यवस्था नहीं है, तो दूसरी तरफ संवैधानिक व्यवस्था को भी लकवा मार गया है। वह भी आदिवासी पुरुष–सत्ता और प्रधानी व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में खड़ी है। 'ट्राइबल लॉ एण्ड जस्टिस' (डब्ल्यू.जी.आर्चर) के अध्याय–द राइट्स ऑफ संताल वुमेन (पृ० १८७.२०१) के अनुसार संताल औरत ने अपनी श्रमशक्ति और उपादेयता के कारण परिवार में भले ही निर्णयात्मक स्थान ग्रहण कर लिया हो, सिद्धांतत: उन्हें समाज में पुरुष की तुलना में दोयम दर्जा ही हासिल है। वह जब तक कुंवारी है अपने पिता–भाई की, विवाहोपरांत पति और वृद्धावस्था में पुत्र की जिम्मेदारी मानी जाती हैं। उसने अगर किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन किया है तो ग्राम के पंच उसकी अवस्था अनुसार उस पर जुर्माना लगाते हैं और उम्मीद करते हैं कि उसके पति, पिता–भाई या पुत्र उसे चुकाएंगे। बहुत सारी सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों (जैसे–छप्पर छाना, तीर–धनुष चलाना, उस्तरे का उपयोग, हल चलाना, खेत की समतल करा, बरमा से छेद करना, कुल्हाड़ी चलाना, बंशी–काँटा से मछली पकड़ना, कपड़ा–खटिया आदि बुनना आदि) से महिलाओं को वंचित कर दिया गया है। वे पुरुषों का वस्त्र धारण नहीं कर सकतीं, ना उनके उपकरणों का उपयोग ही कर सकती हैं। संताली स्त्रियों को सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। सम्पति पर अधिकार ना रहने के कारण ही समाज में शादी करके छोड़ने एवं डायन बता कर मार डालने की घटनाएं होती रहती हैं। डायन घोषित करने के पीछे मूलत: स्त्रियों को सम्पति के अधिकार से वंचित करना है। परंपरागत न्याय व्यवस्था में महिलाओं के लिए कोई जगह नहीं है। यदि किसी स्त्री की समस्या को लेकर पंचायत होती है तो उस पंचायत में वह स्त्री सीधे जा कर अपनी बात नहीं कर सकती। उसे किसी पुरुष के माध्यम से ही अपनी बात पंचायत में पहुँचानी पड़ती है। इससे संताल औरतों की उनके अपने समाज में स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

संताल समाज में ऐसा अंधविश्वास है कि चूंकि महिलाएं ही डायन बन सकती हैं इसलिए न तो वे शव के साथ अंतिम यात्रा में भाग ले सकती हैं, न ही मांझीथान (पूजा स्थल) में नगाड़ा बजा सकती हैं। इन सब से यही प्रमाणित होकता है कि अन्य समाजों की तरह ही संताल समाज ने भी स्त्री को प्रतिष्ठा और शान के रूप में 'संपति' मात्र ही बना कर रखा है। यह बात कम पीड़ादायक नहीं है कि संतालों ही नहीं सारे आदिवासियों के बुनियादी अस्तित्व को नष्ट करने के प्रयत्न लगातार हो रहे हैं। जिसका आधार यह लंगड़ा तर्क है कि उनके विकास व संवर्धन के लिए उन्हें समाज की मुख्य धारा में जोड़ना नितांत आवश्यक है (इस मुख्य धारा के छद्‌म का एक उदाहरण तो द्वीपों पर बसने वाली वे जनजातियां हैं जो सुनामी के प्रकोप से जीवित बच गई थीं। जबकि तथाकथित मुख्य धारा के सभ्य लोगों का हाल सारी दुनियाँ जानती है)। एक और बात कि आजकल आदिवासियों को हिन्दू साबित करने का फैशन कुछ ज्यादा ही जोर पकड़ता जा रहा है। संघ कार्यकर्ता आदिवासियों को समझाते हैं कि तुम हिन्दू हो, हनुमान तुम्हारे पुराने देवता हैं। आदिवासियों से बजरंगबली के झंडे का जूलूस हथियारों और नगाड़ों के साथ निकलवाया जाता है। सरल और धार्मिक दृष्टि से बिल्कुल उदार आदिवासी इसे भी हड़िया पीने और नाचने–गाने का एक अवसर मानकर जश्न मना लेते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि सहिष्णुता पर आधारित उनका अपना विशिष्ट, प्रकृतिवादी धर्म–दर्शन है जिसे आदिधर्म या सरना कहा जाता है। सरना आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं का वह मूल स्वरूप है जिसे प्रकारांतर में एनिमिज्म, एनिमिस्टिक रिलीजन, प्रिमिटिविज्म, प्रिमिटिव रिलीजन, बोंगाइज्म आदि नामों से जाना गया है। लेकिन इन सब के बावजूद संविधान में उनकी कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। जनगणना में इसके लिए उन्हें 'अन्य' के विकल्प में रखा जाता है। अत: जो आदिवासी स्वयं को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे हिन्दू के अंतर्गत ही चिन्हित होने को विवश हैं और हिन्दू धर्म की इस उदारता में उनकी जगह सबसे नीचे (हरिजन से भी नीचे) होती है। आदिवासियों के लिए इस तथाकथित उदारता के आगे नतमस्तक होना अनंत काल के लिए गुलामी स्वीकार करना ही होगा। आधुनिक युग में संताल भी अन्य आदिवासियों की तरह अपने शाम को दोराहे पर पाता है। पहले उनका जीवन सीधा, सरल निश्छल होता था। वे लोग अपनी खुशी के लिए प्राकृतिक माहौल में नृत्य करते और गीत गाते थे, अब बाहर वालों की खुशी के लिए बाहरी कृत्रिम माहौल में वैसा नृत्य–संगीत करते हैं और किस कीमत पर?

उनकी समझ में नहीं आता कि औद्योगिक संस्थानों, परियोजनाओं और बाँध निर्माण आदि विकास कार्यों के लिए उन्हें क्यों विस्थापित किया जा रहा है? कई वर्ष पूर्व लिखी गई रेड इंडियन आदिवासी कवि 'सिएंथल' की कविता 'प्रमुख के नाम पत्र' आज भी कितनी प्रासंगिक है। (उसकी कुछ पंक्तियां):–

''इस जमीन का एक–एक कण हमें पूज्य है।
पेड़ों का एकएक पत्ता, हरेक रेतीला तट,
शाम के कोहरे से ढंका हुआ जंगल,
सपाट मैदान और भौरों का गुंजन,
ये सभी पवित्र हैं, पूज्य हैं।
हम आदिवासियों की यादों और जीवन से बंधे हैं।
ये पेड़ अपनी रगों में
हमारी अतीत की यादें संजोए हुए हैं।
यहाँ के सुगंधित फूल हमारे भाई बहन हैं।
ये हिरण, ये घोड़े, ये विशाल पक्षी
सब हमारे भाई हैं।
गोरे भूल जाते हैं मरने के बाद अपनी जन्मभूमि
लेकिन हम नहीं भूलते अपनी मिट्टी, मरने पर भी।...''

विमर्श

मौजूदा विश्वपूँजीवादी संकट के दौर में झारखण्ड की आदिवासी महिलाएँ : केवल जलती मशाल

*रविरंजन कुमार

मौजूदा दौर को हम एक ठिठका हुआ दौर भी कह सकते हैं जो बहुत ही खतरनाक है। इसने एक खास तरह के पूँजीवाद को जन्म दिया है जिसकी मुख्य नई विशेषता, वित्तीय पूँजी का विश्वीकरण है। यह एक ऐसा राष्ट्र, एक ऐसा विश्व चाहता है जो श्रम के सम्बन्ध में तो कमजोर हो, पर पूँजी के पक्ष में बेहद सख्त हो। निश्चित रूप से हम एक विश्वव्यापी पूँजीवादी सभ्यता का उदय और विकास होते अपनी आँखों से देख रहे हैं। अपने ही देश में अमीर और गरीब के बीच तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गरीब देशों और अमीर देशों के बीच असमानताएँ निरन्तर बढ़ती जा रही है और सबसे खास बात कि इसने रोजगार विहीन विकास की एक बहुत ही त्रासद परिघटना पैदा की है। जाहिर सी बात है इससे अधिक संकट की स्थिति हमारे समय, समाज और संस्कृति के लिए और दूसरी नहीं हो सकता। मार्क्स ने शायद कुछ ऐसी ही परिस्थितियों से रू–ब–रू होते हुए लिखा था– ''पूंजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य और राष्ट्र के शोषण पर आधारित है। यह कभी भी एक संकट मुक्त व्यवस्था नहीं हो सकती।'' (कार्ल मार्क्स : सेलेक्टेड वर्क्स) इसलिए हमारे समय, समाज और संस्कृति की हर तरह की तकलीफों से सच्ची मुक्ति, इस नीवन पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति के जरिये ही हो सकती है।

एक बहुप्रसारित पत्रिका 'साप्ताहिक आउटलुक' (नवम्बर, २००४) का 'स्त्री विशेषांक' अभी–अभी फिर से दोबारा देख रहा था। मुझे यह देखकर काफी आश्चर्य हुआ कि इस विशेष अंक में कुछ 'कामयाब औरतों' की प्रतिक्रिया तो प्रकाशित है, पर जो समाज हाशिये पर है, संघर्षरत है उसके लिए इसमें कहीं कोई जगह नहीं बन पायी है। इसी अंक में 'स्त्रियों के लिए बदले सफलता के मानदंड' विषयक एक सर्वेक्षण भी प्रस्तुत किया गया है जो पूरी तरह से बाज़ार और मुनाफे की दुनिया से बाहर की कोई तस्वीर पेश नहीं करती।

आखिर हमें यह कब अहसास होगा कि मौजूदा हाई प्रोफाईल दुनिया से अलग भी एक दुनिया है जो संघर्षरत है, हाशिये से ऊपर उठने के लिए। वैश्वीकरण के इस गहराती–उफनाती सुनामी (जलजले) में भी इनमें उठ खड़े होने की शक्ति हिलोरे ले रही हैं। क्योंकि वे सुखभोगवाद की मौजूदा संस्कृति से इतर श्रम की संस्कृति पर जिन्दा हैं। प्रख्यात बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी ने इनके बारे में बहुत माकूल बातें कही हैं :

''हाशिये के लोगों की संस्कृति बहुत समृद्ध है। वे जात–पांत नहीं मानते। दहेज नहीं लेते–देते। आदिवासियों में स्त्री–पुरुष की मर्यादा समान है। उनका हस्त शिल्प देखकर महानगरों के लोग ठगे रह जाते हैं। प्रतिकूलताओं में भी उन्होंने अपने नृत्य–शिल्प, कला–संस्कृति को बचाये रखा है। लेकिन समस्या यह है कि आदिवासी समाज आज पहले की तुलना में ज्यादा तंग है और समाज की असहिष्णुता का शिकार है। आर्थिक उदारीकरण और उसके पाश्चात्य मॉडल ने उनकी सामाजार्थिक संरचना को बिगाड़ा है। वे जीवन और विकास में पिछड़े हुए हैं, पर संस्कृति में नहीं। इसी के बीच यह शोषित–शासित तबका प्रतिरोध की लड़ाई लड़ रहा है। लोकतांत्रिक तरीके से प्रतिरोध की चेतना का प्रसार आवश्यक हो गया है। यह चेतना आ रही है इसीलिए घुमंतू–खानाबदोश आदिवासी भी विद्रोही चेतना से लैस हो रहे हैं। जिन्हें अपराधी माना जाता है। 'व्यवहार' में ये गरीब लोग भी अब जागरूक हो रहे हैं और जीने का हक मांग रहे हैं। भविष्य में उनकी लड़ाई निर्णायक सिद्ध होगी।''

(कृपाशंकर चौबे द्वारा लिए गए साक्षात्कार का अंश)

बेशक, झारखण्ड की आदिवासी जनता की यही सच्चाई है। इनकी कला–संस्कृति और समाज सर्वश्रेष्ठ है तथा इनके द्वारा गठित सामाजिक व्यवस्था समतावादी और जनतांत्रिक है। इसकी परख हम इनकी आर्थिक–सामाजिक गतिविधियों को देखकर बखूबी कर सकते हैं जो मूलतः सामूहिकता और सहकारिता पर आधारित है। यहाँ व्यक्तिवाद, लालच, प्रतिस्पर्धा और जीवन के यंत्रीकरण का व्यापक विरोध किया जाता है तथा श्रम और सामंजस्यपूर्ण सामुदायिक जीवन को महत्त्व दिया जाता है।

जैसा कि महाश्वेता देवी यह जोर देकर कहती हैं कि 'आदिवासियों में स्त्री–पुरुष की मर्यादा समान है।' निस्संदेह आदिवासी समाज में स्त्री–पुरुष की अवधारणा ही परस्पर सम्मान और मर्यादा पर आधारित है। दूसरे समाजों की स्तरानुक्रमीय अवधारणाएँ, जिसके अनुसार स्त्रियों की स्थिति पुरुष के अधीन रहने की है, आदिवासी सामज में नहीं है। यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि आज जब देश भर में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या निरंतर घटती जा रही है, लोग लड़कियों को जन्म से पहले ही काल–कवलित करने से नहीं हिचकते। अब तक लाखों–लाख लड़कियाँ पैदा होने से पहले ही दिवंगत हो गईं। आखिर इसका कारण क्या है? क्या वे इसलिए मरी कि पैदा ही नहीं होना चाहती थीं? सच तो यह है कि सामाजिक मान्यताओं, अपने रीति–रिवाजों, दहेज, पराए धर भेजने आदि के डर से बचने का सबसे आसान रास्ता मिला कि उन्हें पैदा ही न होने दिया जाए। और तो और बहुत सारी स्त्रियाँ कन्या भ्रूणहत्या को गलत नहीं मानती। पर क्या यह महज़ संयोग है कि झारखण्ड के गाँवों में आज भी लड़कियों के जन्म का जश्न मनाया जाता है, यहाँ तक कि लड़कों के होते हुए भी लोग अपने घर–मकान आदि का नामकरण लड़कियों के नाम से करते हैं। यह परंपरा यहाँ बहुतायत देखने को मिलती है। आदिवासी एवं सदान लोग भी लड़कियों के जन्म पर नाचते हैं, गाते हैं और जैसे उनका आँगन गूंज उठता है। एक नगपुरिया गीत जिसे इस मौके पर गाया जाता है, उसकी बानगी कुछ यों है–

''बेटी जनम सोना,

*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, ज.ने.महाविद्यालय, चक्रधरपुर, झारखण्ड, 09939007791

धरती सिंगार रे,
नारी जनम बेटी,
सुखकर सार रे.....'' (एक पारंपरिक नागपुरी गीत)

झारखण्ड की इस सामाजिक—सांस्कृतिक चेतना को आज के दौर में भी सुरक्षित देखकर गहरा संतोष होता है और अहसास भी कि हमारा देश कितना अद्‌भुत है। तरह—तरह की संस्कृतियाँ, इनकी अपनी जीवनशैली, सब—के—सब अद्‌भुत और विलक्षण। इसकी जितनी भी तारीफ की जाये, कम है। इन पंक्तियों का लेखक जहाँ बैठकर आदिवासी समुदाय की सामाजिक—सांस्कृतिक गतिविधियों की 'आँखों देखी' लिख रहा है वह झारखण्ड प्रदेश का सुदूर अति—पिछड़ा इलाका है। इस क्षेत्र को 'कोल्हान' नाम से जाना जाता है, 'कोल' आदिवासियों की बड़ी आबादी के कारण। इनकी एक बहुत ही जीवन्त भाषा है— 'हो', जो इस क्षेत्र विशेष की सम्पर्क भाषा भी है। एक 'हो जनगीत' जिसे स्त्री—पुरुष साथ मिलकर नृत्य के साथ प्रस्तुत करते हैं, कुछ इस तरह—

''कोवा—
कुडि होनेम—होनन रेदो माइ तञ
गन्ता लेका जुड़ा ताइमे।
कुडि—
कोवा होनेम—होनन रेदो बाबु तञ
सर अ: सर हतर ताइमे।''

(अर्थ: **पुरुष—** अगर बच्ची जन्म लेती है/उसे खूब दुलार देना और सजाकर रखना।/**स्त्री**— अगर बच्चा जन्म लेता है/उसके कंधे पर तीर—धनुष दे देना।)

अमूमन यह देखा जाता हैं कि भारतीय स्त्रियाँ न्याय सम्बलित अहिंसक दृष्टि को अपना अन्तिम अस्त्र मानकर चलती है। उनका मानना है कि एक दमन चक्र का जवाब दूसरा दमनचक्र नहीं होता। लेकिन इस जनगीत में झारखण्ड की आदिवासी स्त्रियाँ खुद अपने बच्चों के कंधे पर तीर—धनुष देने की बात करती हैं। अपनी आत्मरक्षा के लिए। अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए। जल, जंगल और जमीन की रक्षा के लिए। हालांकि यहाँ की आदिवासी स्त्रियाँ स्वयं भी शारीरिक रूप से काफी मजबूत और बलशाली होती हैं। इनके शौर्य का जिक्र करते हुए रणेन्द्र ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में लिखा है—

''धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी०के० जानू, सुरेखा दलबी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिला ललिता भी स्त्री।'' (नया ज्ञानोदय, अंक—६६; पृ० ११६; सं० रवीन्द्र कालिया)

बहरहाल, हम झारखण्ड की आदिवासी स्त्रियों की बात कर रहे हैं जो निश्चित रूप से यहाँ के पुरुषों से अधिक श्रमजीवी होती हैं। इन स्त्रियों को घर के काम के अलावा खेतों, जंगलों, ईट—भट्टों, खदानों, कल—कारखानों एवं अन्य निर्माण कार्यों में लगा देख सकते हैं और, चूंकि यहाँ की खेती मानसून के भरोसे होती है और इधर बीते सालों से भीषण सूखा पड़ जा रहा है। कृषि कार्यों में लगी स्त्रियाँ अपनी भाषा में गाती है—

''हसा तेया: गितिल तेया
ओते रोतना द:अ अंजेड तना
हुजु: में गामा हुजु: में।
दोया रेया होमोड़ो रेया
जेटे तना बलबन तना
हुजु: में गामा हुजु: में।
कोड़ा कोवा बूढ़ा कोवा
उर तना को सी तना को
हुजु: में गामा हुजु: में।''

(अर्थ: मिट्टी के बालू की जमीन/सूख रही है, पानी घट गया है/आओ वर्षा आओ/पीठ में, शरीर में/धूप से पसीना निकल रहा है/आओ वर्षा आओ/युवतियाँ, बूढ़ियाँ/रोप रही हैं, निकौनी कर रही हैं/आओ वर्षा आओ।)

इस गीत में श्रम में लगी स्त्रियाँ गा—गाकर मानसून के आने का आह्‌वान कर रही हैं। इससे इनकी सरलता तथा कठिन श्रम के बारे में पता चलता है। इसमें प्रकृति, प्रेम, करुणा, सौन्दर्य बोध तथा मानवीयता इन तमाम तत्त्वों की मौजूदगी सहज ही हमें अपनी ओर आकर्षित करती है। असल में इनकी पहचान और संस्कृति इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों और परिवेश के साथ घनिष्ट रूप से जुड़ी है। इन्होंने अपनी विविध मान्यताओं, मूल्यों, विश्वासों और व्यवहारों को विकसित किया है जो चारों तरफ मौजूद प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को इस प्रकार नियंत्रित करते हैं कि प्रकृति हमेशा अपनी विपुलता के साथ बनी रहे।

हालाँकि आज झारखण्डी आदिवासी स्त्रियों की पहचान और अस्तित्व भी उत्पीड़न की नव—औपनिवेशिक और राष्ट्रीय पद्धतियों के चलते खतरे में पड़ गयी है। वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में इनकी श्रम—जीवी—संस्कृति और नृत्य—गीत की बहुरंगी परंपरा सुरक्षित रह पाएगी कहना थोड़ा कठिन है। आज 'ग्लोबल विलेज' की बात की जा रही है और इसकी परिकल्पना साकार भी होती दिख रही है। कहा तो यह जा रहा है कि 'वैश्वीकरण एक अधिक विविधतापूर्ण, अनेकरूपी, विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण पेश करेगा। यह अनिवार्य रूप से एक ऐसी परिघटना होगी जिसमें भाषाएँ और संस्कृतियाँ न केवल स्वतंत्र विकास कर सकेंगी, बल्कि एक मिली जुली संस्कृति को भी पल्लवित करेगी।' ये बस उलझाने वाली बात है और एक कोरा बकवास मात्र। हकीकत तो यह है कि हर नई सभ्यता जीवन सौन्दर्य रचने का दावा लेकर आती है, पर किस तरह परदे के पीछे अपने स्वार्थ का खेल रचती है, हम भारतवासियों से छुपा नहीं है। यह साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का मिला—जुला खेल है। महाश्वेता देवी के शब्दों में 'पाश्चात्य मॉडल' की आधुनिकता, जो अपने देश में पुन: एक विनाशकारी स्थिति पैदा करने वाली है।

वस्तुत: साम्राज्यवाद ने हमेशा से ही राष्ट्रों की संस्कृति के साथ, भाषा के साथ और मानवीय सर्जनात्मकता के साथ बड़े पैमाने पर बाधाएँ उपस्थित करने का काम किया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के युग के आरंभ में भी इस देश में लोक—चेतना और जातीय संस्कृति के विघटन और प्रदूषण का अभियान ब्रिटिश शासकों और उनके विचारकों ने चलाया था। आज भी

साम्राज्यवाद के समर्थक विद्वान इतिहास और संस्कृति का विखंडन करके एक नई पूँजीवादी व्यवस्था को कायम होते देखना चाहते हैं ताकि असमानता, शोषण और अभाव–जनित हीनता की स्थिति बनी रहे। इसलिए झारखंडवासियों को अपना आखिरी लड़ाई संस्कृति के मोर्चे पर ही लड़ना होगी।

आज पूरा झारखंड जैसे खदबदा रहा है और इस आग में झुलसे हुए लोग अपने–अपने तरीके से अपना असंतोष प्रकट कर रहे हैं। कहना न होगा कि आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से मूल्यवान विरासतों का हकदार होते हुए भी चौतरफा शोषण और दमन के कारण झारखंडी जनता दलित और विपन्न है। 'मार्क्सिस्ट को ऑर्डिनेशन कमिटी' के नेता श्री ए०के० राय का कहना है–

''भारत में झारखंड दलितों का वासस्थान है। यह शोषित जनता की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि है, जहाँ लोग सामाजिक, आर्थिक तथा क्षत्रीय शोषण के शिकार हैं एवं जो हिन्दुस्तान के अन्दर सबसे बड़ा आंतरिक उपनिवेश है। नेता जो भी कहें, संगठन जो भी हो, झारखंड आंदोलन

मृत्युहीन है क्योंकि वह भारत के दलितों के मुक्ति आंदोलन तथा भविष्य से जुड़ा हुआ है।'' (ए०के० राय; झारखंड आंदोलन की नयी दिशा, चाईबासा; पृ० सं० १४)

बेशक, यह बात आज भी इस क्षेत्र के लिए उतनी ही सच है। एक ओर बाहर से आए हुए लोगों द्वारा सुनियोजित ढंग से यहाँ की संपदा की लूटपाट मची है तो दूसरी ओर यहाँ के अधिकांश लोग गरीबी और भूखमरी से लाचार हैं। बेहद संकट की स्थिति है। इस संकटपूर्ण समय में यहाँ की आदिवासी स्त्रियों की स्थिति क्या हो सकती है। सोचने वाली बात है। जो जन्म से ही सर्वहारा हैं। फ्रेडरिक एंगेल्स ने कहा भी है– 'पुरुषसत्तात्मक समाज में पुरुष बुर्जुआ और स्त्री सर्वहारा है।' यद्यपि आदिवासी समाज में स्त्री–पुरुष के बीच ऐसी भेदभावजनित स्थिति नहीं है, फिर भी टी०बी० और विज्ञापन के खेल में मुनाफे की भेंट चढ़ रही हैं, आदिवासी स्त्रियाँ। उनकी स्वतंत्रता को भी अब नकेल लगने लगी है। खासकर वैसे गांवों में जहाँ सामंती संरचना के अवशेष ज्यादा गहरे हैं। स्त्री–पुरुष विभेद वहाँ ज्यादा उग्र रूप में देखने को मिलता है। यहाँ झारखण्ड की एक प्रतिबद्ध आदिवासी महिला वासवी किड़ो का आत्मकथ्य देखना प्रासंगिक होगा। उनका कहना है, ''आदिवासी स्त्रियों के मुद्दे अन्य समाजों की तुलना में जटिल और उलझे हुए नहीं है। यह श्रम आधारित समाज है– जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों खेत–खलिहान में मेहनत करते हैं। स्त्रियों के हाड़–तोड़ मेहनत पर ही समाज टिका है। उसकी आर्थिकी बची हुई है। समस्या तब खड़ी होती जब औपनिवेशिक संस्कृतियों के प्रभाव से ग्रसित आदिवासी समाज सामन्ती मूल्यों का वाहक हो जाता है। स्त्रियों के बहुत सारे प्रश्न इस परिप्रेक्ष्य में गम्भीर हो जाते हैं। हल नहीं छूने देना, छप्पर नहीं छाने देना और त्योहारों में पाहन पूजा में स्त्रियों की अगुवा भूमिका न होना समाज की वर्जनाओं को दर्शाता है, इसे तोड़ने की आवश्यकता है और इसके खिलाफ महिलाएँ आवाज मुखर कर रही हैं।'' (वासवी : 'कथादेश' जून–२००५; पृ० ३४, सं० हरिनारायण) इनमें एक तरह का उत्साह है। डाइन प्रथा आदि महिलाओं पर अत्याचार, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ, जमीन व अन्य पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार आदि समस्याओं पर महिलाएँ मुखर होकर बोल रही हैं। संताली कवयित्री निर्मला पुतुल कहती हैं ''किसी कारणवश

यदि संताल महिलाओं को दोबारा शादी करनी हो तो पहले की तरह धूम–धाम से विवाह करने की सख्त पाबंदियाँ हैं। जबकि पुरुषों के लिए नहीं हैं। वह चाहे जितनी बार धूमधड़ाका कर सकता है।'' (निर्मला पुतुल: 'अखड़ा' मार्च–मई' १०; सं० वंदना टेटे; पृ० सं०–४५) जबकि सच तो यह है कि ग्रामीण झारखण्ड जीवित रहने के लिए महिलाओं पर निर्भर है। स्त्री–श्रम के कारण ही बच्चों एवं परिवारों को भोजन मिलता है। घर के लिए जल और ईंधन स्त्रियां ही इकट्ठा करती हैं। परिवार के खेत और गांव की अर्थव्यवस्था स्त्रियों के श्रम के बल पर फलती–फूलती है। घर का रखरखाव, कुल कृषि श्रम में ८५ फीसद योगदान स्त्रियों का है। भविष्य में क्या करने की आवश्यकता है, ये स्त्रियाँ ही सबसे अच्छी तरह समझती हैं। बकौल निर्मला पुतुल– ''आदिवासी औरतें जो आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं, उन्हें खेत–खलिहान, जंगल–पहाड़ में ही नहीं, हाट बाजारों में भी मेहनत मजूरी करते हुए देखा जा सकता है। अनाज के एक–एक दाने उनके पसीने से पुष्ट होते हैं।'' (वही; पृ० सं० ४४)।

महुआ (वनोपज) लेकर गाँव से हाट आने वाली एक स्त्री टिपरीया तीऊ इन पक्तियों के लेखक से बातचीत के क्रम में बताती है : ''मुझे रोजाना १५ किलो मीटर पैदल चलकर बाजार तक आना होता है तब जाकर १००–५० रू० कमा पाती हूँ। अगर यह यात्रा में मैं गाड़ी से करूँ तो २०–३० रूपये उसी में खर्च हो जायेंगे तब तो मेरा परिवार भूखमरी का शिकार हो जाएगा। बच्चे अन्न के दो दाने के लिए तरस जायेंगे।'' बावजूद इतनी कठिन मेहनत के इनकी मौत भूख से होती है, इस पर न तो सरकार का ध्यान जाता है और न ही इनके नाम पर लाखों रूपये उगाहने वाले गैर सरकारी संस्थानों के कुछ के अपवादों को छोड़कर। दिल्ली में एक गैर सरकारी संस्था है 'पैनोस इंस्टीट्यूट'। यह एक ऐसी विश्वव्यापी गैर सरकारी संस्था है जिसका उद्देश्य है विकास के मुद्दों पर सार्वजनिक वाद–विवाद व चर्चा को बढ़ावा देना। पैनोस साउथ एशिया तथा पैनोस लंदन इन्हीं का हिस्सा हैं। संसार भर में होने वाली विकास प्रक्रियाओं से जिन लोगों के जीवन सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं, पैनोस उन लोगों की आवाज को बीच मंच पर लाना चाहते हैं। इसके तहत पैनोस ने झारखण्ड के हजारीबाग जिले में कोयला खदानों के आने से विस्थापित हुए जनसमुदायों विशेषकर स्त्रियों के बीच एक मौखिक साक्षात्कार परियोजना का संचालन किया। खदानों से लोगों पर आर्थिक प्रभाव तो पड़ा है ही, साथ–साथ यह भी सामने आया है कि विस्थापन और पुनर्वास के सबसे दीर्घकालीन प्रभाव सामाजिक और सांस्कृतिक होते हैं– जैसे पारम्परिक सामाजिक रिश्तों और ढाँचों का ढहना, सांस्कृतिक पहचानों का मिटना और लोगों की जीविका और उनके पर्यावरण के बीच के सम्बन्धों का टूटना।

बहरहाल, पैनोस ने इसकी मार झेल रही कुछ झारखंडी संघर्षशील स्त्रियों का मौखिक साक्षात्कार लेकर उसे 'काली हरियाली' नाम से प्रकाशित किया है। इसमें फूलमनी सोरेन आयु लगभग ३० वर्ष एक विधवा आदिवासी महिला का साक्षात्कार संकलित है। इनके पति का कुछ वर्ष पहले ही देहान्त हुआ है। इनके चार बच्चे हैं, दो लड़के व दो लड़कियाँ। इनके पति सीसीएल में नौकरी करते थे किन्तु उनके देहान्त के बाद भी फूलमनी को पति की जगह पर अभी तक नौकरी नहीं मिली है। खदान में होने वाली ब्लास्टिंग से इनका घर बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गया है। जीवनयापन के लिए थोड़ी बहुत खेती करती हैं और लोकल सेल डिपों में काम करती हैं।

इनके रोगग्रस्त बूढ़े ससूर भी इन्हीं के साथ रहते हैं। फूलमनी का जीवन अत्यंत कष्ट से कट रहा है क्योंकि चार बच्चों व एक वृद्ध को पालना कोई आसान कार्य नहीं है। फिर भी फूलमनी हिम्मत नहीं हारी है और हर हालात में अपने बच्चों को शिक्षा देकर उनका भविष्य सुधारने के प्रति दृढ़ संकल्प है। वह अपना दर्द–ए–बयां कुछ यूँ करती है–

''जब यहाँ मैं नई–नई आई थी, तब हम औरते जंगल जा कर जलावन, फल–फूल, साग सब लेकर आती थी। कोई खदान, मजदूर, ठेकेदार, कोई नहीं था। हम औरतें खेत में काम करती थीं या जंगल जाती थी। सबके लिए काम था। अब औरतें खाली बैठी रहती हैं। हम औरतों को ही पता है कि खदान ने हमारी क्या हालत कर दी है। पहले सारे साल खेतों में काम करके धान उगाते थे, दाल उगाते थे। दोपहर का खाना खेतों में खाकर शाम को घर लौटती थी।... खदान आने से कोई फायदा नहीं हुआ बल्कि हम डूब गए हैं। अगर अभी भी हमसे कोई कहे कि पहाड़ धाँसों तो धाँस सकते हैं लेकिन यहाँ तो कुछ भी नहीं कर सकते। सब जमीन सरकार के हाथ में चला गया... मेरे बच्चों के पिता नहीं है। मुझे ही उनका रास्ता बनाना है, उनको आगे अच्छा आदमी बनाना है।'' (फूलमनी सोरेन का आत्मकथ्य: काली हरियाली : संकलन–सोनल वर्मा; पृ० सं० ३८–४१; प्रकाशन–पैनोस इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली)

फूलमती जैसी न जाने कितनी महिलाएँ है। इस पर भी तमाम तरह के प्रतिबंध और सरकारी अत्याचार, इनको विवश करती है पलायन को और उकसाती है संघर्ष के रास्ते अख्तियार करने को। यही कारण है कि ''आदिवासियों के बीच नक्सलवादी हिंसक संघर्ष पैदा हुए हैं।'' (मधु किश्वर : भारत का भूमंडलीकरण (सं०) अभय कुमार दुबे; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; पृ० २९३) और, अब तो इस संघर्ष में आदिवासी महिलाएँ भी सम्मिलित हो रही हैं। निश्चित रूप से महिलाएँ यहाँ दोहरे मोर्चे पर संघर्ष करती हैं। आजीविका के संकट के कारण एक तो पलायन करती हैं, दूसरे मानव व्यापार का शिकार होती हैं। दोनो ही स्तरों पर उन्हें कई तरह के शोषण से गुजरना पड़ता है। आंकड़ो पर गौर करें तो करीब एक लाख से ऊपर आदिवासी महिलाएं दिल्ली में घरेलू कामगार मसलन– 'आया' अथवा 'नौकरानी' के रूप में कार्य कर रही हैं। यद्यपि महिलाएँ अपनी सीमित आय से अपने परिवार वालों को आर्थिक मदद पहुँच रही हैं। लेकिन दूर परदेस में इनके साथ हो रहा मानसिक और शारीरिक शोषण एक ज्वलंत सामाजिक समस्या बनकर सामने आया है। इन महिलाओं से बातचीत करने पर यह बात प्रमुख रूप से सामने आयी है कि वे गरीबी और स्थानीय स्तर पर आय के साधन उपलब्ध न हो पाने के कारण पलायन को मजबूर हैं।

'झारखण्ड धारा' के संपादक नेह अ० इंदवार इन पलायनग्रस्त महिलाओं के बारे में लिखते हैं, ''आदिवासी समाज ही शायद एक ऐसा समाज है जहाँ माँ–बाप और गाँव वाले अपनी गरीबी को दूर करने के लिए अपनी लड़कियों को दूर परदेस कमाने के लिए भेजते हैं। भारत के शायद किसी दूसरे प्रीत में इस तरह के उदाहरण नहीं मिलेंगे। दूसरे समाज के लोग आय के साधनों के लिए पुरुष वर्ग पर ही निर्भर होते हैं और अपनी महिलाओं को गरीबी में भी अपनी घर की अमानत समझकर उन्हें हर तरह के दु:खों से बचाते हैं। इस मायने में आदिवासी समाज में महिलाओं को पर्याप्त व्यक्तिगत आजादी हासिल है और समाज उनकी इच्छाओं का समादार

करता है तथा लड़कियाँ इन्हीं मूल्यों के कारण अपनी इच्छा से रोजगार प्राप्ति के लिए शहरों में जाती हैं।'' (झारखण्ड धारा: सं० नेह अ० इंदवार–प्रवेशांक, अक्टूबर' २००६; पृ० सं० १२) हालाँकि दिल्ली जैसे शहरों में अब झारखंड की आदिवासी महिलाएँ अपनी समस्याओं से तंग आकर एक संगठन भी बना लिया है। यह संगठन झारखण्ड की कामकाजी महिलाओं को संरक्षित करने का प्रयास करता है। दिल्ली के परिवारों में घरेलू काम करने वाली ये महिलाएँ 'निर्मला निकेतन' नामक इस संगठन की सदस्य हैं। आदिवसी लड़कियों पर हो रहे विभिन्न तरह के शोषण को कम करने और खुद ही अपनी आवाज बनने के लिए इस संगठन का निर्माण हुआ है। दिल्ली में रह रही शांति इंदवार गुमला जिले के मरदा पंडा टोला गांव की रहने वाली है। वह अपने अनुभव को कुछ यूँ बतलाती है–

''मैं दिल्ली शहर में नौकरी की तलाश में गयी थी। जिन स्थानों पर मुझे नौकरी मिली वहाँ खाना सही ढंग से नहीं मिलता था। दिन में अट्ठारह घंटे काम करने होते थे। जब से झारखण्ड की लड़कियों ने संगठन बनाए हैं तब से दूसरी बहनों के सहयोग से मैं भी अपनी आवाज बुलंद करने लगी हूँ।'' (झारखण्ड धारा–वही, पृ० सं० १३) इसी तरह दस–बारह वर्षों से दिल्ली में काम कर रही भलेरिया तिर्की गुमला जिले के डोवारी मेकपुर गाँव की रहनेवाली है। आर्थिक तंगी के कारण भलेरिया वर्ग–९वीं तक ही पढ़ सकी। उसने अपने भाई–बहन की पढ़ाई पूरा कराने की ठानी। इसके लिए उसने शहर में जाकर काम करना निश्चय किया और दिल्ली चली गयी। भलेरिया बतलाती हैं :

''यहाँ आने के बाद झारखण्डी लड़कियों पर दया आती थी। लेकिन गाँव वापस जाने के बदले हमने यहाँ रहकर राहत का विकल्प खोजा। हम एक दूसरे के सहयोगी बने। आज झारखंड की कई लड़कियाँ साथ रहती है। काम भी करती हैं और घर भी जाती हैं। सभा सेमिनार में लोगों को संबोधित भी करती हैं। संगठन ने हमें अंदर से मजबूत किया है।' (वही; पृ० सं० १३) कुछ यूँ ही संताली कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी स्त्री जीवन का दर्द अब संघर्ष का रूप लेता है। शब्द जैसे नगाड़े की तरह बज उठते हैं। 'बहामुनी' कविता की ये पंक्तियाँ देखें–

''तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों/पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारे पेट/कैसी विडम्बना है कि/जमीन पर बैठे बुनती हो चटाईयाँ/और पंखा बनाते टकता है/तुम्हारे करियाये देह से टप....टप....पसीना!/क्या तुम्हें पता है कि जब कर रही होती है तुम दातुन/तब तक कर चुके होते हैं सैकड़ों भोजन–पानी/तुम्हारे ही दातुन से मुँह–हाथ धोकर?'' (निर्मला पुतुल : नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द; पृ० सं० १२; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं० २००४)

कहना न होगा कि कवयित्री यहाँ बहामुनी के माध्यम से समूचे आदिवासी स्त्री समुदाय की आर्थिक–सांस्कृतिक आजादी की मांग कर रही है। आर्थिक शोषण का यह फ़लसफ़ा है कि दिन भर जी तोड़ मेहनत–मजदूरी करके भी वह अपना पेट नहीं भर पाती हैं। इसलिए उनके लिए संघर्ष के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। वह 'बिटिया मुर्मू के लिए' कविता में यह उद्घोष करती हैं कि–

''उठो कि अपने अँधेरे के खिलाफ उठो/उठो अपने पीछे चल रही साजिश के

खिलाफ/उठो, कि तुम जहाँ हो वहाँ से उठो/जैसे तुफान से बवण्डर उठता है/उठती है जैसी राख में देखी चिनगारी/देखो! अपनी बस्ती के सीमान्त पर/जहाँ धाराशायी हो रहे हैं पेड़/कुल्हाड़ियों के सामने असहाय/रोज नंगी होती बस्तियाँ/एक रोज माँगती तुमसे/तुम्हारी खामोशी का जवाब।'' (वही–पृ० १४)

निश्चय ही कवयित्री जैसे अपने समुदाय को चुप्पी तोड़ने के लिए विवश कर रही हैं। चूँकि जल, जंगल और जमीन का आदिवासी जीवन संस्कृति से गहरा जुड़ाव है। इसके बिना समाज की जड़ें हिल जाएंगी और आर्थिक सामाजिक ताना–बाना तो प्रभावित होगा ही। इन पंक्तियों का लेखक कोल्हान प्रक्षेत्र में कार्यरत है। इस क्षेत्र में संघर्षरत आदिवासी समुदाय के लगभग दस संगठनों का एक साझा मंच है– 'मचा कुमुटि'। इस मंच की एक महिला कार्यकर्त्ता शांति सावैयां अपनी भाषा में ही कहती हैं ''मयोंम सेनो: रेओ मिड बिते ओते कबू ओमेया'' यानी ''जमीन देना, खुद को बर्बाद करना है।'' यह वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था और विस्थापन की भयावहता के विरूद्ध खुले संघर्ष का उद्घोष है।

वस्तुत: आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था के केन्द्र में पूंजी का महत्व कभी रहा ही नहीं है। आज भी इनकी आंतरिक अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय तत्त्व श्रम है। जल, जंगल और जमीन इनके श्रम की संस्कृति को सामूहिकता और सृजनशीलता के संस्कार से सींचता है। स्वभावत: जंगल और जमीन से उज़ाड़े जाने का दर्द तो इनमें होगा ही जैसा कि ऊपर की कविता में आया है। इस जंगल को बचाने के लिए वे कहीं तक जाने को तैयार हैं। क्योंकि इनके पास पूँजी की स्वीकृति उतनी ही है जितना कि वह श्रम और सामूहिकता को आसान और आनंददायक बनाती हैं। इसलिए तो विश्वपूंजीवाद के इस दौर में कवयित्री निर्मला पुतुल अपने समुदाय को उद्वेलित करती हैं–

''आओ मिलकर बचाएँ/अपनी बस्तियों को/नंगी होने से/शहर की आवो–हवा से बचाएँ उसे/...और इस अविश्वास–भरे दौर में/थोड़ा–सा विश्वास/थोड़ी–सी उम्मीद/थोड़े–से सपने/आओ, मिलकर बचाएँ/कि इस दौर में भी बचाने को/बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास!'' (वही, पृ० सं० ७६–७७) इसलिए कवयित्री कहती हैं –

''मुझे वापस लौटना है/उन बूढ़ी पथराई आंखों में उम्मीद की रोशनी बनकर/थक हार कर निराश चुप्पी साधे बैठी/लुईस मुर्मू की आवाज बनकर/अपने दोस्त की रक्षा की खातिर/वापस लौटना है/वापस लौटना है/इसलिए मुझसे उम्मीद न करें/कि मैं आपकी शानो–शौकत के आकर्षण में बंधकर/आपके चमकते चेहरे और मीठी बातों में दिलचस्पी लूंगी/मुझसे उम्मीद न करें।'' (जनसत्ता–रविवारी; १३ फरवरी, २००५) एक लंबी कविता का यह अंश अपने आप में एक पूरी कविता है जिसका सम्बन्ध आज के संकटग्रस्त समय के भीतर एक संवेदनशील नागरिक की सजगता से है। इस कविता के भीतर से एक संकल्प भी फूटता है जिसकी ओर ध्यान दिलाना बेहद जरूरी है, यह कि– ''आपकी शानो–शौकत के आकर्षण में बंधकर दिलचस्पी लूंगी/मुझसे उम्मीद न करें'' पूरे समाज का भविष्य सँवारने के लिए अपने वर्तमान के सुखों का त्याग निश्चय ही एक बहुत बड़ा संकल्प है और आज के भोगवादी युग में एक बड़ी चुनौती भी।

विमर्श

'अपेक्षित' के लिए 'उपेक्षितों' का संघर्ष...

*प्रभात कुमार मिश्र

हम लगातार पिछले दशकों से यह सुनते आ रहे हैं कि देश के किसी भी हिस्से में अगर कोई जनसमूह कहीं विरोध का, असंतोष का, आत्मसम्मान का स्वर उठाता है, तो उसके लिए यह निरन्तर मांग की जाती है कि उन्हें मुख्य धारा में शामिल किया जाए। यहाँ मुख्य धारा से मतलब केन्द्रीय धारा है। व्यापक अर्थ में और साहित्य–संस्कृति के प्रसंग में मोटे तौर पर इसे परम्परा के रुप में भी समझा जा सकता है। समाज में जो शासक समुदाय है और उसके जो बुद्धिजीवी हैं, वे संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में एक 'केन्द्रीय परम्परा' (Great Tradition) बनाए रखना चाहते हैं और दूसरी परम्पराओं (Little Tradition) को वे हमेशा हाशिए पर रखने की कोशिश करते हैं। हाशिए पर अवस्थित संस्कृति और समाज को भूलकर केवल केन्द्र की संस्कृति की ओर देखते हुए समाज को ठीक से समझ सकना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि कई बार हाशिए पर कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो केन्द्र से अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं।

किसी समुदाय की संस्कृति उसके जीवन के पूरे दायरे (देशकाल) में अर्जित मूल्यबोध की पूँजी होती है और उसके लिए पहचान अस्मिता के संकट का सवाल तब आता है जब वह देखता है कि उस संचित पूँजी पर संकट उत्पन्न हो रहा है, और उसकी पहचान के विघटित होने का भय उसे आतंकित करता है। इस प्रकार संघर्ष और सामंजस्य एक ही ऐतिहासिक प्रक्रिया के दो पहलू हैं। दुनियाभर के समाजशास्त्रियों ने बताया है कि केन्द्र और हाशिए की स्वायत्तता से बाहर निकलकर उनके बीच के सम्बन्ध पर ध्यान देना ही समूची परम्परा की व्याख्या का एक स्वस्थ दृष्टिकोण है। इस अर्थ में 'स्व' (self) और 'पर' (other) परस्पर विरोधी कोटियां मात्र नहीं हैं। साहित्य, संस्कृति, समाज और राजनीति इन चारों क्षेत्रों के बहुत सारे सम्बन्धों और बहुत सारी समस्याओं की व्याख्या इनके माध्यम से हो सकती है। 'स्व' और 'पर' के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में भी बहुत विचार हुआ है। सवाल यह है कि 'स्व' का स्वरुप कैसे निर्धारित होगा? 'पर' के सम्बन्ध से ही निर्धारित होगा और 'पर' का स्वरुप 'स्व' के साथ उसके सम्बन्ध से। जाहिर है सम्बन्ध केवल समानता और एकता के अर्थ में ही नहीं होता। अंतर के अर्थ में भी सम्बन्ध पर विचार महत्वपूर्ण है। यूरोप ने अपने समूचे उपनिवेश को 'अन्य' के बतौर देखने की कोशिश की। यही कारण है कि उपनिवेशवाद के व्याख्याकारों एवं आलोचकों का यूरोप पर आक्षेप है कि उसने विविध ज्ञानानुशासनों एवं रचनात्मक साहित्य के भाषा–पाठों में मौजूद

*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर-788011(असम), मो. 09435370523

धारणाओं, नजरियों, मूल्यों एवं ज्ञानमीमांसाओं का अध्ययन और विमर्श 'स्व' के विपरीत 'अन्य' के रुप में किया है।

यह एक जानी हुई बात है कि किस प्रकार हाशिए (आदिवासियों, अश्वेतों, स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यकों) की आवाज को दुनियाभर में तरह–तरह के 'वृहत् आख्यानों' (Grand Narrations) और सार्वभौमिकता (Universalism) के दावों में पीछे छोड़ दिया गया है। 'यूनिवर्सल' और 'नेशन' जैसे शब्दों और अवधारणाओं के पीछे भी कहीं–न–कहीं रंगपरक, नस्लपरक, लिंगपरक या जातिपरक उत्पीड़न–दमन छिपा हुआ है। अस्मिता और पहचान की राजनीति का उत्स इस भयंकर दमन में ही निहित है। यहां यह समझना होगा कि इस प्रक्रिया की प्रतिक्रिया दोनों तरफ होती है और पहचान की राजनीति भी दो तरह की हो सकती है। एक तो वर्चस्वपरक–उत्पीड़क अस्मिता की राजनीति और दूसरा प्रतिरोधपरक–उत्पीड़ित अस्मिता की राजनीति।

''जब हम गाते हैं
तो वे डर जाते हैं।
वे डर जाते हैं
जब हम चुप हो जाते हैं।
वे डरते हैं
हमारे गीतों से
और हमारी चुप्पी से भी।''

–कात्यायनी

आधुनिक समाज की बहुत सारी सरल–सहज घटनाओं से बेखबर और सूचनाओं से अनजान आदिवासी को 'हम' और 'वे' की बड़ी सटीक पहचान है। जंगल के मूलवासी हैं 'हम' और जंगल में बाहर से आए प्रवासी हैं 'वे', जिन्हें आदिवासी 'दिकू' कहकर बुलाते हैं। 'दिकू' माने दिक्कत पैदा करने वाला...बड़ी साफ समझ है इनकी।

हम जानते हैं कि ऐतिहासिक प्रभावों और विभिन्न आर्थिक–सामाजिक परिवर्तनों के प्रभाव से देश का बहुलांश, वेश–भूषा, भाषा, सभ्यता, संस्कृति आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में, समीप आ सका है। शासन–प्रशासन, आधारभूत विकास, औद्योगिक और प्राविधिक सुविधाओं से सहारा पाकर इनके बीच की यह समीपता और संघनित होती चली गयी है। विशेषकर विज्ञान और तकनीक की प्रगति, विभिन्न भूभागों का आर्थिक–सामाजिक अन्तरावलम्बन और अभूतपूर्व रुप से विकसित संचार की सुविधाओं ने विभिन्न देशों और एक देश के भीतर भी विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक दूरियां तो कम की ही हैं, सांस्कृतिक पक्षों को भी निकट लाकर एकरुपता कायम करने में मदद की है। किन्तु, इस 'बहुलांश' से इतर जो 'अल्पांश' हमारे भूभाग का, और जनसंख्या का भी बचा रह गया है, जिसके अन्तर्गत प्राय: प्राचीनतम निवासियों के समूह आते हैं, जिन्हें हम 'जनजाति' या 'आदिवासी' कहते हैं... उनका क्या हुआ है?

आर्थिक–सामाजिक–सांस्कृतिक–प्राविधिक प्राय: सभी धरातलों पर विभिन्न वजहों से यह जनजाति समूह अप्रभावित रहा है। इसी कारण से बहुलांश की संघनित संस्कृति से इनकी

दूरी लगातार बढ़ती चली गयी है। आज यह दूरी इतनी अधिक जान पड़ती है कि हम जब आदिवासियों की विशेषताएं भी बताते हैं तो उसकी भाषा में हम इस दूरी की उपस्थिति पहचान सकते हैं। प्रख्यात समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे अपनी किताब 'मानव और संस्कृति' में बताते हैं कि आदिवासियों की संस्कृतियों के विभिन्न पक्षों में अन्तर होते हुए भी उनकी संस्कृतियों की निम्न विशेषताएं उल्लेखनीय हैं :

१. आदिवासी क्षेत्रीय समूहों में रहते हैं, और उनकी संस्कृतियां अनेक दृष्टियों से **'क्षेत्रीय संस्कृतियां'** मानी जा सकती हैं।
२. उनका सांस्कृतिक विश्व **अपेक्षाकृत सीमित** होता है, और उनकी संस्कृति अधिकांशत: **परम्परा द्वारा स्वीकृत एवं पुरस्कृत मूल्यों पर आधारित** रहती है।
३. उनमें **ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव** होता है, और पिछली कुछ पीढ़ियों का यथार्थ इतिहास जातीय मिथक में मिल जाता है।
४. वर्ग एवं स्तर–भेद की अपेक्षाकृत न्यूनता तथा **अनुभव–क्षमता के सीमित विश्व** के कारण विभिन्न व्यक्तियों के सांस्कृतिक ज्ञान तथा अनुभवों में बहुत अधिक अंतर इन संस्कृतियों में नहीं मिलते।
५. पर–संस्कृतियों से सम्बन्ध रखते हुए भी इस धरातल की अधिकांश संस्कृतियों में अपनी विशिष्ट **परम्परागत रुढ़ियों, विश्वासों और जीवन–शैलियों पर चलने का विशेष आग्रह** रहता है।

उपरोक्त बिन्दुओं में मोटे टाइप में छपे शब्द स्वयं ही इस बात की गवाही दे रहे हैं कि हमारी दृष्टि उनकी सीमाओं–कमजोरियों–न्यूनताओं पर ही टिकती रही हैं बजाय उनकी वास्तविक विशिष्टताओं को अनुरेखित करने के। गैर आदिवासी समाज और संस्कृति द्वारा आदिवासी समाज की न्यूनताओं को ही रेखांकित करने की इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हो रहा है कि उनमें अपनी परम्परा का आग्रह उतना ही अधिक बढ़ता जा रहा है और अस्मिता की रक्षा का आग्रह भी उतना ही प्रबल होता जा रहा है। सशक्त और बहुलांश की सांस्कृतिक अहमन्यता की रक्षात्मक प्रतिक्रिया में यह उपेक्षित समूह अपनी अस्मिता को बचाने में तत्पर हो गया है। यह प्रक्रिया 'हम' और 'वे' की दूरी बढ़ाती है और सहज सह–अस्तित्व में बाधा डालती है। भावनात्मक धरातल पर यह इतना सम्वेदनशील विषय है कि विशेष स्थितियों में ऐतिहासिक लक्ष्यों और तर्कों को भी स्वीकार नहीं करता। इसकी परिणति एक प्रकार के सांस्कृतिक संघर्ष में होती है, सैमुअल हटिंगटन जिसे 'सभ्यताओं के संघर्ष' के रुप में सैद्धांतिक आधार देते हैं। यहाँ संघर्ष इस बात का है कि यह मान लिया गया है कि एक अस्मिता का विकास दूसरी अस्मिता के विरोध में है। इस बिन्दु पर आकर अस्मिता दरअस्ल अस्मिता की राजनीति में तब्दील हो जाती है। अपने एक साक्षात्कार में नामवर सिंह ने बताया है कि अस्मिता की राजनीति के लिए 'अन्य' का होना बहुत जरुरी है। अस्मिता की राजनीति बिना द्वैत के टिक ही नहीं सकती क्योंकि यहां 'मैं' का अर्थ तभी बनता है जब सामने एक 'तुम' हो। इस 'मैं' और 'तुम' को मिलाकर 'हम' की दिशा में न ले जाकर अस्मिता की राजनीति बराबर यह चाहती है कि 'मैं' मैं रहे और 'तुम' तुम रहे, बल्कि 'वह या वे'।

यद्यपि भारतीय संविधान के अनुसार सभी नागरिक समान हैं। प्रजाति, धर्म, विश्वास और जाति से उनकी स्थिति में अंतर नहीं आता। संविधान ने किसी भी नागरिक, वर्ग या समूह को कोई विशेषाधिकार नहीं दिया है। हमने आदिवासियों के प्रति विशेष रुप से संवेदनशील नेहरु—एलविन सिद्धांत को अपनाया है और यह प्रयत्न किया है कि जहां तक हो सके, आदिवासी परम्पराओं को छेड़ा न जाए और यह भी कोशिश की कि आदिवासी क्षेत्रों को अति—शासन के दोष से मुक्त रखा जाए। प्रयत्न यह भी था कि आदिवासियों पर अनावश्यक सुधार थोपे न जाएं। श्यामाचरण दुबे ने अपनी पुस्तक 'समय और संस्कृति' में विचार करते हुए यह बताया है कि ''देश के आदिवासी बहुल भागों में जब अस्थिरता और अशांति होती है, तो हमारी जनसंख्या का एक बड़ा भाग उत्तेजित हो जाता है। उसे आश्चर्य होता है कि आदिवासी अपनी प्राथमिक परम्पराओं से क्यों चिपके रहना चाहते हैं? वे महान् भारतीय परम्परा का अंग बन जाने का विरोध क्यों करते हैं? संविलयन, उनकी दृष्टि में, आदिवासी समस्याओं का एकमात्र समाधान है।'' श्यामाचरण दुबे का मानना है कि इस प्रकार की समझ बहुत ही सरलीकृत समझ है। उनके अनुसार यदि सशक्त और बहुसंख्यक तबका अपनी परम्परा, जातीय प्रथाओं और रस्म—रिवाजों को बनाए रखता है तो यह कहीं से भी उचित नहीं है कि हम आदिवासियों से यह अपेक्षा करें कि वे अपने वैशिष्ट्यसूचक चिह्नों को त्याग दें।

हम जानते हैं कि रंग, रुप, आकार तथा अन्य शारीरिक विशेषताओं के आधार पर मानव जाति को अनेक समूहों में विभाजित किया गया है। मोटे तौर पर इन समूहों को ही प्रजाति अथवा रेस कहा गया है। इस सवाल पर विचार करते हुए श्यामाचरण दुबे ने बताया है कि दुर्भाग्यवश इस प्राणी—शास्त्रीय शब्द (प्रजाति) का राजनीतिक वाद—विवादों तथा सामाजिक—सांस्कृतिक अन्धविश्वासों एवं संघर्षों में इतने भिन्न अर्थों में उपयोग हुआ है कि मानव—विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन में उसके वास्तविक अर्थ का निरुपण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। विशिष्ट जातियों, राष्ट्रों अथवा समूहों की योग्यता प्रमाणित करने के लिए अनेक तथाकथित वैज्ञानिकों ने कतिपय प्रजातियों को नैसर्गिक रुप से अधिक योग्यता—सम्पन्न होने का तर्क उपस्थित किया। उन्होंने बताया कि इस सम्बन्ध में मानव—विज्ञान की नवीनतम स्थिति यह है कि प्राणी—शास्त्रीय दृष्टि से प्रजातियों में अन्तर अवश्य होते हैं, किन्तु उन पर सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है, और ये अन्तर इतने प्रभावशाली नहीं होते कि केवल उनके आधार पर ही किसी जाति को अत्यन्त उच्च धरातल की अथवा निम्न धरातल की माना जा सके।

असल में इस प्रकार की अपेक्षा के पीछे सशक्त सभ्यता का यह दर्प छिपा होता है कि न केवल शारीरिक बनावट और सांस्कृतिक स्तर पर ही आदिवासी उनसे कमतर हैं बल्कि उनकी बौद्धिक क्षमता भी प्रखर नहीं है। अपने इस दर्प की वजह से ही वह यह मानने लगते हैं कि सारे उदात्त गुण उनमें और प्राय: सारे दुर्गुण दूसरों में ही हैं। यदि हम पीछे जाएं तो इसी वजह से हम पाते हैं कि दुनियाभर में यह माना गया था कि जो गोरे हैं वह प्रतिभाशाली, विचारशील, सच्चरित्र, दयालु होते हैं, और जो काले लोग हैं उनमें यदि कोई एक गुण है भी तो वह यह कि उनकी कल्पना शक्ति बड़ी तीव्र होती है और उनको संगीत से प्रेम होता है। यह प्रबल धारणा बनाई गई

कि अनार्य—आदिवासी लोगों की बौद्धिक सम्पत्ति कम होती है। एक लम्बे समय तक इस धारणा को पुष्ट करने के लिए यह उदाहरण दिया जाता रहा कि दक्षिण अमेरिका में स्पेन और पुर्तगाल से आये हुए आर्य चूंकि कम हैं और आदिम निवासियों तथा हब्सियों की संख्या अधिक है इसलिए उत्तरी अमेरिका के बराबर ही विस्तृत भूभाग तथा भौतिक सम्पत्ति से परिपूर्ण होते हुए भी दक्षिण अमेरिका उसके बराबर प्रगतिशील नहीं है।

इस समस्या पर राजनीति एवं समाजशास्त्र के गंभीर चिन्तक और दार्शनिक सम्पूर्णानन्द ने बड़े मार्के की बात कही है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्यों का आदिदेश' में उन्होंने बताया है कि प्रजातियों के बीच शारीरिक के साथ—साथ बौद्धिक और सांस्कृतिक भेदों को स्वीकार करना दरअस्ल अपरिपक्व विचारों और मूढ़ाग्रहों का परिणाम है। जो लोग आज उन्नत हैं वह कल बर्बर थे, जो कल बर्बर थे वह आज उन्नत हैं। यूरोप में सबसे पहले यूनान ने आगे पांव बढ़ाया और अमर कीर्ति स्थापित कर गया। उन दिनों शेष यूरोप जंगली था। आज उन्हीं जंगलियों के वंशज प्रगति में अग्रगण्य हैं, यूनान का इस क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। भारत और मिस्त्र पीछे पड़ गए हैं, जिनको इन्होंने सभ्य बनाया वह आगे निकल गये हैं। आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व अरबों को कोई जानता न था; मुहम्मद के उदय के थोड़े दिनों बाद उन्होंने संस्कृति के एक नए अध्याय की रचना की। शिवाजी से पहले महाराष्ट्र और गुरु गोविन्द सिंह के पहले पंजाब के गुणों को कौन जानता था? उनके अनुसार ऐसा मानने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि कुछ लोगों में उदात्त और कुछ में हीन बौद्धिक और आध्यात्मिक गुण अमिट रुप से वर्तमान हैं और एक के गुण दूसरे में नहीं आ सकते। सम्पूर्णानन्द ने जोर देकर कहा है कि प्रजातिद्वेष बड़ा भयावह भाव है। नाक, आंख की आकृति में भेद रहे तो उससे कोई हानि नहीं होती, किन्तु जब तक यह भाव रहेगा कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से प्रकृत्या उन्नत है, तब तक संघर्ष रहेगा, अशान्ति रहेगी। आर्य, सेमेटिक, मंगोल, हब्शी सब ही मनुष्य जाति के अंग हैं और इनको एक—दूसरे के निकट लाने में ही जगत का कल्याण है। यह दायित्व उनका ही है, जो आज सभ्य और संस्कृत हैं। यदि अभिमान में पड़ कर उन्होंने दूसरों को कुचलने का प्रयास किया, जैसा कि हो रहा है, तो घोर अनर्थ होगा।

आज सारी दुनिया में अस्तित्व के संघर्ष में हारी हुई जातियां अपनी अस्मिता को खोज रही हैं। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका की उत्पीड़ित—उपेक्षित जातियों के प्रतिनिधि यह सवाल उठा रहे हैं कि क्या हम वही हैं जो शासक वर्ग आज तक हमें कहते आए हैं? हमारा इतिहास क्या है? हमारी नियति क्या है?

आदिवासी अपनी पहचान, अपनी अस्मिता के लिए लड़ रहे हैं तो स्वाभाविक है कि जिन चीजों से उनकी पहचान है, उसे बचाने की लड़ाई भी वे जरुर लड़ेंगे। यह बात छिपी नहीं है कि देश के विभिन्न भागों विशेषकर आदिवासीबहुल इलाकों में जनजातीय संस्कृति विकास की मौजूदा अवधारणाओं के कारण संकटग्रस्त है। विभिन्न जनजातीय समूह, भारतीय राज्य की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक नीतियों के कारण स्वयं को उपेक्षित और उत्पीड़ित महसूस करते हैं। राज्य के द्वारा जनजातीय क्षेत्रों के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन औद्योगिक और कारपोरेट घरानों के हित में किए जाने के कारण इन क्षेत्रों में भारी असंतोष और क्षोभ है। जल, जंगल और

जमीन पर स्थानीय आदिवासी समूहों के स्वामित्व को राज्य द्वारा औपचारिक स्वीकृति प्रदान करने और नीति निर्माण की प्रक्रियाओं में स्थानीय आबादी की भागीदारी न के बराबर है। न्याय और बराबरी के आधार पर संसाधनों में अपनी भागीदारी की सर्वथा विवेक सम्मत मांगों के प्रति राज्य का रवैया असहिष्णु और लगभग दमनात्मक हो गया है। विकास के लुभावने वायदे के पीछे के सच को उजागर करते हुए झारखंड से सम्बन्धित अपने अनुभवों के आधार पर वीरभारत तलवार ने अपने एक आलेख 'आदिवासी झारखंड' में बताया है कि झारखंड की विडम्बना यह है कि जो प्रदेश भारत का सबसे धनी इलाका है, वहाँ बसनेवाले भारत के सबसे गरीब लोग हैं। विडम्बना यह है कि जिस प्रदेश में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के स्रोतों का सबसे अधिक प्राचुर्य है, वहाँ के निवासी आदिवासी हैं, अभी तक आदिम अवस्थाओं में हैं। बोकारो, टाटा और राउरकेला में लोहा बन सकता है, लेकिन यह लोहा उनके बगल के गांवों में रहने वाले सन्थाल, मुंडा और हो आदिवासियों की सभ्यता का आधार नहीं बनता। मुरी में अल्युमुनियम का कारखाना है, लेकिन उससे सटे हुए गांवों में लोग आज भी मिट्टी के बर्तनों का ही इस्तेमाल करते हैं। सिन्दरी में खाद का विशाल कारखाना है, लेकिन सिन्दरी के पास के खेतों को खाद नहीं मिलती। झींकपानी और जपला में सीमेंट के कारखाने हैं, लेकिन इन कारखानों के इर्द–गिर्द बसे गाँवों के घरों की दीवारें अभी भी मिट्टी से ही बनती हैं, सीमेंट उन्हें छू तक नहीं गया। छोटानागपुर बिहार (अविभाजित) की कुल बिजली का ९० प्रतिशत उत्पादन कर सकता है, लेकिन छोटानागपुर के आदिवासियों के गांव अंधेरे में ही डूबे रहते हैं।...प्रगति के इस सारे चक्र का स्थानीय जनता के विकास के साथ कोई सुखद लगाव नहीं है। स्थानीय जनता तो इस प्रगति का शिकार बनती है– उसकी जमीन जाती है, समाज टूटता है, संस्कृति बिखरती है। झारखंड भारत के अन्दर एक उपनिवेश है। झारखंड के आदिवासियों का शोषण अपने चरित्र में राष्ट्रीय शोषण है।

इस शोषण के विरुद्ध आदिवासियों के संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है...यह और बात है कि तथाकथित 'इतिहास' में इनकी चर्चा नहीं होती। अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' के समर्पण वाक्य में राकेश कुमार सिंह ने लिखा है ''इस पुस्तक के प्रेरणास्त्रोत उन लड़ाका आदिवासियों का –जिनके सपने बार–बार टूटे परन्तु सपने देखना नहीं छूटा, समस्त यातनाओं और शोषण के बावजूद जिनकी अपराजेय जिजीविषा स्वतन्त्रता हेतु संघर्षरत रही, जो बेहतर मानव जीवन के संघर्षों में निरन्तर असफल होते रहे और जिनके नाम इतिहास में नहीं हैं।'' हमारा इतिहास हमें यह नहीं बताता कि जंगल की जमीन पर अपने जंगल समाज के पारम्परिक अधिकारों के लिए लड़ मरा था तिलका मांझी। लड़ मरे थे विष्णु मानकी और दुखन मानकी। जंगल की कथा–कहानियों में अमर हो चुके थे जल, जंगल और जमीन के लिए कट मरे रुदन मुण्डा और कोंता मुण्डा। सिंगराई और बिंदराई मानकी को भी कम्पनी सरकार के बिचौलियों ने कम्पनी सरकार की बलि चढ़ा दी। पारम्परिक अधिकारों की वापसी हेतु मुँह खोलने की सजा थी कैद और हथियार उठाने का दण्ड था प्राणदण्ड। नये संघर्ष को प्रेरित करती उस पुराने संघर्ष की यह स्मृति भी हमारे इस इतिहास का हिस्सा नहीं है कि ''जब–जब बयार बांस को काटने तक रगड़ती है, जंगल में आग लगती है। जब–जब कोई किसी को तंग करता है तो तंग आदमीन के भीतर हूल जनम लेता है। दीकू लोगों से तंग हर आदमीन जमा होवे। आग जुटाना होगा रे भाई।

कम्पनी गुरमेंट को अपने ऊपर नईं मानेंगे हम। आज, हूल शुरु करने के दिन हम कहते हैं तुमसे, जान जाए तो जाए, मान के लिए लड़कर मरो। हमारे साथ जंगल के सारे पहान–नायके का आशीष है। जंगल के सारे बा–बाबा तुम्हारे माथ पर हाथ धरे खड़े हैं आज। 'मरांगबुरु' देवता ने कहा है हमसे, हूल करो। देवता साथ हैं तो डर किसका? दिया से दिया जलाओ रे...लुकवारी से लुकवारी बारो...।''

यह सही है कि आदिवासी गरीब हैं। उनकी अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है। यह सही है कि आदिवासियों की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएं सरल, स्थानीय तथा कमजोर हैं। यह सही है कि प्रकृतिपूजक वनवासियों की एकरस दिनचर्या वाले जीवन में किसी बड़े परिवर्तन की सम्भावनाएं सीमित होती हैं। श्रम, उद्यम, ईंधन, पानी, शिकार, हंड़िया, नृत्य और गीत की नियमित दिनचर्या कभी टूटती भी है तो मरनी–जीनी में। जन्म–मरण या विवाहोत्सव जैसी घटनाएं रोज–रोज नहीं घटतीं। ऐसे में प्रकृति ही आदिवासियों की उत्प्रेरणा और अवलम्बन होती हैं। यह सही है कि पीछे की दो–तीन पीढ़ियों से पहले का उनका इतिहास मिथक में बदल जाता है...किन्तु, यह कहना या मान लेना सही नहीं है कि उनकी संस्कृति कमतर है। यह धारणा सही नहीं है कि उनके रीति–रिवाज, भाषाएं, धर्म तथा मूल्य अधम हैं...

'तुम' से...

यह मानने में हमें कोई परेशानी नहीं
कि हम अपना सब कुछ
जंगल से ही पाते हैं
लेकिन,
यह इतना बड़ा कारण तो नहीं
कि तुम हमें जंगली कहकर बुलाओ।

माना कि हमारी भाषा
नहीं अंटती ठीक–ठीक
तुम्हारे बनाए
भाषा की परिभाषा में
लेकिन,
इसी वजह से तुम हमें मूक समझो
यह अच्छा नहीं।

हम नहीं जानते
कैसे बना लेते हो तुम
चमकीले–चटख रंग
न जाने किस चीज की बनती है
जिसे तुम ब्रुश कहते हो

लेकिन,
अपने भीतों पर
जो छवियां हमने थापी हैं
उन्हें तुम चित्र न कहना चाहो, न सही
उनपर हंसना तो ठीक नहीं।

तुमने बनाए हैं
मंदिर, मस्जिद, गिरजे
अपने–अपने धर्म के हिसाब से
हमने तो
पहाड़ को, नदी को, जंगल को ही
माना भगवान का घर
लेकिन,
इतने से ही हम
विधर्मी तो नहीं हो जाते।

हम नहीं जानते
तुम्हारे उस सैण्डविच के बारे में
क्या होता है, कैसा स्वाद है
पिज्जा और बर्गर का, पता नहीं
हमें तो भात भर मिल जाए
भाजी मिले न मिले, बहुत है
आखिर, मनुष्य बने रहने के लिए
खाना जरुरी है, न कि बर्गर खाना
लेकिन,
तुम यह क्योंकर मानोगे?

तुम्हें भाषा नहीं
तुम्हारी भाषा चाहिए...
तुम्हें सभ्यता नहीं
तुम्हारी सभ्यता चाहिए...
तुम्हें मनुष्य नहीं
तुम्हारे जैसा मनुष्य चाहिए...।

आदिवासियों के भूमि अधिकारों की सुरक्षा

*पुष्पा कुमारी

जल, जमीन, जंगल हमारा है। यह पेड़ हमारा है, यह पहाड़ हमारा है, यह धरती हमारी है। आजादी के पहले आदिवासियों द्वारा ब्रिटिश लोग के खिलाफ इस प्रकार के नारे लगाए गए थे। हालांकि अब अंग्रेज जा चुके हैं लेकिन स्थिति अब भी वैसी ही है। अपने दमन के खिलाफ आदिवासियों को आज दूसरी आजादी की लड़ाई लड़ने और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने की जरूरत आ पड़ी है।

आदिवासियों की जीविका मुख्यत: भू संसाधनों पर आधारित है तथा इनमें ९० प्रतिशत से भी अधिक लोग कृषि और अन्य सहायक कार्यों पर निर्भर है। जमीन ही आदिवासी परिवार की एकमात्र भौतिक संपत्ति होती है। जमीन के साथ आदिवासियों का भावात्मक संबंध जुड़ा रहता है।

देश के आजाद होते ही विकास के नाम पर औद्योगिक प्रगति, नगरीय विकास एवं सिंचाई के लिए बड़े–बड़े बांधों का बनना आरंभ हुआ। खनिजों का उत्खनन भी व्यापक मात्रा में शुरू हुआ। वन्य जीवन संरक्षण के नाम पर राष्ट्रीय वन्य जीवन अभयारण्यों का निर्माण हुआ। इसके फलस्वरूप लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ा। इनमें अधिकतर आदिवासी थे। आदिवासियों के इन्हीं मूल समस्याओं को इस आलेख में प्रस्तुत किया गया है।

- जंगलों के कटने एवं आदिवासियों के जमीन पर गैर आदिवासियों के कब्जे के कारण जंगलों का क्षेत्रफल लगातार घटता जा रहा है। जिससे उनके वन आधारित रोजगार खत्म हो रहे हैं और वह पलायन के लिए मजबूर हो रहे हैं या मजबूर किए जा रहे है। उत्तर प्रदेश के तराई वाले क्षेत्रों, राजस्थान के कोटा जिले के शाहाबाद और किशनगंज तहसीलों तथा तमिलनाडु के नीलगिरी जिले में यह समस्या बहुत ही विकट है। इन क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातीय लोगों की जमीन गैर–आदिवासियों के अनाधिकृत कब्जे में है।
- देश के सभी वनों में ७५ राष्ट्रीय पार्को और ४२१ वन्य जीवन अभयारण्यों के निर्माण के कारण आदिवासियों को अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ा है। कुल छ: लाख विस्थापित लोगों में से पांच लाख से अधिक आदिवासी है।
- जंगलों से होकर गुजरने वाली नदियों पर बड़े बाँध के निर्माण से भूमि की समस्या उत्पन्न हुई है और आदिवासियों को अपनी उन जमीनों से भी बेदखल होना पड़ा है। जहाँ वे शताब्दियों से रहते आए है। गुजरात में सरदार सरोवर एवं झारखण्ड में अभी तीन

*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जमशेदपुर, वीमेंस कॉलेज, जमशेदपुर, झारखण्ड, मो० 09430574609

परियोजनाएं जो आदिवासियों के विस्थापन से संबंधित है, लंबित है।

- कोयल–कारो परियोजना
- फील्ड फायरिंग रेंज, नेतरहाट
- चांडिल के ईचागढ़ में स्वर्णरेखा नदी पर बना बांध
- इन परियोजनाओं के फलस्वरूप दो से साढ़े तीन लाख (२–३.५ लाख) लोग विस्थापित

होंगे। जनता आज तक इनके लिए अच्छी पुर्नवास नीति नहीं बनाई गई है। नर्मदाघाटी विकास प्राधिकारण द्वारा मध्य प्रदेश के झाबुआ जिले के अलिराजपुर में आदिवासियों को भूमि से बेदखल करने का विरोध करने पर कई आदिवासी मारे गए। बापिलीमाली पहाड़ी उत्कल एल्युमिनियम इंडस्ट्रीज द्वारा बाक्साइट की निकासी का आदिवासियों ने विरोध किया। वे बेरोजगार और भूमिहीन होकर यायावर मजदूरों की जमात बन गए है।

- उड़ीसा के रायगढ़ में खनन कार्यों के लिए भूमि अधिग्रहण का दिसम्बर २००० में आदिवासियों द्वारा भारी विरोध किया गया।
- राष्ट्रीय, खनिज विकास प्राधिकरण छत्तीसगढ़ ने नागरनार में इस्पात मिल की स्थापना के लिए आदिवासियों की भूमि छीन ली गई।
- केरल राज्य के वायनाड जिले में आदिवासियों की सर्वाधिक जनसंख्या रहती है। कुरूमार, कुर्चियार और पनियार शताब्दियों से रहने वाली तीन प्रमुख आदिवासी जनजातियाँ है। कभी इनके पास अच्छी खासी जमीन थी किन्तु आज इनकी स्थिति बहुत खतरनाक हो गई है। अब वे अभाव एवं गरीबी में जी रहे है। १.२ लाख आदिवासियों में ७५००० भूमिहीन है। ऐसा माना जाता है कि १९६० से १९८२ के दौरान आदिवासियों की जमीन पर दूसरे प्रदेशों के लोगों ने छल कपट या शोषण करके कब्जा जमा लिया। इनके अशिक्षित होने का अनुचित लाभ उठाते हुए दलालों ने पाँच रूपये की मामूली शराब के बदले, उनके जमीन पर अवैध रूप से कब्जा कर लिया। केरल सरकार ने इसे रोकने के लिए १९७५ में 'केरल अनुसूचित जनजाति' अधिनियम पारित किया जिसे १९९२ में लागू किया जा सका। यह सिर्फ कागजों में ही लागू रहा। आज तक इसे प्रभावी ढंग से लागू नहीं किया गया।
- वेल्लूर एवं तिरूवन्नामलाई जिले के आदिम आदिवासी कुरूमान भेड़ों को चराने का काम करते हैं। वे यालागिरी की पहाड़ियों, रावयाबड़ी जंगल, वड़ापोन्नियार जंगल है। उन्हें अपनी भेड़ों को चराने के लिए वन अधिकारी से लाइसेंस मिलता है।१९०५ से ही यह लाइसेंस दो आना से एक रूपया प्रति भेड़ प्रति वर्ष कर दिया गया। लेकिन अब वन विभाग द्वारा आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों पर अंकुश लगा दिया गया है। इसके चलते वे भेड़ों की चराई का अपना परंपरागत धन्धा छोड़ने पर मजबूर हो गए है। यह उनकी बेरोजगारी एवं पलायन का सबसे बड़ा कारण बना। बहरहाल कुरूमान आदिवासियों के भेड़ चराने के अधिकार की पुन: बहाली कर बेरोजगारी एवं गरीबी की अभिशाप से उन्हें बचाया जा सकने के प्रयास हो रहें हैं।
- ऋण ग्रस्तता, भू–कानूनों में कमियाँ और सरकार एवं अन्य संस्थाओं द्वारा सरकारी उद्देश्यों के लिए अधिग्रहण के कारण काफी मात्रा में जनजातीय भूमि का हस्तांतरण हुआ। बिक्री एवं भू–अधिग्रहण के कपटपूर्ण तरीकों के वजह से भी आदिवासियों को अपने जमीन से हाथ धोना पड़ा। ऐसे कई मामले हुए, जिनमें उधार दिए गए पैसों के बदले में जमीन पर कब्जा कर लिया गया। गिरवी, साझे में फसल बुआई, आदिवासी स्त्री के साथ विवाह, आदिवासियों के द्वारा गैर आदिवासियों को गोद लेने इत्यादि के कारण भी भू–भाग का स्थानांतरण हुआ।
- कुछ मामलों में गैर–आदिवासियों ने झूठे दस्तावेजों अथवा हेर–फेर किए हुए बिक्री पत्रों को यह बताने के लिए प्रस्तुत किया कि भूमि कानूनों के सुरक्षा प्रावधानों के लागू होने से पूर्व जमीन की बिक्री हुई है। ऐसे भी मामले प्रकाश में आए, जहाँ–भू–कानूनों के प्रावधानों को धोखा देने के लिए जनजातीय भूमि के एक भाग पर मकान फैक्टरियाँ आदि बनाए गए।

भू–कानूनों में त्रुटियाँ एवं सुधारात्मक उपाय–

१. कुछ राज्यों में कानूनी प्रावधान केवल अनुसूचित क्षेत्रों अथवा अनुसूचित क्षेत्रों में रहने वाले अनुसूचित जनजातियों के लिए लागू है और इन क्षेत्रों से बाहर रहने वाले आदिवासियों पर ये लागू नहीं है। महाराष्ट्र, बिहार एवं झारखण्ड में केवल अनुसूचित क्षेत्रों और असम में केवल जनजातीय इलाकों में कानून लागू है तथा अन्य क्षेत्रों में नहीं।

२. एक मामले में आदिवासी स्वामी द्वारा आरंभिक कदम उठाने की प्रतीक्षा किए बिना हस्तांतरित भूमि का पता लगाने और उसे वापस लेने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा स्वयं आरंभिक कार्यवाई करने हेतु प्रावधान का अभाव है।

३. भू–हस्तांतरण के उद्देश्य के लिए साक्ष्य के कानून में दस्तावेजी साक्ष्यों के बदले मौखिक साक्ष्य को प्राथमिकता देने हेतु सुविधानुसार संशोधन किया जाना चाहिए।

४. किसी भी आदिवासी को अपनी अचल सम्पति गैर–आदिवासी के नाम अंतरण, समर्पण अथवा स्वामित्व या अधिकार छोड़ने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। मध्य प्रदेश, उड़ीसा महाराष्ट्र, गुजरात राज्यों में इस प्रकार के प्रावधान पहले से ही विद्यमान है।

५. राज्य कानूनों में आदिवासी भूमि को छल अथवा बल पूर्वक कब्जे में करने संबंधी प्रकरणों से निपटने के लिए कोई प्रावधान नहीं है। बंधक मजदूर उन्मूलन अधिनियम १९७६ में दिए गए प्रावधानों के मुताबिक ऐसे कार्यकारी न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए और उन्हें इस प्रकार के प्रकरणों को निपटाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

६. आदिवासियों के जमीन वापस दिलाने संबंधी सक्षम अधिकारी के आदेश को कितनी समय सीमा के भीतर लागू करना है इसके बारे में राज्य कानूनों में कोई उल्लेख नहीं है। आदिवासियों को जमीन दिलाने के लिए एक निश्चित समय–सीमा का निर्धारण किया जाना चाहिए जो कि अधिकतम तीन माह तक की होनी चाहिए।

७. जनजातीय क्षेत्रों में आदिवासी और गैर आदिवासी के मध्य भूमि के स्वामित्व के लिए विवाद होने की स्थिति में हमेशा यह मानाना चाहिए कि भूमि आदिवासी की है, जब तक गैर आदिवासी ऐसा साबित न कर दें। सबूत हमेशा गैर आदिवासी द्वारा पेश किया जाना चाहिए।

इस प्रकार के मामलों के निपटारा हेतु चल न्यायालयों की स्थापना करनी चाहिए और आदेश जारी होने के तत्काल बाद जमीन वापस दिलाने संबंधी कार्यवाई आरंभ होनी चाहिए।

भू–स्वामी को जमीन वापस करने के विरूद्ध किसी भी उच्चतर न्यायालय द्वारा किसी प्रकार का स्थगन आदेश (स्टे आर्डर) जारी नहीं किया जाना चाहिए।

८. वर्तमान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं जिससे स्वयं आदिवासियों के बीच भूमि के अंतरण को नियंत्रित किया जा सके। गरीब आदिवासियों के अधिकार की सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि आदिवासियों के बीच होने वाले भूमि के अंतरण को नियंत्रित करने के लिए प्रावधान हो।

९. अधिसूचित बैंकों और वित्तीय संस्थानों में बंधक रखी आदिवासी भूमि को आदिवासी भूस्वामी द्वारा प्राप्त अग्रिम ऋण की अदायगी न करने की स्थिति में बैंकों को यह अधिकार है कि अपनी बकाया राशि को वसूलने के लिए वह भूमि को बेच दे। इस प्रकार अंतत: कई मामलों में आदिवासी भूमि गैर आदिवासियों को हस्तांतरित हो गई।

अत: यह प्रावधान होना चाहिए कि यदि कोई आदिवासी इस तरह की भूमि खरीदने के लिए सामने नहीं आता है तो सरकार इस भूमि को खरीद सकती है और इसे भूमिहीन आदिवासियों को बांट सकती है।

१०. कई राज्यों के जिला कलेक्टरों की अनुमति से आदिवासी भूमि को गैर आदिवासियों को अंतरण करने का प्रावधान रखा गया है। कलेक्टरों की ओर से अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा इस शक्ति का उपयोग बहुधा किया जाता है। आदिवासी भूमि की कुर्की, बिक्री की स्थिति में सरकार को इसे उचित कीमत पर खरीदना चाहिए और भूमिहीन जनजातियों के बीच इसे वितरित कर देना चाहिए। पश्चिम बंगाल में इस प्रकार का प्रावधान है।

प्रशासनिक, सामाजिक एवं आर्थिक उपाय–

जनजातीय समुदाय और जनजातीय पंचायतों जैसे इनके पारंपरिक संस्थान अपने सदस्यों के ऊपर वृहत सामाजिक और नैतिक अधिकार रखते हैं और उन्हें भू–क्षेत्रों में आदिवासियों के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रभावी ढंग से कार्यरत करना चाहिए।

- आदिवासी भूमि के हस्तांतरण की शिकायतों की सुनवाई करना।
- शिकायतों की स्वतंत्र रूप से जांच करना।
- आदिवासियों के लिए पुर्नवास कार्यक्रम और पर्याप्त मुआवजा प्रदान किए बिना आदिवासी क्षेत्रों में कोई नया बांध या परियोजना निर्माण नहीं होने देना चाहिए।
- आदिवासियों की कीमत पर जानवरों की रक्षा के लिए कोई भी नया राष्ट्रीय पार्क या वन्य जीवन अभयारण्य नहीं बनने देना चाहिए।
- आदिवासियों (मनुष्यों) की रक्षा का मुद्दा जानवरों की रक्षा से अधिक महत्वपूर्ण है।
- जानवरों के विलुप्त होने की तुलना में आदिवासी समुदायों का विलुप्त होना मानवता के लिए अधिक खतरनाक है एवं शर्मनाक भी हैं।
- आदिवासियों को सुरक्षा प्रावधानों एवं कानूनी सहायता प्राप्त करने के तरीकों के बारें में जागृत करना चाहिए।
- जंगल क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों को शत–प्रतिशत शिक्षा देनी चाहिए।
- आदिवासी क्षेत्रों में पूर्ण नशाबंदी की जानी चाहिए।
- भू–अभिलेखों के सर्वेक्षण, निर्धारण और नियमन का कार्य एक निश्चित समय–सीमा के भीतर किया जाना चाहिए।
- वर्तमान भू–कानूनों में विद्यमान कमियों को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए।
- सरकारी वित्तीय संस्थानों के माध्यम से ऋण सुविधा की सुगम उपलब्धता के साथ जुड़ा भू–सुरक्षा कानून ही भू–क्षेत्र में आदिवासियों के अधिकार की सुरक्षा प्रभावशाली रूप से कर सकेगा।
- साथ ही भू–क्षेत्र में आदिवासियों के अधिकार को सुरक्षा प्रदान करने हेतु भारत सरकार को एक केन्द्रीय आदर्श कानून लागू करना चाहिए।

उपरोक्त विश्लेषण यह दर्शाता है कि आदिवासी लोग बहुत ही सीधे सादे और स्वाभिमानी होते हैं। ये शोषण के खिलाफ अनवरत लड़े और अपना स्वतंत्र आस्तित्व बनाए रखा। दीर्घकालिक और लंबी लड़ाई के परिणामस्वरूप उनका आर्थिक आधार कमजोर हो गया। परन्तु साथ ही इससे सरकार को उनके रीति–रिवाजों, परंपराओं और संस्कृति की सुरक्षा सुनिश्चित करते हुए उनके क्षेत्रों के प्रशासन के लिए विशेष विनियमित प्रावधानों को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

आदिवासियों के पक्ष में यह बहुत ही प्रशंसनीय बात रही है कि समाज के द्वारा शोषित होने और अन्यायपूर्ण व्यवहार अपनाने के बावजूद, उन्होंने कभी भी कोई राष्ट्र विरोधी कदम नहीं उठाया। अंग्रेजों द्वारा उनके क्षेत्रों पर कब्जे के प्रयासों का उन्होंने कड़ा विरोध किया जो उनकी देश भक्ति की गर्वगाथा का इतिहास बन गया। मुझे यहाँ विजय देव नारायण साही की एक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ काफी प्रासंगिक लगती है– ''तुम हमारा जिक्र इतिहासों में नहीं पाओंगें। क्योंकि हमने अपने को इतिहास के विरूद्ध दे दिया है''– निष्कर्ष यही निकलेगा कि जिस इतिहास (व्यापक अर्थ) के विरोध में आदिवासी युग–युगों से लड़ते रहें, उसमें उन्हें जगह कैसे मिलेगी।

संदर्भ :

१. भारतीय जनजातियां – रूपचन्द वर्मा

२. आदिवासी विकास से विस्थापन–रमणिका गुप्ता

३. आदिवासी कौन–रमणिका गुप्ता

४. झारखण्ड की रूपरेखा–डॉ० राम कुमार तिवारी

विमर्श

विस्थापन और आदिवासी

*राजकुमार मीणा

भारत के लगभग प्रत्येक भाग में आदिवासी लोग रहते है। सन् २००१ की जनगणना के अनुसार देश में इनकी जनसंख्या ८ करोड़ के लगभग है। यानी कि देश की कुल जनसंख्या का ८.०२ फीसदी हिस्सा आदिवासी समुदाय है। राय बर्मन ने लगभग ४२७ आदिवासी समुदाय स्वीकार किये हैं। इस तरह विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आदिवासी समुदाय स्वीकार किये है जो अपनी अलग सांस्कृति महत्व और पहचान बनाये हुए है। राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर इस समुदाय को विभिन्न नामों जैसे आदिम या आदिवासी (अबोर्जिनल), जनजाति (ट्राइबल), देशज (इंडिजिनस पीपुल्स), सर्वप्रथम बसने वाले (फर्स्ट सेटलर) आदि से पहचाना है। लेकिन इस समाज के लोग स्वयं को देशज/आदिवासी कहने में ही गर्व महसूस करते है। देशज या आदिवासी शब्द इस समाज की अस्मिता, अस्तित्व, पहचान और चेतना का वाहक है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अपनी परिभाषा में इस समाज को देशज/आदिवासी ही संबोधित किया है।

आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है आदि और वासी। आदि का अर्थ होता है मूल और वासी का अर्थ रहने वाले। अत: आदिवासी शब्द का अर्थ हुआ मूल निवासी। हिन्दी और दूसरी उत्तर भारतीय भाषाओं में जनजाति के लिए प्रचलित शब्द है आदिम जाति जिसका अर्थ है मूल या प्राकृतिक लोग लेकिन भारत सरकार ने अब तक भी इस समाज के लिए 'देशज' शब्द को स्वीकार करने के बजाय उपनिवेशवादी कल में अंग्रेज द्वारा आधिपत्य करने के लिए प्रयुक्त शब्द 'जनजातीय' को ही स्वीकार कर रखा है। जबकि हमेशा और प्रत्येक जगह इसका अर्थ नकारात्मक लक्षणों में ही होता है जैसे की अपेक्षाकृत पिछड़ापन और सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक मान्यताओं का काल्पनिक प्राचीनवाद। अकादमिक क्षेत्रों में आज भी इस अपमान सूचक और प्रतिष्ठाहीन शब्द को उसी तरह परिभाषित किया जाता है जैसे उपनिवेशवादी काल में अंग्रेजों ने इस समाज के लिए किया था। परन्तु आज आदिवासी समाज देशज/आदिवासी शब्द में ही अपनी पहचान और अस्तित्व को सुरक्षित मानते है।

सबसे पहले आदिवासी समाज के संरक्षण को लेकर 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' ने दो अनुबंधों १९५७ के अनुबंध (१०७) और १९८९ के अनुबंध (१६९) का निर्माण कर विचार किया। साथ ही देशज समाज की परिभाषा और अधिकारों को भी रेखांकित किया। १९५७ के अनुबंध (१०७) में देशज समाज का मुख्य धारा के समाज में विलीनीकरण का रास्ता प्रस्तुत किया जिसका देशज समाज के लोगों तथा संगठनों ने विरोध करते हुए कहा कि इससे तो हमारी अलग संस्कृति और सभ्यता न केवल संकट में पड़ जाएगी बल्कि एक दिन समाप्त ही हो जाएगी।

परिणामस्वरूप १९८९ में एक और अनुबंध (१६९) लाया गया जो देशज समाज को दो दृष्टिकोण से देखता है। पहला यह उन आदिवासी लोगों पर लागू होता है जिनकी सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थितियां राष्ट्रीय समुदाय के दूसरे वर्गों से एकदम अलग हैं और जिनकी हैसियत पूरी तरह या आंशिक तौर पर अपने रीति–रिवाजों, परम्पराओं या विशेष नियमों और निमंत्रणों द्वारा संचालित होती है। तथा दूसरा उन लोगों पर जिन्हें ऐसी जनसंख्याओं या वंशज माना जाता है, जो देश पर विजय, उपनिवेशीकरण या मौजूदा सीमाओं के स्थापित होने के पहले देश या उसके भोगोलिक क्षेत्र में रह रही थी और जिन्होंने अपनी कानूनी हैसियत की परवाह किए बगैर अपनी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक संस्थाएं पूरी तरह से या कुछ हद तक बचाए रखी है। इस अनुबंध को भारत सरकार ने स्वीकार नहीं किया जो उसकी आदिवासी हितों को नजरंदाज करने की गवाह है।

देशज/आदिवासी कौन हैं ? इसे लेकर भारत में विवाद रहा है तथा किसी एक निर्णायक परिभाषा तक नहीं पहुंचा जा सका है। लेकिन यह तथ्य निर्विरोध है कि आज भी आदिवासी समाज के अनेक समुदाय अपनी विशिष्ट पहचान, संस्कृति और धर्म के कारण अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। जिसे नकारा नहीं जा सकता है। परन्तु विडम्बनापूर्ण बात है कि विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में भारत में आज के समय में भी आदिवासी समाज उपनिवेशवादी तथा परायेपन की शोषणकारी जिन्दगी जीने को मजबूर है। जो न केवल उनकी संस्कृति, पहचान या धर्म के लिए खतरा है बल्कि उनके अस्तित्व के लिए ही संकटमय है।

वर्तमान समय में भारत सरकार विभिन्न योजना–परियोजनाओं के द्वारा आदिवासियों, दलितों, पिछड़ों के विकास का दम्भ भर रही है। लेकिन क्या वास्तव में इस समाज का विकास हो रहा है? क्या इन योजनाओं की रणनीति और क्रियान्वयन में पिछड़े समाजों का प्रतिनिधित्व है? उत्तर है नहीं, आज के दौर में 'नक्सलवादी' या माओवादी आन्दोलन ने आदिवासी समाज और जन, जंगल, जमीन की समस्याओं की तरफ भारत सरकार का 'विशेष' ध्यान आकर्षित किया है और समस्याओं के समाधान के लिए विकास की आवश्यकता को महसूस कराया है। विकास के नाम पर आदिवासी बहुल क्षेत्रों में औद्योगीकरण, परियोजनाओं, खनन कार्य, पुलिस–फोर्स की बाढ़ आ गयी। सरकार और मीडिया के माध्यम से लोग समझ रहें है कि आदिवासियों का विकास किया जा रहा है लेकिन सच यह है कि वहाँ विकास के नाम पर विस्थापन अधिक हो रहा है। आदिवासी समाज में विकास का नाम सुनते ही भय पैदा हो जाता है। लोग जंगलों, गुफाओं में गाँव छोड़कर भाग जाते हैं। 'आज विकास के बदले विस्थापन अनिवार्य माना जा रहा है।' सरकार हो या योजनाकार, शासक हो या शोषक, सबों ने मान रखा है कि विस्थापन के बिना विकास संभव नहीं है। इसलिए विकास के नाम पर लोगों को उजाड़ने कि सुनियोजित साजिश शासकों और शोषकों की चल रही है।

वैसे विस्थापन की समस्या आदिवासी समाज के सामने अंग्रेजों के समय से ही मुँह बाये खड़ी रही है। पहले रेल के डिब्बे बनाने के बहाने या रेल बिछाने के बहाने तो फिर बाद में बर्न जैसी कम्पनी को लोहा बनाने के लिए और टाटा जैसी कम्पनी को इस्पात बनाने के बहाने

*शोध छात्र, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, मो. 09873877821

आदिवासियों को उजाड़ा गया। 'आजादी' के बाद में भी आदिवासियों के सामने विकास के बहाने विस्थापन की समस्या कम होने की बजाय और बढ़ गयी और सबसे अधिक विस्थापन की समस्या ने अपना मुँह फैलाया ९० के दशक के लगभग, भूमंडलीकरण, बाजारीकरण, वैश्वीकरण के दौर में तीव्रगति से आगे बढ़ाई गयी भीमकाय जलविद्युत परियोजनाएं, खदान व औद्योगिक इकाईयाँ, फौलाद के कारखाने, बिना—सोचे व्यावसायिक वनरोपण, नकदी फसलों का बढ़ता प्रचलन, बड़े—बड़े बाँधों के निर्माण, राष्ट्रीय मार्ग परियोजनाओं, जैविक सुरक्षा क्षेत्रों, अभ्यारणों, राष्ट्रीय उद्यानों सम्बन्धी योजनाओं, पुर्स्थापन योजनाओं, बाजारू अर्थव्यवस्था के फैलाव, सैन्य अकादमी की स्थापनाओं आदि ने आदिवासी समाज को अपने जल, जंगल, जमीन से बेदखल कर भारी पैमाने पर विस्थापित किया। विस्थापन की समस्या से इस समाज के सामने अपने अस्तित्व, पहचान की समस्या के साथ—साथ रोजगार, जमीन, पुनर्वास आदि समस्याओं का प्रकोप बढ़ गया। रमणिका गुप्ता के अनुसार जिनकी जमीन जी गयी वे भूमिहीन, घर विहीन हो गए और जो भूमिहीन उन जमीनों पर आश्रित थे, अपने गाँव में अन्य रोजगार करते थे, पुनर्वास की कोई वैकल्पिक योजना न होने के कारण सब के सब बेरोजगार हो गए। ये सरकारी खदानें एवं कारखानें, पूंजीपतियों के कच्चे मॉल के आपूर्तिकर्ता बन गए, रोजगार के सृजक व निर्माण के प्रतिमान नहीं।

आदिवासी बहुल क्षेत्र एक तरफ जहाँ वन विपुल हैं तो दूसरी तरफ कोयला, लौह अयस्क, अभ्रक, बाक्साईट, ताँबा, मैगनिंज, डोलेमाइट, अग्निरोधी पत्थर, काओलिन, क्रेनाइट, क्रोमाइट, यूरेनियम जैसे महत्वपूर्ण खनिज संसाधनों से भरपूर है। लेकिन ये विडम्बना ही कही जाएगी कि ये खनिज संसाधन उनके विकास के बजाय विस्थापन के कारण बनते जा रहे हैं या उनके लिए अभिशाप बने हुए हैं। आज सरकार वनों का रोना रो रही है और उसके लिए जिम्मेदारी आदिवासियों की मान रही है जबकि असलियत यह है कि आज भारत देश में वन और वन्य प्राणी वहीं बचे है जहाँ आदिवासी समाज निवास करते हैं।

सरकारी विशेषज्ञों के यह मानने पर कि आदिवासियों के कारण वनसम्पदा और वन्यप्राणी नष्ट हो रहे है की तर्ज पर सरकार आज आदिवासियों को उनकी जमीन, जंगलों से खदेड़कर किसिम—किसिम के राष्ट्रीय—अन्तर्राष्ट्रीय उद्यानों के साथ—साथ वन्य प्राणी अभयारण्यक, सेंचुरी टाइगर, रिजर्व पशु—पक्षी अभयारण स्थापित कर रही है। इसके लिए इस तरह के कानूनों का निर्माण किया जा रहा जिसके अनुसार वन सम्पदा का उपयोग तो दूर कि बात, आदिवासी लोग वनों के भीतर प्रवेश तक नहीं कर पाते हैं। कितना अनैतिक और गैर—जिम्मेदाराना रवैया अपनाया जा रहा है भारत सरकार और उसके विशेषज्ञों द्वारा आदिवासी लोगों के साथ, अपने देश में अपने ही घर में। शिव कुमार पाण्डेय कहते हैं कि 'ये विशेषज्ञ यह भूल जाते हैं कि जहाँ—जहाँ वनवासी हैं, वहीं—वहीं वन शेष है।' जहाँ—जहाँ वन—वासियों की सघन आबादी है वहीं—वहीं वन्य प्राणी बहुतायत की संख्या में आज भी विचरण करते हैं। जंगल वनवासी का जीवन है। गीत, संगीत, नृत्य है, उल्लास है। सीधा सा प्रश्न है कोई भी जीव अपने जीवन को स्वत: नष्ट करने की कल्पना कैसे कर सकता है। राष्ट्रीय पार्कों के बढ़ते निर्माण से होने वाले आदिवासी विस्थापन पर ही पी० शंकर कहते हैं कि एक तरफ भारत सरकार और राज्य

सरकारें बेखौफ होकर जंगालों का सफाया कर रही हैं तो दूसरी तरफ नेशनल पार्क, अभयारण, टाइगर प्रोजेक्ट के नाम पर जंगलों में रहने वाले लोगों का जीवन असुरक्षित कर रही हैं। इस देश में अब तक निर्मित ७५ उद्यान वनों, (पार्कों में ४२१), अभयारणों, टाइगर प्रोजेक्टों से जंगलवासियों का जीवन अस्त—व्यस्त हो गया है। वह बस्तर में कांकेर दर्भ राष्ट्रीय उद्यान, इन्द्रावती नेशनल पार्क, कुटू जंगली जानवरों का अभ्यारण, पामेर चीतों के प्रोजेक्ट, गढ़चिरौली में आस्टि के पास, कोहक वर्सील के पास सरकार आदिवासियों को उजाड़ कर अभ्यारणों को बनाने पर उतारू है। भण्डारा जिले में नागजिन नेशनल पार्क और प्रसिद्ध कान्हा नेशनल पार्क के निर्माण के लिए वहाँ पीढ़ियों से निवास कर रही आदिवासी जनता को खदेड़ दिया। गाँव के गाँव उजाड़ दिए गये।

आज के समय में जनता की नजर में वनों को बढ़ावा देने की भारत सरकार की नीति कुछ इस प्रकार है कि महुआ, बेर, सखुआ के पेड़ काट कर उनकी जगह यूकिलिप्टस और आकाशकली जैसे पेड़ लगाये जा रहे हैं ताकि उद्योगपतियों और पूंजीपतियों को सस्ते दर पर कच्चा माल मिल सके। इस तथाकथित वन—विकास योजना से आदिवासी जन प्रभावित होते हैं क्योंकि अर्थव्यवस्था के मूल आधारों में जंगल भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है और इस विकास नीति से वे बेरोजगार होते जा रहे हैं। जो कि विस्थापन का भी एक महत्वपूर्ण कारण है।

औद्योगीकरण, बाजारीकरण और वैश्वीकरण जैसी अवधारणाओं ने तो आदिवासी समुदाय के सामने विकास के बजाय विस्थापन की समस्या सबसे अधिक पैदा की है। अस्सी प्रतिशत से भी अधिक प्राकृतिक संसाधन (वन, खनिज आदि) आदिवासी क्षेत्रों में होने के कारण कार्य और कारखानों, प्लाटों, उद्योंगों की स्थापना वहीं की गयी लेकिन औद्योगिक इकाईयों की स्थापना के लिए जंगल, जमीन उजाड़ना प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि ये स्वार्थी लोग जानते थे कि आदिवासी लोगों को भागना है तो सबसे पहले इनके सामने समस्या पैदा करो। एक और कारण था इनकी बढ़ती धन—लोलुप इच्छा। इस बढ़ती स्वार्थी इच्छा ने आदिवासी लोगों के जल, जंगल, जमीनों को अपने पेट रूपी खानों में कोयला, इस्पात आदि समेट लिया। कम्पनियों के लिए की जा रही भूमि अधिग्रहण हो या सरकारी कार्यों के लिए की जा रही भूमि अधिग्रहण हो किसी में भी नियमों का पालन नहीं हो रहा है। एक अधिसूचना के माध्यम से (जो कभी—कभी तो तब भेजी जाती है जब तक कि वे भूमि से बेदखल हो चुके होते है, और विडम्बना तो ये देखिये कि वे इसे सही ढंग से पढ़—समझ नहीं सकते) जमीन सरकार या कम्पनियों की हो जाती है। जिस जमीन से वह सैकड़ों वर्षों से जुड़ा होता है, जिस जमीन पर उसके बचपन की किलकारियाँ गूंजी है, जिस जमीन को उसके बाप दादों ने अमानत के रूप में सौंपी है और उस जमीन को जिसे वह माँ समझता है पल भर में छीन लिया जाता है। शायद स्वार्थी दुनियाँ को यह एक सरकारी प्रक्रिया या सामान्य बदलाव लगता होगा लेकिन देशज लोगों के लिए यह अपने अस्तित्व और पहचान बनाये रखने के लिए अभिन्न आधार है। इससे एक तरफ वे बेरोजगार होते हैं तो दूसरी तरफ पराये, क्योंकि बेदखली के बाद उनका विस्थापन अनिवार्य सा हो जाता है और नयी जगह उनके लिए परायी। एक सामान्य आदिवासी अपने स्वयं के स्थानीय और निजी समाज में ही अपने और अपने जीवन कि पूर्णता और सार्थकता समझता है। इसके बिना वह अपने को नितांत अपूर्ण,

अशान्त, अशक्त और असह्य समझता है।

भ्रष्टाचार, अधिक से अधिक धन—लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति, संवेदनहीनता के कारण नियमों के तहत जो विकास कार्य होने थे वे भी नहीं हो पा रहे है। औद्योगीकरण के नाम पर जो ढांचा खड़ा किया जा रहा है उससे समूचे देश में बेदखल आदिवासी लोगों की लम्बी फौज भले खड़ी हो रही है, लेकिन विकास नहीं चाहे कोयला की खाने हों या पनबिजली, बांध या अन्य भारी कारखाने हों, कुल मिलाकर उसका लाभ धनिक वर्ग के लोगों के लिए है। जिस गरीब आदिवासी की जमीन से कोयला निकलता है उससे कहा जाता है कि राष्ट्र के विकास के लिए तुम्हें अपना सब कुछ कुर्बान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसा कहकर उसकी जमीन मिट्टी के मोल खरीद ली जाती है और विकास के लिए जिस निर्माण की बुनियाद रखी जाती है उसमें आदिवासियों की भूमिका केवल ढांचे के निर्माण तक श्रमिकों की हैसियत की रहती है। उसके बाद वे सड़क पर होते हैं।

छोटानागपुर में हटिया में भारी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन की स्थापना, बोकारों में स्टील प्लांट की स्थापना, पतरातू में थर्मल पावर की स्थापना, जमशेदपुर में लोहा तथा स्टील उद्योग की स्थापना, भिलाई तथा दुर्गापुर में उद्योगों की स्थापना, दामोदर घाटी में खनन उद्योग कॉयर्स, बी०सी०सी०एल० (धनबाद) और सी०सी०एल० (हजारीबाग, रामगढ़, पलामू) खनन परियोजनाएं, पिपवार कोयला परियोजना, टिस्को (धनबाद) खनन परियोजना, सिंहभूम खनन कार्य आदि औद्योगिक व खनन योजनाओं से न केवल जल, जंगल, जमीन ही समाप्त होते जा रहे हैं बल्कि देश के मूल निवासियों की सभ्यता—संस्कृति और पहचान भी खतरे में है। लेकिन जब वे औद्योगीकरण का विरोध करते हैं तो उन्हें आधुनिकता विरोधी या परम्परावादी कहकर विकास विरोधी कहा जाता है। वास्तव में ऐसा नहीं है। दरअसल आदिवासी आधुनिकता, सम्पूर्ण—औद्योगीकरण, बड़े बांध आदि के दूरगामी परिणामों को समझते हैं। वे अपनी परम्पराओं, जीवन शैली तथा जीवन के लिए आर्थिक संसाधनों और उसके नियंत्रित उपयोग की महत्ता को समझते हैं। वे मनुष्य और प्रकृति के संतुलन को समझते हैं, इसलिए ऐसा नहीं चाहते हैं कि एकतरफा विकास की अवधारणा को स्वीकार कर प्रकृति का संतुलन बिगाड़ दें। यह आदिवासी समाज का सर्वश्रेष्ठ मानक है। अत: आदिवासी विस्थापन को रोककर विकास और औद्योगीकरण को बढ़ावा देना है तो इसी प्राकृतिक संतुलन की अवधारणा को स्वीकार करना पड़ेगा।

आदिवासी समाज के विस्थापन के लिए औद्योगीकरण से संबंधित नीतियाँ ही जिम्मेदार नहीं है बल्कि सुरक्षा परियोजनाओं और विशाल जल परियोजनाओं से संबंधित गलत नीतियाँ भी जिम्मेदार हैं। आदिवासियों को विभिन्न सुरक्षा परियोजनाओं के कारण विस्थापन की पीड़ा और कष्ट झेलने पड़े हैं। चाहे वह हजारीबाग फिल्ड फायरिंग रेंज हो या नेतरहाट फिल्ड फायरिंग रेंज या फिर होरहाप की फिल्ड फायरिंग रेंज हो या देवरी—डुमरी की फिल्ड फायरिंग रेंज, सबों ने आदिवासी समाज के जल, जंगल जमीन को छीनने का ही कार्य किया है। दीपाटोली, रांची, बी०एस०एफ० छावनी, कौरापुर का नौसेना शस्त्र भंडार और मिगहाल फैक्ट्री आदि और सैन्य परियोजनओं के उदाहरण देखे जा सकते हैं जिसमें हजार गांव उजड़ चुके है। इन फिल्ड फायरिंग रेंजों से दो रूप में आदिवसी समाज परेशान है। एक तो सीधे अधिग्रहित होने पर, दूसरा

अधिसूचना होने पर। अधिसूचित फील्ड फायरिंग रेंजों द्वारा प्रभावित आदिवासी जनता की स्थिति अर्ध—विस्थापित की होती है। जो न अपने जंगल—जमीन छोड़ कर जा सकते हैं और न ही अपने जंगल—जमीन का पूरा उपयोग कर सकते हैं। फील्ड फायरिंग रेंज के समय वे खेती नहीं कर पाते और कर पाते भी हैं तो वह कभी गोला बारूद के गिरने से तो कभी धुल—मिट्टी से या फिर कभी सेना के वाहनों के आने—जाने से नष्ट हो जाती है। जिससे उन्हें भारी नुकसान उठाना पड़ता है। इस नुकसान के एवज में उन्हें मुआवजा भी नहीं मिल पाता है और मुआवजा दिया जाता है तो वह भी फील्ड फायरिंग अधिनियम १९३५ के अनुसार यानि की प्रभावित लोगों (वयस्क को)३ रू० प्रतिदिन और (अल्प व्यस्क) को १.५० रु० प्रतिदिन मुआवजा दिया जाता है। वह भी भ्रष्टाचार के कारण उन्हें मिल नहीं पाता या वर्षों तक बकाया पड़ा रहता है फील्ड फायरिंग रेंज के लिए अधिग्रहित जमीन से तो सीधे रूप में गाँव के गाँव उजाड़ दिये जाते हैं। इसके दुष्परिणामों की त्रासदी पर सुखनाथ लोहरा कहते हैं कि 'फील्ड फायरिंग की वजह से आग लगने के कारण जंगल भी नष्ट होते जा रहे हैं, जिससे न सिर्फ पर्यावरण को भारी खतरा है, आदिवासियों की आजीविका का दूसरा मुख्य स्रोत वन भी नष्ट हो रहे हैं। फील्ड फायरिंग के बारूदी धुंए से वायु—प्रदूषण है, जिससे ग्रामीणों के स्वास्थ्य को भारी खतरा रहता है। एक ओर फील्ड फायरिंग से प्रभावित जनता मुआवजे के लिए तरसती है, वहीं दूसरी ओर विकास कार्यों से भी वंचित है, क्योंकि झारखण्ड के तीनों फील्ड रेंज (नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज, होरहाप फील्ड फायरिंग रेंज, देवरी—डुमरी फील्ड फायरिंग रेंज) को 'डिफेंस एरिया' घोषित कर जिला या स्थानीय प्रशासन द्वारा विकास कार्य नहीं किए जाते हैं, जबकि इन्हें आवास, पेय—जल, सड़क और प्राथमिक स्कूल की ज्यादा जरूरत है।'

इसी प्रकार विशाल बांध परियोजनाओं से देश में लगभग १.५ लाख आदिवासी लोग विस्थापित हुए है। बिहार के मैथोन, कोनार, तथा पंचेत विद्युत परियोजनाएँ, उड़ीसा की मंडिरा, माथकुण्ड तथा हीराकुण्ड परियोजनाएँ, मैथन बांध (धनबाद), तिलैया बांध, कोनार बांध, सुंदर परियोजना, घाघरा परियोजना (हजारीबाग) आदि विभिन्न जल विद्युत तथा बांध परियोजनाओं ने भी आज आदिवासी समाज के सामने विस्थापन का विकराल रूप खड़ा कर रखा है। एक तरफ सरकार इन आदिवासी लोगों को पानी में डुबो रही है तो दूसरी तरफ तथाकथित सभ्य शहरी लोगों की सुविधा उपलब्ध करा रही है। क्या विडम्बना है कि एक तरफ उजाड़ कर दूसरी तरफ बचाया जा रहा है, जिनमें एक के पास दो जून खाने लायक संसाधन नहीं है, वहीं दूसरे के पास संसाधनों कि कोई कमी नहीं है। आज के समय में मध्यम वर्ग हो या मीडिया इसे ही विकास कहते हैं। जेरोम जेराल्ड कुजूर ने इस विडम्बना को बताते हुए कहा है कि 'अपार प्राकृतिक सम्पदा और बेशकीमती खनिज वाली धरती झारखण्ड के मूल निवासियों की ८५ प्रतिशत आबादी आज भी गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर कर रही है। विकास की बड़ी—बड़ी योजनाओं ने गरीबी दूर करने के बाजय आदिवासियों के पास जो भी हक़ था, जो भी जमीन और जंगल था, उससे बेदखल ही करने का कार्य किया है।

आज आजादी के ६५ वर्षों बाद भी आदिवासी समाज गुलामी की ही जिन्दगी नहीं, बल्कि उससे भी बदतर अपनी पहचान, अस्तित्व खोने की सी जिन्दगी जी रहा है। वी०के० रॉय

वर्मन इस समाज कि वीभत्स, दर्दनाक और असहाय स्थिति के बारे में कहते हैं कि 'हमारा विनम्र रूप से यही कहना है कि आजादी के बाद की अवधि में अन्दरूनी उपनिवेशीकरण के कारण आदिवासियों की दशा और बिगड़ती जा रही है। ओडिशा के कालाहांडी, बिहार के पलामू, महाराष्ट्र के अमरावती और थाणे में भूख से मरने की घटनाएँ दिन–पर–दिन और तेज होती जा रही है। इनकी आबादी ८ प्रतिशत के लगभग है, आदिवासी उन २० प्रतिशत इलाकों में है, जहाँ रहने के लायक जगह नहीं बची है और न ही इनकी कोई पहुँच ही है, फिर भी शायद ये जमीन का सबसे उन्नत क्षेत्र है। विडम्बना देखिए कि उनकी जमीन के अधिकारों में सिर्फ १ प्रतिशत पर ही उन्हें कानूनी मान्यता मिली है। उनकी सभ्यता निरंतर हमलों का सामना कर रही है। उनकी आजीविका के संसाधनों पर संकट के बादल मंडराते जा रहे हैं, क्योंकि उनकी जमीनें औद्योगीकरण, शहरीकरण और विकास के चलते सिमटती जा रही हैं। ९० प्रतिशत खदानों कि खुदाई आदिवासियों की जमीन पर होती है और ५० प्रतिशत खनिज का रूपया आदिवासियों की जमीन से मिलता है, लेकिन इनका इसमें कोई हिस्सा नहीं है। रिपोर्टों से इस बात के संकेत मिलते हैं कि बांध और हाईड्रेल परियोजनाओं से बनने वाले असंख्य पारिस्थितिकीय शरणार्थियों में ८० प्रतिशत आदिवासी हैं, जो विस्थापित हो चुके हैं। जिन्हें पूरी तरह से उखाड़ फेंका गया है और मरने के लिए छोड़ दिया गया है। यहाँ तक कि उन्हें राष्ट्रीय उद्यानों और खेल के अभयारण्यों के लिए बलि चढ़ाया जा रहा है और उन्हें जंगलों के किनारे मरने के लिए पटका जा रहा है।

आज इसी विभत्स जीवन के परिणाम स्वरूप वे महसूस करने लगे हैं कि राष्ट्र विकास के नाम पर हमारी जमीन हमसे छीनी जा रही है। यदि उद्योगों को फैलाया जायेगा तो हमारी जमीन तो बर्बाद होगी, अगर बांधों को बनाया जायेगा तो हमारी जमीन डूबेगी ही, खानों कि खुदाई की जाएगी तो हमारे रहवासों की जमीन तो खिसकेगी ही और जमीन भी जाएगी। अगर बड़े शहरों और उनकी फैक्ट्रियों को बिजली की जरूरत है तो हमारे गाँव और रहवासों पर खतरनाक तनावयुक्त केबल से गाज तो गिरेगी ही; अगर देश में सैन्यीकरण को बढ़ाना है तो हमारी जमीन और खेती नष्ट की ही जायेगी, और हमारी जमीनों से यूरेनियम जैसे खतरनाक खनिज को खोदकर निकाले जायेंगे तो उससे हमारे समुदाय की विकिरण से बर्बादी तो होगी ही। यहाँ तक कि आज हमें जानवरों को पालने का पाठ पढ़ाया जा रहा है। जानवरों का अभयारण्य खड़ा करने के लिए हमें विस्थापित किया जा रहा है। कितना मर्मान्तिक अहसास है आदिवासी समाज का। लेकिन ये 'दिकु' लोग जानकर भी कहा समझ रहें है उनके दु:ख को। लेकिन इतिहास गवाह है। आदिवासी समाज हमेशा से संघर्षपूर्ण जीवन जीता आ रहा है। अपनी स्वतंत्रता, लोकतंत्रात्मक और उससे भी बढ़कर अपने जल, जंगल और जमीन के लिए अन्तिम साँस तक लड़ने का हौसला रखता है। आज के आन्दोलन को नक्सलवाद, माओवाद, आन्तरिक उग्रवाद कहकर खारिज किया जा रहा है। सत्ता की इस क्रूर नीति को ध्यान में रखते हुए मैं अंत में पाठकों के सामने सवाल रखना चाहूँगा कि आदिवासी समाज की वर्तमान स्थिति के लिए सही मायनों में जिम्मेदार किसे माना जाए? भारत सरकार को, पूंजीवादी व्यवस्था को, मध्यम वर्ग को या स्वयं आदिवासी समाज को या फिर किसी और को...

सन्दर्भ :

१. भारत की जनगणना : २००१, भारत सरकार, रजिस्ट्रार जनरल एंड सेन्सस कमिश्नर ऑफ इण्डिया, श्रृंखला–१

२. Kumar Suresh Singh (Ed.) Peoples of India, Vol-1, Anthropological Survey of India/Popular Pub., Mumbai, P.82 L.P. Vidyarthi, Culture Couture ot Tribal Bihar, Punthi Pustak, Calcutta.

३. सम्पादक–तपन बोस, देशज कौन? आदिवासी कौन?, तपन बोस–देशज लोग आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर संघर्ष (लेख), द अदर मीडिया के–१४ (पहली मंजिल) ग्रीन पार्क एक्सटेंशन, नयी दिल्ली, पृ० सं०–३४,४, ८१

४. सम्पादक– किशन कालजयी, सबलोग (लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक), घनश्याम, (लेख)–स्वशासन, विस्थापन और संघर्ष, एफ–३/७८–७९, सेक्टर–१६, रोहिणी, दिल्ली, जनवरी–२०११, आदिवासियत पर आँच, पृ० –१९, २०

५. सम्पादक –रमणिका गुप्ता, आदिवासी: विकास से विस्थापन, रमणिका गुप्ता (लेख)–विस्थापितों के आन्दोलन का इतिहास, राधाकृष्णन प्रकाशन, नयी दिल्ली संस्करण–२०१०, पृ० सं०–७४, ४८, ७२

७. प्रधान सम्पादक–रामजी राय, समकालीन जनमत, सितम्बर २००३, वर्ष २२, अंक २–३, जेरोम जेरोल्ड कुजूर, (लेख)–झारखण्ड के आदिवासी के नाम पर विस्थापन के शिकार, मदनधारी भवन, एस०पी० वर्मा रोड, पटना पृ०सं०–७१

पत्रकारिता

नक्सलवाद, आदिवासी और मीडिया

*मिथिलेश

नक्सलवाद या माओवाद आज देश के सामने एक बड़ी समस्या के रूप में उपस्थित है। अपने देश के प्रधानमंत्री और गृहमंत्री इसे आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा घोषित कर चुके हैं। उनकी बातें अपनी जगह हैं, पर हकीकत यह है कि नक्सलवाद के प्रभाव में आज भारत के लगभग दो सौ जिले और १५ राज्य आते हैं। देश के भौगोलिक क्षेत्रफल के ३०—४० फीसदी हिस्से तक इस आंदोलन का दबदबा है। विभिन्न स्रोतों से जो हकीकत सामने आया हैं उसके मुताबिक दक्षिण उड़ीसा, मध्यवर्ती छत्तीसगढ़, दक्षिण बिहार, झारखंड, पूर्वी आंध्र प्रदेश, पूर्वी महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश के दक्षिणी हिस्से नक्सलवाद से दो—चार हो रहे हैं। यह भी एक बड़ा यथार्थ है कि देश की कुल आबादी में आठ प्रतिशत आदिवासियों की संख्या है और उनकी आधी आबादी उड़ीसा, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और आंध्रप्रदेश जैसे राज्यों में निवास करती है। इसी के साथ यह भी जानना जरूरी है कि जिन हिस्सों में आदिवासियों की बसावट है, वहाँ गरीबी, कुपोषण, भुखमरी, अशिक्षा जैसी समस्याओं का बोलबाला है। और, इन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों ने नक्सलवादियों को आदिवासी जन—समूहों के बीच पैठ बनाने का अवसर प्रदान किया है। जमीनों के अवैध हस्तांतरण और औद्योगिक विकास के लिए हुए भूमि अधिग्रहण और अंधाधुंध खनन और विस्थापन ने आदिवासियों के सामने जीवन—मरण का संकट उपस्थित कर दिया है। आदिवासी जिन समस्याओं और संकटों से घिरे हैं, उनके खिलाफ संघर्षरत भी हैं, उनके इन्हीं संघर्षों को जब माओवादियों का समर्थन हासिल होता है तो व्यवस्था पर काबिज शक्तियों को यह बड़ा नागवार गुजरता है और नक्सलवाद के बहाने आदिवासियों का संघर्ष ही उन्हें आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा नजर आ रहा है, तो इसमें ज्यादा आश्चर्य नहीं होता। लेकिन प्रधानमंत्री या गृहमंत्री जिन जुमलों का इस्तेमाल करते हैं, उस पर अपने देश के मीडिया का रूख भी कम आश्चर्य में डालनेवाला नहीं है।

मीडिया नक्सलियों या उनके आंदोलन के मूल कारणों तक पहुँचने की कोशिश ही नहीं करता, बल्कि यदा—कदा सतही तौर पर नक्सली हिंसा होने पर थोड़ी बहुत चर्चा करके अपने कर्त्तव्य पूरे कर लेता है। नक्सली/माओवादी देश के किसी हिस्से में बड़ी घटना को अंजाम देते हैं, जैसे बारूदी सुरंग विस्फोट या घात लगाकर पुलिस या सी० आर० पी० एफ० के शिविरों पर हमले करते हैं, तो अखबारों में लीड खबर बनती है या फिर इलेक्ट्रॉनिक चैनलों का कैमरा उधर मुड़ता है। इसके पहले या बाद में मीडिया ज्यादातर मामले में चुप्पी साधे रहता है। सरकारी महकमे की बातों (सबसे बड़ा खतरा) को ही बार—बार दुहराने के बावजूद इस हकीकत की ओर कभी ध्यान देने की जहमत कॉरपोरेट मीडिया नहीं उठाता कि नक्सलवाद देश के लिए सबसे बड़ा खतरा है, बावजूद इसके प्रभाव—क्षेत्र में कैसे विस्तार होता गया है? यह भी कि तमाम दमनात्मक कार्रवाइयों के बावजूद और सैकड़ों कार्यकर्ताओं को मुठभेड़ के नाम पर मारने के बाद भी उसके दबदबे के विस्तार को कम नहीं किया जा सका है। इस बिन्दु पर न सरकार विचार करती है और न ही मीडिया।

अनिल चमड़िया का सवाल इस संदर्भ में बड़ा माकूल है कि ''नक्सलवादियों को जिन इलाकों में सरकार सबसे ज्यादा सक्रिय बताती है वे कौन से इलाके हैं? क्या वे वैसे इलाके नहीं हैं जहाँ कि देश की आखिरी पंक्ति में खड़ी जमात रहती है। जहाँ वह रहती है उसके घर के नीचे खनिज संपदा है। प्राकृतिक संसाधनों से वह भरपूर है। जंगल है। पानी है। लोगों को जीने के अधिकार से वंचित करके रखा गया है। सरकार उन्हें बंदूकधारी बता रही है। पूरे देश में ऐसी क्यों स्थिति है कि सबसे कमजोर समझे जाने वाले आदिवासी समुदायों की जमीन और दूसरे संसाधनों पर सभी तरह की विचारधारा की रंगवाली पार्टियों की सरकारें टूट पड़ी हैं।'' (वर्तिका, वाणी प्रकाशन,नयी दिल्ली अक्टूबर—दिसंबर, २०१०, पृ० १५२)

दरअसल आदिवासी समुदाय घनघोर उपेक्षा, अविकास और अन्याय झेल रहा है। आदिवासी इलाकों में विकास की जिस बयार को सरकार ने बहाने का प्रयास किया है, वही उन्हें बेघर और बेजार दोनों कर रहा है। इसी व्यथा ने उन्हें नक्सलियों से जोड़ा और नक्सलियों ने उनकी समस्याओं के लिए जिम्मेवार कारणों—तत्त्वों के खिलाफ मददगार की भूमिका निभायी है। आदिवासियों के लिए जंगल उनके जीवन के मूल आधार हैं। सरकारें सेज़, बड़े बाँधों और औद्योगीकरण बहानें के विकास का जो सपना देखती रही हैं, उसने आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन—सबसे बेदखल किया है। अब अपनी सरकारों को कौन समझाये कि जब कोई अस्मिता के संकट से जूझेगा तो फिर संघर्ष के सिवा उसके सामने रास्ता बचता क्या है? सबसे जरूरी विचारणीय मुद्दा तो विकास की अवधारणा ही है, लेकिन इस पर देश के बुद्धिजीवियों समेत मीडिया की भूमिका भी संदेहास्पद है। आदिवासी समुदाय देश के उन हिस्सों में बसे हुए हैं, जहाँ की जमीन के नीचे अकूत खनिज—संसाधन हैं। इन्हीं संसाधनों की अवैध लूट और खनन का विरोध जब आदिवासी करते हैं, तो सरकार की नजर में वे इस देश के वाशिंदे नहीं बल्कि नक्सलवादी नजर आते हैं।

भारत के योजना आयोग ने वर्ष २००६ में 'चैलेंजेज ऑफ़ डेवलपमेंट इन माओइस्ट अफेक्टेड ट्राइबल एरियाज़' शीर्षक से एक रिपोर्ट जारी की। इसके मुताबिक भूमि से संबंधित मामले माओवाद के फैलाव में एक जरूरी भूमिका निभाते हैं। यों नक्सलवादी आंदोलन भूमि संबंधों को लेकर ही शुरू भी हुआ था और धीरे—धीरे तमाम दमितों—वंचितों का अपना आंदोलन बनता चला गया। योजना आयोग की रिपोर्ट स्वीकारती है कि आदिवासी इलाकों में ''लगातार अलगाव के कारण लोग बंदूक उठाने के लिए बाध्य हुए। इसे इस रूप में समझा जाए कि यह एक कानून—व्यवस्था की समस्या नहीं है बल्कि इसकी जड़ें आर्थिक और सामाजिक आधारों में निहित है।'' (बहुवचन— २८, म० गां० अ० हि० वि० वि० वर्धा की पत्रिका से, जनवरी—मार्च, २०१०, पृष्ठ १०)

*एसोशिएट प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड, संपर्क : 09934134254

आदिवासी जंगल से जीविका के साधन जुटाते रहे हैं, परंतु वन विभाग एक नये हस्तक्षेपकारी के रूप में उनके जीवन में आया है। योजना आयोग की रिपोर्ट कहती है कि वन विभाग को हथियारबंद पुलिस मुहैया करायी जाती है जो कि जंगल में लगभग पेशेवर सेना के रूप में अपना नियम–कानून चलाती है। इनमें मनमाने ढंग से सजा देना, बिना मूल्य खाद्य–वस्तुओं की निकासी आदि (अंडे, मुर्गे, बकरे, दूध, जंगली उत्पाद आदि), बिना मूल्य श्रम, जोर–जबरदस्ती से पैसे की उगाही, इससे भी बुरा यह कि घरों में लूट–पाट, छीना–झपटी और आधिपत्य हेतु बलात्कार सामान्यत: होते ही रहते हैं।' (उपरिवत्, पृ० ११) केन्द्रीय मंत्री जयराम रमेश भी वन विभाग को नसीहत देकर इसी हकीकत की ओर इशारा करते हैं। (प्रभात खबर, राँची, ३१ जनवरी, २०१२, पृ० १)

आदिवासी इलाकों में भूमि अधिग्रहण कानून का इस्तेमाल औपनिवेशिक नीतियों के अनुरूप ही किया जा रहा है। आज की सरकारों द्वारा भी सार्वजनिक हित की आड़ में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भूमि–अधिग्रहण धड़ल्ले से किया जा रहा है। जमीन की इस लूट के खिलाफ विद्रोह होना स्वाभाविक है, क्योंकि विगत के अनुभव कम त्रासद नहीं रहे हैं। कब तक आदिवासी ही 'सार्वजनिक और राष्ट्रीय हित' के लिए अपनी बलि देते रहेंगे। उनके हित इस देश के शासक देखेंगे या नहीं ?क्या उन्हें मूलभूत आवश्यकताओं और संसाधनों से वंचित और बेदखल कर हमारी सरकारें उनके साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार नहीं कर रही हैं? मानवाधिकारवादी गौतम नवलखा ने कहा था कि केन्द्र सरकार जब यह कहती है कि माओवादी आदिवासी क्षेत्रों में विकास का विरोध कर रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि 'वस्तुत: माओवादी, आदिवासी क्षेत्रों में कॉरपोरेट शोषण, जो कि खनिज पदार्थों, जंगल और भूमि–संसाधनों के दोहन पर आधारित है, को रोकने का प्रयास करते हैं।' (बहुवचन–२८, पृ० ११) कई स्रोतों से ये बातें सामने आयी हैं कि सरकारें अपनी सारी विकास की नीतियाँ बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों को ध्यान में रखकर बना रही हैं। अंतरराष्ट्रीय बाज़ार में इस्पात और अल्यूमिनियम की बढ़ी मांग ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दिलचस्पी अचानक आदिवासी क्षेत्रों की ओर बढ़ा दी है। सुष्मिता अपने एक 'पोस्ट' में लिखती हैं – ''सरकार ने झारखंड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और छत्तीसगढ़ के तमाम पहाड़ और जंगलों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले कर दिया है। २००८ के मध्य तक पहाड़ों और खदानों से संबंधित उड़ीसा में ६५ एम० ओ० यू० (मेमोरेन्डम ऑफ अंडरस्टैंडिंग) झारखंड में ४२ एम० ओ० यू० और छत्तीसगढ़ में ८० एम० ओ० यू० बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ किये गये हैं। आदिवासी जनता के पैरों तले बड़ी मात्रा में बहुमूल्य खनिज हैं। छत्तीसगढ़ में एक तरफ सरकार ने २००५ में एम० ओ० यू० किया तो दूसरी तरफ उसके अगले ही दिन कांग्रेस के नेतृत्व में 'सलवा जुडुम' की घोषणा हुई। यह एक सरकारी बर्बर गिरोह है जो वियतनाम में अमरीका द्वारा गठित खूनी गैंगों की तर्ज पर बनाया गया है। केन्द्र सरकार के ग्रामीण विकास विभाग द्वारा जनवरी, २००८ में गठित १५ सदस्यीय समिति की रिपोर्ट (स्टेट एग्रेरियन रिलेशंस एंड अनफिनिश्ड ऑफ लैंड रिफॉर्म) का सलवा जुडुम के बारे में कहना है कि ''खुले रूप से इस घोषित युद्ध का अंत अब तक की सबसे बड़ी जमीन हड़प में होगा।... टाटा, और एस्सार स्टील भारत में उपलब्ध सबसे बेहतर लौह अयस्क की खदान के लिए सात या इससे अधिक गाँवों को लेना चाहते थे। आदिवासियों के

प्रारंभिक प्रतिरोध के बाद सरकार ने अपनी योजना वापस ले ली। एक नया दृष्टिकोण जरूरी था। यह सलवा जुडुम के साथ सामने आया जो मुड़ियाओं द्वारा गठित था, इनमें से कुछ पहले माओवादियों के ही कार्यकर्ता थे। इसके पीछे व्यापारी, ठेकेदार और खदान वाले लोग थे। सलना जुडुम को धन उपलब्ध कराने वालों में टाटा और एस्सार प्रथम थे। ६४० गाँव सूने हो गये। इनको जला दिया गया और सत्ता की मदद से बंदूक की नोंक पर खाली कराया गया। दंतेवाड़ा की कुल–जनसंख्या का लगभग आधा, साढ़े तीन लाख लोग विस्थापित हो गए। उनकी महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया। उनकी बेटियों को मार दिया गया और नवयुवकों को अपंग बना दिया गया। जो जंगल से नहीं भाग सके, उन्हें सलवा जुडुम द्वारा संचालित शिविरों में ले जाया गया। ताजा जानकारी के अनुसार इन खाली किये गये ६४० गाँवों को टाटा और एस्सार लेने के लिए तैयार हैं।'' (११ अक्तूबर, २००९, इंटरनेट से) दरअसल, भारतीय गणतंत्र के स्वामी हिंसा खत्म करने के नाम पर देश के आर्थिक संसाधनों को कॉरपोरेट जगत के हवाले करते जा रहे हैं और नतीजे में जनांदोलनों और प्रतिरोधों का दमन करने में गुलाम भारत की शासन–व्यवस्था को भी मात दे रहे हैं।

पश्चिम बंगाल, झारखंड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, आंध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में फैले जंगल–जिसे दंडकारण्य कहा जाता है में आदिवासियों की बहुतायत है। मीडिया इसे 'रेड कॉरिडोर' या 'माओवादी कॉरिडोर' भी कहती है लेकिन अरूंधती राय इसे 'एमओयूइस्ट कॉरिडोर' कहने की पक्षधर हैं। वे कहती हैं– ''यह संविधान के पाँचवें शिड्यूल में आदिवासियों को दी गयी सुरक्षा के एकदम विपरीत है– जिसके तहत उन्हें जमीन से बेदखल नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है कि यह क्लॉज संविधान की सुंदरता के लिए जोड़ा गया है। हल्की सी सजावट। हल्कासा मेकअप। आदिवासियों के घरों पर कब्जा करने के लिए बहुतेरी कंपनी–छोटी से लेकर दुनिया की सबसे बड़ी खनन कंपनियाँ–कतार में लगी हुई हैं। मित्तल, जिंदल, टाटा, एस्सार, पॉस्को, रियों टिंटो, बीएसपी बिलिटॉन और वेदांता–यह फेहरिस्त काफी लंबी है। यहाँ हर पर्वत, नदी और जंगल के लिए एक करार किया गया है।'' (इंटरनेट पर अरूंधती राय के लेख से ११ मार्च, २००९)

आजादी के पहले से ही औद्योगिक विकास का जो सपना बेचा गया है, उसने आदिवासियों–मूलवासियों को सुविधा के बदले असुविधाजनक स्थिति में ज्यादा डाला है। टाटा (आजादी के पहले) और बाद में बोकारो, राउरकेला, एच० ई० सी० (राँची) से जो आदिवासी विस्थापित हुए वे आज तक मुआवजे के लिए संघर्षरत हैं। नदीम हसनैन के आलेख का यह उद्धरण भी हकीकत की एक बानगी पेश करता है– 'दि नेशनल मिनरल डेवलपमेंट्स कॉरपोरेशन' की किरान्डूल और बचेली की खदानें जो कि मध्यप्रदेश के दंतेवाड़ा जिले में हैं, स्थानीय लोगों को रोजगार नहीं देती हैं। यहाँ से प्राप्त लौह अयस्कों को एक विशिष्ट रेल मार्ग से विशाखापत्तनम और अत्यंत अल्प मूल्य पर जापान को बेचा जाता है।' (बहुवचन, २८ पृ० ११) इनकी ओर भी हमारे मीडिया वालों का ध्यान शायद ही कभी जाता है।

कॉरपोरेट नेतृत्व में विकास की जारी प्रक्रिया दरअसल 'विकास का आतंकवाद' ही फैलाती है। इसे लेकर इस देश के बुद्धिजीवियों समेत सर्वोच्च न्यायालय ने भी असंतोष प्रकट

किया है, पर देश के गृहमंत्री को तब भी लगता है कि जो हमारे साथ नहीं हैं, वे माओवादियों के साथ हैं। यह तो उनके अमरीकी आकाओं की तर्ज पर ही कही गयी बात है न कि आतंकवाद की लड़ाई में जो हमारे साथ नहीं हैं वे तालिबान के साथ हैं।

विभिन्न जनसंगठनों द्वारा २४ मई, २०१० को राँची में आयोजित प्रेस कांफ्रेंस में विविध स्रोतों (अमित भादुड़ी की पुस्तक 'द फेस यू वेयर अफ्रेड टू सी' एवं वैकल्पिक सर्वे ग्रुप इंडियन पोलिटिकल इकॉनमी एसोसिएशन की 'वैकल्पिक आर्थिक वार्षिकी, भारत २८—२९') से एकत्रित जो तथ्य पेश किये गये, वे भी विकास के आतंकवाद को ही दर्शाते हैं। यथा—जबरिया भूमि अधिग्रहण, कॉरपोरेट—नेतृत्व—विकास का सबसे मारक हथियार बना हुआ है। ब्रिटिश सत्ता द्वारा निर्मित १८९४ ई० के 'भूमि अधिग्रहण अधिनियम' को आजाद भारत के सिपहसालारों ने १९५२, १९६३ और १९८४ में संशोधित कर और कठोर किया। २००६ में इसमें पुनः संशोधन किया गया और साथ में पहली बार पुनर्वास और पुनर्स्थापन नीति भी बनी। किंतु इस नीति को जमीन पर उतारने को राज्य सरकारें इच्छुक नहीं दिखतीं। दूसरी ओर वही राजसत्ता 'जनहित मे कॉरपोरेट पूंजी के लिए उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, बंगाल में भूमि छीनने को आतुर है। मुआवजे की दर बिना किसानों—जमीन मालिकों से बात किये एकतरफा तय की जाती है। जबरन भूमि अधिग्रहण हेतु सशस्त्र पुलिस बल तक उतारा जा रहा है।

कथित कल्याणकारी राज्य कॉरपोरट की सेवा में इतना डूब गया है और इस कथित विकास के व्यक्तिगत लाभ के स्वार्थ में इतना अंधा हो चुका है कि अपनी ही जनता पर बर्बर अत्याचार करने, दमनकारी नीति अपनाने और गोलियों से भूनने में भी नहीं हिचक रही है। चाहे वह कलिंगनगर हो या कुजंग बालिटुहा, नियमागिरि, पोटका या बस्तर। इसी के साथ इसमें बालिटुहा और कलिंगनगर गोलीकांड के बाद प्रभावित गाँवों की सशस्त्र बलों द्वारा की गयी घेराबंदी के साथ बताया गया है कि नियमागिरि पहाड़ियों में छुपे तीन ट्रिलियन के बॉक्साइट के लिए वहाँ हजारों वर्ष से रह रहे उन आदिवासियों को खदेड़ कर भगा दिया गया और वह बॉक्साइट खदान स्टारलाइट कंपनी को सौंप दी गयी। ध्यातव्य है कि यह स्टारलाइट कंपनी वेदांता कंपनी की ही 'सिस्टर कंसर्न' है। वेदांता कंपनी से हमारे गृहमंत्री श्री पी० चिदंबरम का संबंध जगजाहिर है।' चिदंबरम इसी नातेदारी के निर्वाह के लिए किसी भी कीमत पर—चाहे आदिवासियों का शिकार (ग्रीन हंट) ही क्यों न करना पड़े, वे करने को तैयार—तत्पर हैं। इसी प्रेस कांफ्रेंस (२४ मई, २०१०) की विज्ञप्ति कहती है कि छत्तीसगढ़ में शिवनाथ नदी, कैलो, कुरकुट, शाबरी, खड्न और मंद नदियाँ 'बूट पॉलिसी' यानी 'बिल्ड ऑन कारपोरेट एंड ट्रांसफर' नीति के तहत कॉरपोरट पूँजी को दे दी गयीं। इन नदियों के किनारे बसी आबादी इनके पानी से वंचित कर दी गयी। इस विज्ञप्ति में यह सवाल भी किया गया है कि अब आप ही तय करें कि यह बहुप्रचारित 'विकास' है या 'विकास का आतंकवाद'? यह कॉरपोरट के नेतृत्व में चल रही भारतीय लोकतांत्रिक नाटक मंडली, जिस तरह देश के गरीब अवाम के छुपे और मीठे हत्यारे में तब्दील हो गयी है उसके जवाब में प्रतिकार, प्रतिरोध, प्रतिशोध के अलावा और कोई रास्ता बचता है? संक्षेप में कहें, तो पूरी व्यवस्था जनता विशेषकर आदिवासियों से उनके जल—जंगल—जमीन छीनकर मुनाफाखोर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंप रही है। नदियाँ बेची गयी हैं, जंगल उजड़ रहे हैं और खेतों को

कारखानों और विनाशकारी बड़े बांधों में तब्दील किया जा रहा है। केवल गिने—चुने अरबपतियों को लाभ पहुँचाने वाली इन विनाशकारी विकास परियोजनाओं के लिए बड़े पैमाने पर जनता विस्थापित हो रही है और इनके विरूद्ध उठे प्रतिरोध के स्वर को माओवाद या नक्सलवादियों के खात्मे के नाम पर सलवा जुडुम (छत्तीसगढ़), नागरिक सुरक्षा समिति, तृतीय प्रस्तुति कमिटी (झारखंड) जैसे प्रतिक्रियावादी संगठन खड़ा कर पुलिस और सुरक्षा बल उनका दमन कर रहे हैं।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने नंदिनी सुंदर और अन्य बनाम छत्तीसगढ़ राज्य मामले में ५ जुलाई, २०११ को सलवा जुडूम के संदर्भ में दिये गये फैसले में स्पष्ट कर दिया है कि ''आजादी के बाद विकास के जिस प्रतिमान (पैराडाइम) को अपनाया गया, उसने समाज में हाशिये पर पड़े तबकों में पहले से मौजूद असंतोष को और भी ज्यादा बढ़ाया...। नीति—निर्माताओं द्वारा तय किये गये विकास के प्रतिमान को इन समुदायों पर थोप दिया गया ... इससे इन लोगों को अपूरणीय क्षति हुई। इस विकास प्रतिमान की अधिकांश कीमत गरीबों ने चुकाई, लेकिन इसके फायदों के बड़े हिस्से पर समाज के प्रभुत्वशाली तबके का कब्जा होता रहा है और गरीबों को बहुत ही कम फायदा मिला है। दरअसल, विकास इन समुदायों की जरूरतों के प्रति असंवेदनशील ही रहा है। इस कारण इन्हें अनिवार्य रूप से विस्थापन का सामना करना पड़ा है और इसने इन्हें अमानवीय जिंदगी जीने को मजबूर किया है। खासतौर पर आदिवासियों के मामले में इसने उनके सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक पहचान और संसाधनों को नष्ट किया है... इन सबके कारण इनका शोषण और भी आसान हो गया है... विकास के तरीके और इसके क्रियान्वयन ने नौकरशाही के भ्रष्ट व्यवहार और ठेकेदारों, बिचौलियों, व्यापारियों और व्यापक समाज के लोभी तबकों द्वारा किये जाने वाले खुंखार शोषण को और भी ज्यादा बढ़ाया है जो इनके संसाधनों पर कब्जा करने और उनकी गरिमा का हनन करने पर उतारू है।'' (समयांतर, अगस्त, २००१, नयी दिल्ली, पृ० ११)

इस फैसले से इस देश की सरकार की आँखें खुलनी चाहिए, पर ऐसा अब तक होता नहीं दिख रहा और मीडिया भी सरकारी भोंपू बन अपने दायित्वों की इतिश्री कर ले रहा है। २००९ में जवाहरलाल नेहरू वि० वि०, नयी दिल्ली में डी० एस० यू० द्वारा जारी पर्चे का यह अंश भी यही ताकीद करता है कि आजाद भारत में भी आदिवासी समुदाय की परेशानियां कम होने के बजाय बढ़ती गयी हैं, ''१९४७ के बाद से विकास और राष्ट्र निर्माण के नाम पर चल रही बड़ी परियोजनाओं की कीमत सबसे अधिक आदिवासियों ने चुकायी है। इन परियोजनाओं से विस्थापित हुए कुल लोगों में लगभग आधी आबादी आदिवासीयों की है, जबकि देश की आबादी में उनका हिस्सा सिर्फ आठ प्रतिशत है और राष्ट्र निर्माण व विकास परियोजनाओं से हमें हासिल क्या हुआ है? छह करोड़ से अधिक विस्थापित। कुछ दर्जन अरबपति। और ७७ प्रतिशत जनता के लिए २० रुपये प्रतिव्यक्ति दैनिक खर्च। जाहिर है, यह सिर्फ छत्तीसगढ़ तक ही सीमित नहीं है। झारखंड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, आंध्र प्रदेश— पूरे देश में यह प्रक्रिया चल रही है।'' (इंटरनेट से)

इसी पर्चे में कहा गया है कि उड़ीसा के कलिंग नगर में टाटा के प्रोजेक्ट के लिए जमीन के अधिग्रहण का किसान विरोध कर रहे थे। तो उन पर पुलिस ने फायरिंग की। इस बर्बर हमले में

१४ आदिवासी मारे गये। झारखंड के कोयलकारो बांध परियोजना (अब बंद) के जरिये विस्थापन का विरोध करने के कारण लंबे समय से आंदोलनकारी जनता पर दमन चल रहा है। ये तो देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे भारी विस्थापन, जनता द्वारा किये जा रहे प्रतिरोध और सरकार द्वारा किये जा रहे दमन के बस कुछ उदाहरण भर हैं। अभी हम मीडीया में 'माओवादी हिंसा की चर्चा बड़े जोर–शोर से देख रहे हैं। लेकिन यही मीडिया पुलिस–सेना–अर्द्ध–सैनिक बलों की कार्रवाइयों में जनता की हत्याओं की खबरों पर चुप्पी साध लेता है। इसी साल (२००९) फर्जी मुठभेड़ों के नाम पर लगभग ५० लोग अकेले बस्तर इलाके में मारे गये हैं। लेकिन हम कभी मीडिया में इनकी तस्वीरें या खबरें नहीं पाते। हमारे देश में वंचित लोग जब तक चुप रहते हैं, तब तक उनकी हत्या और बलात्कार की घटनाएँ कभी 'खबर' नहीं बन पातीं लेकिन जब वे लोग इस दमन के खिलाफ संघर्ष करते हैं तभी वे साम्राज्यवाद के इस प्रचार–तंत्र–मीडिया के लिए खबर बन जाते हैं। लेकिन इसके जरिये भी सिर्फ जनता के संघर्षों की गलत तस्वीर और पुलिसिया झूठ का ही प्रचार किया जाता है और जनता के संघर्ष को अनौचित्यपूर्ण ठहराने की कोशिश की जाती है। कहने की जरूरत नहीं है कि सिर्फ जनता के संघर्षों को ही निशाना बनाने के लिए मीडिया और बुद्धिजीवियों द्वारा हिंसा को मुद्दा बनाया जाता है। जबकि असली मुद्दा हिंसा नहीं, बल्कि न्याय और अधिकारों का है, जो जनता से छीने जा रहे है।'' (उपरिवत्)

पूरे परिदृश्य को देखकर पूर्व राष्ट्रपति के० आर० नारायणन की बात सच साबित होती लगती है कि ''आनेवाली पीढ़ियाँ कहीं यह न कहें कि भारतीय गणराज्य की नींव हरित पृथ्वी और निर्दोष जनजातियों, जो कि सदियों से यहाँ के वासी थे, की लाश पर रखी गयी है।'' अपने देश के रहबर इसी दिशा में बढ़ते लग रहे हैं और पृथ्वी पर के सर्वाधिक लोकतांत्रिक लोग आदिवासी आज सबसे बड़े संकट से जूझ रहे हैं। अल्प संख्या में होने की वजह से राष्ट्रीय राजनीति पर आदिवासियों की आवाज अब तक कितनी सुनी गयी है, यह जगजाहिर है। सर्वाधिक सहज समुदाय आदिवासी राज्य, माओवाद और सलवा जुडुम, नागरिक सुरक्षा समिति जैसे राज्य प्रायोजित संगठनों के हिंसक दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं है कि आदिवासी साम्यवाद, नक्सलवाद या माओवाद से प्रेरित हैं। आज आदिवासी नक्सलियों के साथ हैं तो इसकी वजह यह है कि इन चरम वामपंथियों ने आदिवासियों को लामबंद कर राजनैतिक नेतृत्व देने का काम किया और आदिवासी–अधिकारों के लिए लड़ने की क्षमता दी। इस लिहाज से माओवादियों को यह श्रेय और सम्मान तो मिलना ही चाहिए कि उन्होंने आदिवासियों को शोषण, अन्याय और संसाधनों से बेदखली के खिलाफ लड़ने की आवाज और हौसला दिया है।

यहाँ यह सवाल भी मौजूँ है कि आखिर आदिवासी माओवादियों के साथ कैसे लामबंद हुए? नक्सल मसलों पर निरंतर लिखने और विचारने वाली वरिष्ठ पत्रकार इरा झा 'बस्तर का दर्द तो समझो' में इस सवाल का जवाब देने का प्रयत्न करती हैं– ''नक्सलियों ने जब बस्तर में पनाह ली तो आदिवासियों को जैसे मसीह मिल गया। उन्हें पुलिस की जोर–जबरदस्ती से निजात दिलाने वाला। जंगल के हक दिलाने में मदद देने वाला। अफसरों और सताने वालों को सजा देने वाला। व्यापारियों से उनकी वनोपज की सही कीमत दिलाने वाला। उनमें अपने मूल परिवेश को छोड़े बिना उन्हें आज की रिवायतों से परिचित कराने वाला/आदिवासी का किसी विचारधारा से क्या लेना–देना। जो उन सा है, उनका है। जो उनके बारे में सोचता है, वह पूजनीय है।... एक समय ब्रिटिश मूल के वैरियर एल्विन तक आदिवासियों के भरोसेमंद थे। उन्होंने आदिवासी जीवन अपनाया था। आदिवासी युवतियों से विवाह किया था। उनकी आदिवासी संतानों के परिवार आज भी मिलते हैं। 'फूलमती द जंगल क्वीन' अपनी आदिवासी पत्नी पर उनकी पूरी किताब है। एल्विन ने 'माड़िया गोंड्स ऑफ बस्तर', 'माड़िया मर्डर एंड सुसाइड' जैसी जो किताबें लिखी हैं, वैसा कोई भारतीय कभी इसलिए नहीं लिख पाया, क्योंकि किसी ने भी अपने आप को उनसे जोड़ने का प्रयास नहीं किया।' (वर्तिका, अक्तूबर–दिसंबर, २०१० वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ० २१–२२)

माओवाद को लेकर आदिवासी भी सशंकित हैं, लेकिन उन्हें अविश्वसनीय नहीं मानते। वे स्वीकारते हैं कि माओवादियों ने आदिवासियों के जीवन और संघर्ष को अपनाया है, बावजूद सवाल नेतृत्व का भी हो जाता है उनके लिए यह ग़ैर वाजिब भी नहीं है। युवा लेखक केदार प्रसाद मीणा की शंकाओं को देखा जाना चाहिए– ''(माओवादियों के) ऊपरी स्तर का नेतृत्व हमेशा गैर–आदिवासी माओवादियों के हाथ में है, जबकि सन् सड़सठ से ही आदिवासी किसान नक्सलवाद का हिस्सा रहे हैं। अगर सरकार माओवादियों से बात भी करती है तो ये नेता आदिवासियों के हित सर्वोपरि रखेंगे, इसमें पूरा संदेह है। साफ है कि आदिवासी चौतरफा घिरे हैं।'' (जनसत्ता, दिल्ली, १ जनवरी, २०१२, पृ० ६)

चौतरफा घिरे आदिवासी अपने नेताओं को भी उन्हीं शक्तियों के साथ पाते हैं तो तमाम 'भूमकाल' और 'उलगुलान' के सामने खड़ी चुनौतियाँ भी बड़ी दिखती हैं। जिन राजनीतिक पार्टियों में आदिवासी नेतृत्व कर रहे हैं, वे भी हमेशा संदेह के घेरे में रहे हैं। लेकिन मीणाजी को यह बात तो माननी पड़ेगी कि साम्यवाद से प्रेरित किसी भी आंदोलन या पार्टी और उनके नेताओं पर भ्रष्टाचार के आरोप कम ही लगे हैं। माओवादी नेतृत्व में आदिवासी आये हैं, लेकिन शंकाएँ अपनी जगह हैं आजकल कब कौन कहाँ बिक जाएगा, ठिकाना नहीं। माओवाद और आदिवासी दोनों आज एक ही तरह के चक्रव्यूह में फँसे हैं और वह है भूमंडलीकरण पोषित अर्थनीति और जमीन के नीचे पड़ा बहुमूल्य खजाना। इन तमाम कंपनियों का इस देश की तमाम चीजों में हिस्सा है। मीडिया भी इन कंपनियों के दबदबे का ही शिकार या खिलौने की तरह इन मुद्दों के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाता रहा है।

वर्ग संघर्ष पर आधारित आंदोलनों के साथ मीडिया का रवैया लगभग सौतेला रहा है और अब तो मीडिया कंपनियों में भी जब बहुराष्ट्रीय और संसाधनों का अंधाधुंध दोहन करनेवाली कंपनियों का पैसा लगा हो तो फिर कोई उम्मीद लगाना भी व्यर्थ है। आज हर दिन एक नया चैनल देखने को मिल जाता है, जो अमूमन पूंजीपतियों का होता है। कॉरपोरेट घरानों की पूंजी का शिकंजा लगभग पूरी तरह चैनलों और अखबारों पर कसता जा रहा है। इसीलिए मीडिया विकास की बाजारवादी अवधारणा को ही अंतिम सत्य मानकर चल रहा है। जहाँ शेयर बाजार का उतार–चढ़ाव, मुद्रास्फीति का उठना–गिरना, सकल घरेलू उत्पाद में बढ़ोतरी, डॉलर के मुकाबले रुपये की कीमत में वृद्धि या कमी विकास के सूचक माने जा चुके हैं। बेकारी, गरीबी, भूखमरी,

अशिक्षा, कुपोषण, भ्रष्टाचार, बढ़ते आपराधिक ग्राफ से मीडिया का लेना–देना कम ही है। खासकर नक्सलवाद के मामले में मीडिया का रवैया चौंकानेवाला है। मीडिया खासकर कॉरपोरेट मीडिया यदि नक्सलवाद या माओवाद पर चर्चा करता है तो प्राय: वह एकतरफा होता है। मीडिया विश्लेषक आनंद प्रधान मीडिया द्वारा आयोजित चर्चाओं पर कहते हैं– ''... ऐसी सभी चर्चाएँ आमतौर पर एकतरफा होती हैं लेकिन उन पर यह आरोप न लग जाए, इसलिए एकाध मानवधिकारवादी या बुद्धिजीवी को भी कोरम पूरा करने के वास्ते बुला लिया जाता है। फिर उस पर सवालों की बौंछार शुरू कर दी जाती है लेकिन उसे जवाब देने का मौका नहीं दिया जाता है।.. . यही नहीं उन बुद्धिजीवियों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के 'खलनायकीकरण' की हर संभव कोशिश होती है जो माओवादियों के खिलाफ सैन्य अभियान का न सिर्फ विरोध करते हैं बल्कि सरकार के इरादों पर सवाल भी उठाने की कोशिश करते हैं।'' (सबलोग, दिल्ली, दिसंबर २००९ पृ० १४)

मीडिया का यह व्यवहार और चरित्र उदारीकरण की नीति के बाद ज्यादा खुलकर सामने आया है। मीडिया खुद उद्योग में तब्दील हो चुका है और देशी–विदेशी कॉरपोरेट पूंजी से संचालित हो रहा है। लेकिन नक्सलवादी आंदोलन के आरंभिक दौर में जब मीडिया या अखबारों पर विदेशी कॉरपोरेट पूंजी का आतंक कायम नहीं हुआ था, तब भी गरीबों, दलितों, आदिवासियों के संघर्ष के प्रति नजरिया सद्भावना का नहीं था। उस समय (७० के दशक में) भी हाशिये के समुदायों के संघर्ष को 'नक्सली' करार देकर पुलिसिया दमन को जायज ठहराने के प्रयास किये जाते थे। बावजूद इसके जनांदोलनों के लिए 'स्पेस' इतना कम नहीं हुआ था। दरअसल, मीडिया हमेशा मध्यवर्गीय मुद्दों और रूझानों पर ही फोकस करता रहा है। नक्सलवाद का जब उभार हुआ उसी समय कांग्रेस का राजनीतिक वर्चस्व भी छीजना शुरू हुआ, लेकिन राजनीतिक उठापटक को जितना कवरेज उस समय अखबारों ने दिया उसके मुकाबले नक्सली आंदोलन को अत्यंत कम कवरेज मिला। नक्सलवादी आंदोलन से दरअसल छोटे किसान, मजदूर, दलित आदिवासी जुड़े थे और ये ज्यादातर मामलों में सामंतों और जमींदारों के अत्याचार के खिलाफ लामबंद हुए थे। आरा, जहानाबाद, मुजफ्फरपुर, पलामू, चतरा आदि में नक्सलवादी आंदोलन की वजह से बदलाव भी दिखा, परंतु अखबारों को ये सब नजर नहीं आया, यदि आया भी तो कम ही। वहीं दूसरी तरफ जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार में छात्र–युवाओं की संपूर्ण क्रांति हुई (जिसका हश्र सामने है) तो सारे अखबारों ने उसके प्रभावों का बढ़ा–चढ़ाकर आकलन किया। जे० पी० आंदोलन और आपातकाल से अखबारों को नवजीवन प्राप्त हुआ। इसे जनसंघर्षों से जुड़े लोगों ने भी महसूस और रेखांकित किया है– ''आपातकाल हमारे मीडिया के लिए शाप के रूप में वरदान था। आपातकाल के कारण इसे जो अपार विश्वसनीयता प्राप्त हुई, उससे लाभ उठाकर मीडिया की विभिन्न शाखाएँ विकास के एक अभूतपूर्व दौर से, या कहा जाय तो उभार के दौर से गुजर रही हैं। आज ये मीडिया वाले वाकई ऐसी शक्तिमान हस्तियाँ हैं जो 'मध्यमार्गियों के बीच वामपंथी' और 'चरम वामपंथी' तत्वों समेत हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के एक विशाल हिस्से के चिंतन को गहराई से प्रभावित कर रही हैं।'' (बिहार के धधकते खेत–खलिहानों की दास्तान, प्राक्कथन, ट्ण्, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी–लेनिनवादी) का दस्तावेज, प्रथम संस्करण १९८६)

मुख्यधारा के मीडिया के चरित्र में बदलाव की शुरूआत नवें दशक के मध्य से ही शुरू हो गया था, जिसे वामपंथी ताकतों ने भी पहचान लिया था। यह वही दौर है जब राजीव गाँधी ने कंप्यूटरीकरण पर जोर दिया और उपभोक्तावादी रूझानों को पर्याप्त जगह मिलने लगी। टी० वी० का प्रसार भी इसी दरम्यान बढ़ा और 'रामायण'–'महाभारत' जैसे धारावाहिकों ने इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के लिए बाजार तैयार करने में बड़ी भूमिका निभायी। इसी दरम्यान पुनरूत्थानवाद का दौर भी चला और शाहबानो प्रकरण से लेकर रामजन्म भूमि–बाबरी मस्जिद विवाद से उभरी सांप्रदायिक भावना ने जनांदोलनों को कमजोर किया। दक्षिणपंथी रूझान के आगोश में मीडिया गया और इससे कुछ बचा तो मध्यवर्गीय मसले उनके लिए प्रमुख बन गये। इसका परिणाम यह हुआ कि मीडिया 'ग्रासरूट' के मुद्दों से खुद को अलग करता गया। नक्सली तो उनकी नजर में खलनायक हैं ही, क्योंकि उनका संघर्ष कहीं न कहीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ ही जाता है। जिन इलाकों में माओवादी संघर्ष चल रहा है, वहाँ के निवासी बहुराष्ट्रीय–कंपनियों के उत्पाद खरीदने में समर्थ नहीं हैं, फिर मीडिया उनसे जुड़ी खबरें छापे–दिखाये भी तो क्यों?

अपने देश की सरकारें संविधान की धज्जी उड़ाती रही हैं लेकिन इस ओर से मीडिया उदासीन है। वरिष्ठ पत्रकार सुधीर पाल कहते हैं ''७३ वें संशोधन के अंतर्गत त्रि–स्तरीय पंचायत व्यवस्था में लोगों को स्वशासन के अधिकार दिये गये, अधिसूचित क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय समुदायों को अधिकार दिये गये। साथ ही, समता जजमेंट के अनुसार यदि कंपनियां खनन करती हैं या उद्योग लगाती हैं तो लाभ का २६ प्रतिशत हिस्सा सामुदायिक विकास में लगाना है। लेकिन अब तक कितनी कंपनियां ऐसी हैं, जिन्होंने सामुदायिक विकास पर सोचा भी है, इस पर भी हमारे अखबार और इलेक्ट्रॉनिक चैनल कभी कुछ नहीं कहते।'' (सुधीर पाल से हुई बातचीत के आधार पर)

नक्सली आंदोलन के भी कई अंतर्विरोध रहे हैं। संसदीय राजनीति में भागीदारी को लेकर उनके विभिन्न धड़ों के बीच गंभीर मतभेद हैं, बहसें चल रही हैं। इतना ही नहीं, तात्कालिक आर्थिक लाभ को लेकर इनके बीच भी 'गद्दार' पैदा हुए। 'लेवी' वसूली ने नक्सलियों की आर्थिक आमद को बढ़ाया और लुंपेन तत्त्वों को बढ़ावा मिला। इसी के फलस्वरूप आपराधिक प्रवृत्ति के जो लोग इस आंदोलन से जुड़े वे जल्दी ही आर्थिक चकाचौंध में भी फँसे और कुछ हथियारों के साथ अपना अलग समूह बनाकर लेवी वसूलने लगे। इससे आंदोलन झारखंड, बिहार जैसे राज्यों में बिखरा भी, परंतु मीडिया को ये चीजें भी नहीं दिखतीं। उसे दिखता है तो सिर्फ खून–खराबा, नरसंहार और बाकी सब कुछ।

कुछेक अपवादों को छोड़कर राष्ट्रीय और क्षेत्रीय मीडिया का रवैया नक्सलवाद और आदिवासी संघर्षों को लेकर समान है। जवरीमल्ल पारख को उद्धृत करना चाहूँगा कि ''राष्ट्रीय और क्षेत्रीय मीडिया का अधिकांश हिस्सा राष्ट्रीय मामलों में शासक वर्ग का और अंतरराष्ट्रीय मामलों में साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का अनुसरण करता है और यही वजह है कि उनकी भाषा और उनकी व्याख्या भी वहीं से आती हैं।'' (जनसंचार माध्यमों का राजनीतिक चरित्र, अनामिका

पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, पृ. १२४)

क्षेत्रीय मीडिया की हकीकत कम त्रासद नहीं है। नक्सलवाद के संदर्भ में उसका रवैया कॉरपोरेट मीडिया जैसा ही है। झारखंड में पुलिस ने लगभग ढ़ाई हजार पूर्व माओवादियों को एस० पी० ओ० (सपेशल पुलिस ऑफिसर) बनाकर माओवादियों के खिलाफ लड़ने को उतार दिया है। ये पुलिस के मुखबिर भी हैं। माओवादियों के साथ संघर्ष में जब ये मारे जाते हैं तो अखबार वाले या स्थानीय न्यूज चैनलों की हेडलाइन होती है– 'माओवादियों ने निर्दोष ग्रामीण को पुलिस मुखबिर कहकर मार डाला'। वहीं जब ये एस० पी० ओ० किसी माओवादी को मारते हैं तो मीडिया की नजर में वह 'सेंदरा' हो जाता है। 'सेंदरा' शब्द का मतलब बदल दिया गया है। 'सेंदरा' सामूहिक शिकार के संदर्भ में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है, जिसे आदिवासी वार्षिक उत्सव के रूप में आयोजित करते हैं। इसमें जिन जंगली जानवरों का शिकार किया जाता है, उसमें साथ रहे कुत्ते की भी हिस्सेदारी होती है। लेकिन पुलिस और मीडिया के लोग एक सांस्कृतिक शब्द 'सेंदरा' का अर्थ–संकुचन कैसे कर चुके हैं, यह देखा जा सकता है। इस प्रसंग में मानवाधिकार कार्यकर्ता ग्लैडसन डुंगडुंग की ये बातें देखी जा सकती हैं– ''हकीकत यह है कि मीडियाकर्मी इस तरह के अधिकतर मामलों में बिना अनुसंधान किये ही समाचार लिखते हैं। कम से कम झारखंड में तो मैं कह सकता हूँ कि माओवादियों ने जितने ग्रामीणों को मारा है उसमें से लगभग ८० प्रतिशत लोग पुलिस के लिए मुखबिरी का काम करते थे। लेकिन मीडिया की गलत रिपोर्टिंग के कारण मारे गये एस० पी० ओ० के परिवारों को भूखों मरने के लिए छोड़ दिया गया। मारे जानेवाले एस० पी० ओ० को शहीद का दर्जा तो छोड़िये पुलिस उन्हें एस० पी० ओ० के रूप में पहचानने से भी इंकार कर देती है।'' (कथादेश, अप्रैल, २०११ दिल्ली, पृ० ८७)

बात यहीं खत्म नहीं होती, मीडिया में जो पत्रकार नक्सलियों या उनके मुद्दों के प्रति हमदर्दी रखते हैं उनके प्रति प्रबंधन का रवैया तमाम हदों को पार कर जाता है। पलामू में एक पत्रकार जब नक्सली नेता से साक्षात्कार के लिए गया तो पुलिस ने उसे मार गिराया। मारे जाने के बाद उसके ही अखबार के प्रबंधन ने यह मानने से इनकार कर दिया कि वह पत्रकार उससे संबद्ध भी था। चेरूकुरी राजकुमार उर्फ आज़ाद, हेम पांडे सरीखे उदाहरण भी हमारे सामने हैं। पुलिस अधिकारी वैसे बुद्धिजीवियों, पत्रकारों को धमकाने से बाज नहीं आते, जो नक्सलवाद या अन्य जनसंघर्षों के प्रति सहानुभूति रखते हैं। खासकर विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष निर्देशित उदारीकरण की आर्थिक नीतियों के बाद वामपंथी रूझान रखनेवाले और जनसंघर्षों के प्रति सहानुभूति रखने वाले पत्रकारों को मीडिया घरानों ने बाहर का रास्ता दिखाया। आनंद प्रधान के शब्दों में, ''९० के दशक में अखबारों से एक सोची–समझी रणनीति के तहत उन सभी पत्रकारों को बाहर किया गया जो वामपंथी रूझान के थे या गरीबों के सवालों पर मुखर और नयी आर्थिक नीतियों के कटु आलोचक थे या वामपंथी जनवादी आंदोलनों से पत्रकारिता में आये थे। इस दौर में कई जाने–माने पत्रकार मीडिया संस्थानों से बाहर किये गये, जिसका गरीबों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले बाकी पत्रकारों पर यह असर पड़ा कि वे खामोश हो गये। यही नहीं, जनांदोलनों से किसी तरह का संबंध रखनेवाले पत्रकारों के लिए कॉरपोरेट मीडिया के दरवाजे बंद होने लगे। (सबलोग, दिल्ली, अगस्त–सितंबर, २०१० पृ० १६) ऐसे पत्रकार जो दलितों, आदिवासियों के मूलभूत सवालों पर छेड़े गये आंदोलनों का पक्ष रखते रहे, उनमें फैसल अनुराग, इरा झा, वासवी जैसे नामों को हम देख सकते हैं। और, आज तो भूमंडलीकरण प्रणीत उदारवादी आर्थिक नीतियों के पक्ष में माहौल बनाने के लिए अनुबंध का सहारा लिया गया है। इससे कुछेक लोगों (उच्च पदस्थ) को तो पर्याप्त पैसे और सुविधाएँ दी जाती हैं, परंतु तलवार भी लटकाये रखी जाती है। ऐसी दशा में जनपक्षधरता कोई दिखाये भी तो कैसे? एक और हकीकत मुख्यधारा के मीडिया के साथ नत्थी है कि नीति–निर्धारण करने में भूमिका अदा कर सकनेवाले पदों पर दलितों–आदिवासियों या अन्य हाशिये के समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं है। 'कथादेश' (अप्रैल, २०११) में प्रकाशित एक सर्वे के मुताबिक 'दलित और आदिवासी फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं। राष्ट्रीय मीडिया के ३१५ प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं है।'

पूरे परिदृश्य को देखकर तो यही लगता है कि मुख्यधारा के मीडिया का चाहे वह राष्ट्रीय हो या क्षेत्रीय नक्सलवाद, आदिवासियों समेत तमाम वंचित समुदायों के प्रति उनका रवैया घोर उपेक्षा का है। सनसनीखेज खबरों के लिहाज से ये मुख्यधारा के मीडिया के लिए उपयोगी हैं और वह भी पुलिस या सुरक्षाबलों द्वारा प्लांटेड खबरों के मामले में। फिर विकल्प क्या है? मुख्यधारा के इतर छोटे–छोटे विकल्पों पर सोचने का समय आ गया है। सोशल मीडिया एक विकल्प हो सकता है, पर उस पर भी सरकार की नजरें टेढ़ी हो चुकी हैं और उसे भी सेंसर करने की दिशा में कदम बढ़ाये जा चुके हैं। लेकिन हर समस्या में ही उसके समाधान भी कहीं छुपे होते हैं। संघर्षरत समुदायों और विचारधारा के स्तर पर समान लोगों और संगठनों को पारदर्शी तरीके से बेहतर समझदारी और तालमेल के साथ एकता के बिंदु तलाशने होंगे। जनता की शक्ति में ही भरोसा जताते हुए आलोचना–आत्मालोचना से परहेज किये बगैर वैकल्पिक जन–माध्यम खड़े करने होंगे। नहीं तो, मुख्यधारा आज साम्राज्यवादी शक्तियों की शह से हर विचार, आंदोलन और संघर्षों को खुद में समाने को तैयार–तत्पर तो है ही।

पत्रकारिता

पत्रकारिता और जनजातीय जीवन

*नूपुर अन्विता मिंज

वर्तमान युग में पत्रकारिता सूचना का सशक्त माध्यम है। जेम्स मैकडोनाल ने पत्रकारिता को ऊँचाई देते हुए लिखा है ''पत्रकारिता को मैं रणभूमि से भी अधिक बड़ी चीज मानता हूँ, यह कोई पेशा नहीं, बल्कि पेशे से कोई ऊँची चीज है।''

पत्रकारिता का महत्व हमारे जीवन में इतना है कि यदि हर सुबह यदि किसी बड़ी घटना की खबर न मिले तो हमें एक प्रकार की रिक्तता का भान होता है। हम निराश हो जाते हैं। आज के समाचार पत्र की महत्ता का अन्दाजा कोलंबिया विश्वविद्यालय के 'ब्यूरो ऑफ एप्लाइड सोशल रिसर्च' द्वारा किए गए सर्वेक्षण से पता चलता है। इस सर्वेक्षण का शीर्षक था : ''अखबार न मिलने का क्या अर्थ होता है ?'' बात ३० जून १९४५ की है जब असंख्य पाठकों की पसंद के दैनिक पत्र जब लगातार सात दिन तक अनुपलब्ध रहे तो उन पाठकों की मन:स्थिति का सही अन्दाजा लगाने की दृष्टि से सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण से इस बात की तो पुष्टि हुई ही कि समाज में पढ़ने की आदत का स्वतंत्र महत्व है और उसकी अधिकतर पूर्त्ति समाचार पत्रों में छपने वाली सामग्री से होती है। सर्वेक्षण के उपरान्त लोगों की प्रतिक्रियाएँ कुछ इस प्रकार थीं। कुछ ने कहा कि मैं बिना समाचार–पत्र के स्वयं को बिन पानी की मछली जैसा अनुभव करता हूँ। अगर मैं यह नही जान पाता कि मेरे पड़ोस में क्या हो रहा है, मुझे पीड़ा होती है। समाचार–पत्र के अभाव में मुझे ऐसा लगता है कि मैं किसी जेल में फेंक दिया गया हूँ। आधुनिक जीवन में पत्र–पत्रिकाओं के बिना मानव जीवन अधूरा प्रतीत होने लगा है।

झारखण्ड के संदर्भ में जनजातीय संस्कृति भारतीय समाज की अमूल्य निधि है। जनजातीय समुदाय सिर्फ झारखण्ड में ही नहीं बल्कि भारत के अन्य राज्यों में भी इनकी आबादी है। जैसे– बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उ० प्रदेश तथा असम इत्यादि। १९८१ की जनगणना के अनुसार पूरे भारतवर्ष में कुल जनजातियों की आबादी ५१,६२८,६३८ थी। प्रागैतिहासिक काल में झारखण्ड घनघोर वनों से आच्छादित था। यह वनों से आच्छादित होते हुए भी वाह्य जगत से सर्वथा कटा हुआ कभी नहीं रहा। इतिहास गवाह है कि गुप्त शासकों एवं बाद में शशांक को छोड़कर प्राचीन भारत के किसी राजवंश ने इस भाग पर अधिक समय तक राज्य नहीं किया। तुर्क विजेता अपने ३०० वर्षो के शासन काल में इस क्षेत्र को कभी भी आक्रांत न कर सके। मुगल सम्राट भी कभी–कभी यहाँ प्रवेश कर सके। इसके वनों और पर्वतों ने भारतीय आदिम निवासियों को शरण दी जैसे मुण्डा, हो, उराँव, संथाल, चेरो तथा खरवार इत्यादि।

*सहायक प्राध्यापक : हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, जमशेदपुर, झारखण्ड, संपर्क : 09470517960

झारखण्ड राज्य का अस्तित्व प्राचीन काल से है हिन्दूओं के प्राचीन ग्रंथ 'मनुस्मृति' में एक श्लोक है जिसमें झारखण्ड का उल्लेख किया गया है –

अय: पात्रे पय: पानम्
शाल पते च भोजनम्
शयनम् खर्जुरी पत्रें,
झारखण्ड विधिवते।

इस का अर्थ है झारखण्ड के आदमी धातु (पदार्थ) के बर्तन में पानी पीते हैं, शाल के पत्ते में भोजन करते हैं और खजूर के पत्ते की चटाई बनाकर उस पर सोते हैं। श्लोक से प्रमाणित होता है कि झारखण्ड का अस्तित्व प्राचीन काल से है। २००१ की जनगणना के मुताबिक प्रदेश की जनसंख्या २.६९ करोड़ थी। जिसमें जनजातीय आबादी २६.३० प्रतिशत थी। झारखण्ड राज्य 'झार' और 'खण्डों' से घिरा क्षेत्र है। जयपाल सिंह ने पहली बार तत्कालीन बिहार के दक्षिणी जिलो को मिलाकर झारखण्ड राज्य बनाने का विचार रखा था। परिणामस्वरूप लम्बे वर्ष के संघर्ष के बाद १५ नवम्बर २००० में बिहार के १८ जिलों को लेकर भारत के २८ वें राज्य के रूप में झारखण्ड प्रतिस्थापित हो गया।

झारखण्ड अलग राज्य बनाने की माँग को पत्र–पत्रिकाओं में भी प्रकाशित किया गया था। यहाँ के समाचारों पत्रों में सिर्फ राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय खबरे नहीं रहती बल्कि क्षेत्रीय समाचारों को भी उतनी ही प्रमुखता से छापा जाता है। समाचार–पत्र हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुके है। दैनिक समाचार पत्रों में प्रभात खबर, दैनिक जागरण, हिन्दुस्तान तथा दैनिक भास्कर का अपना महत्व है। हाल ही में प्रभात खबर में (इंडियन रीडरशिप सर्वे) की ताजा पाठक सर्वे के मुताबिक २०११ की तीसरी तिमाही में प्रभात खबर ने बिहार में ३७.५६ प्रतिशत नए पाठक जोड़े। तीन प्रमुख शहरों रांची, जमशेदपुर और धनबाद में कुल मिलाकर पाठक संख्या के लिहाज से नंबर वन पर बना हुआ है। दूसरे नम्बर पर हिन्दुस्तान, तीसरे नम्बर पर दैनिक जागरण तथा चौथे नम्बर पर दैनिक भास्कर है। इन पत्रों ने झारखण्ड की सभ्यता संस्कृति, पर्व त्योहारों को समय–समय पर प्रकाशित किया है। खास तौर पर फैसल अनुराग की पुस्तक 'क्षेत्रीय पत्रकारिता के ग्लोबल फलक' में दयामनी बारला जी ने प्रभात खबर के संबंध में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है। वह कुछ इस प्रकार है– ''१९८८–८९ के दौरान कुछ, खबरें लेख, कहानियाँ, कविताएँ, मुंडारी सादरी में छपती थीं जो प्रभात खबर पढ़ने के लिए प्रेरित करती थीं।'' १९९२–९३ में जब पलामू, गुमला की जनता नेतरहाट फील्ड फायरिंग के खिलाफ लगातार सत्याग्रह आंदोलन कर रही थी। तब वरिष्ठ पत्रकार फैसल अनुराग की एक बड़ी खबर प्रभात खबर में छपी थी– 'नेतरहाट के टुटआ पानी में अपने अस्तित्व की रक्षा में सरजोम की तरह तने हैं आदिवासी।' 'प्रभात खबर' जो अखबार नहीं आंदोलन कहा जाता है इसके संबंध में स्व० सुरेश सिंह जो विश्व के जाने माने मानव वैज्ञानिक और बिरसा मुंडा के जीवनी लेखक हैं– की महत्वपूर्ण टिप्पणी है इसके संबंध में : 'यह एक ऐसा अखबार है जिसके भीतर की संजीदगी विभिन्न मुद्दों के प्रति संवेदनशीलता, आदिवासी, नारी, पर्यावरण और ज्वलंत मुद्दो के तथ्यपूर्ण तथा आंकड़ों के साथ प्रस्तुतीकरण ने मुझे आकर्षित किया है।'

झारखण्ड संस्कृति काफी समृद्ध है यहाँ के पर्व त्योहारों की अपनी विशेषता है। हाल ही में 'टुसू' पर्व मनाया गया है। 'दैनिक भास्कर' में अश्विनी पंकज जी का महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था। जिसमें 'टुसू' को झारखण्ड का स्त्री लोक पर्व कहा गया है। यह पंचपरगना इलाके के आदिवासी और सदानों का एक प्रमुख त्योहार है। जब नई फसल और नया अन्न खलिहान से घर आ जाता है तब इस पर्व की शुरूआत होती है। ''टुसू देवी'' के संबंध में लोक मान्यता है कि मुगल काल में जमींदार की बेटी थी टुसू, जिस पर नवाब की निगाह पड़ गई। नवाब का रूख देखकर टुसू ने संथाल आदिवासियों के गांव में पनाह लिया। संघर्ष के दौरान अपनी लाज बजाने के लिए सुवर्णरेखा नदी में कूद पड़ी। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस लोक–पर्व में चाहे मिथकीय पात्र टुसू हो, 'अन्न' हो या फिर नदी, सभी सृजन पालन–पोषण धन–धान्य के प्रतीक हैं। झारखण्डी समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है कि यहाँ लैंगिक भेदभाव नहीं है एक प्रकार से यह स्त्रियों को समर्पित लोक पर्व है।

सिर्फ अखबारों में ही नहीं बल्कि झारखण्ड में प्रकाशित होने वाले कई ऐसे पत्र हैं जिसमें झारखण्डी संस्कृति को बड़ी प्रमुखता से प्रकाशित किया गया है। रांची से प्रकाशित ''नारी–संवाद'' के ७९–८० अंक जो कि झारखण्ड की आदिवासी महिलाओं पर केन्द्रित था, में 'उराँव जनजातीय महिलाओं की शौर्य गाथा पर' महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें खास तौर पर 'जनी शिकार' विषय में बताया गया था। यह शिकार बारह वर्षो में एक बार मनाया जाता है। भारतीय समाज में शिकार या आखेट में पुरूषों का एकाधिकार ही माना जाता रहा है, लेकिन इस जनजातीय परम्परा 'जनी शिकार' में महिलाएँ पुरूष वेश धारण करके पारंपरिक अस्त्र–शस्त्र से सुसज्जित होकर शिकार करने निकलती हैं। उराँव महिलाएँ सामूहिक गीत गाती हैं–

बारह बछरे राजा जनी शिकार
बइनी का मूड़े राजा पगरी बंधाए
नाम जगाले राजा जनी शिकार
बईनी का मुड़े राजा पगरी बंधाए
गोड़े घुंघँरू हाथ तीखारी

गाँव, जगह, टोला से गुजरते हुए मार्ग में आने वाले पशुओं बकरी, मुर्गा, सूअर, खरगोश आदि का अति उत्साह से पुरूष वेश में हर उम्र की स्त्रियाँ शिकार करती हैं। इसमें पुरूषों का भाग लेना वर्जित है। इस संबंध में कई पारम्परिक गाथाएं प्रचलित हैं। 'जनी शिकार' कब और क्यों शुरू हुआ! इस विषय पर इतिहासकारों में भी मतभेद हैं। पारंपरिक गाथाओं में जिक्र है कि रोहतासगढ़ के किले पर मलेच्छों एवं हाकिमों के छल से विजय हासिल की थी। इसी आधार पर मुगल सेनापति की नजर रोहतासगढ़ के किले पर थी और आक्रमण भी किया था। लेकिन उराँवों ने मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। दूसरी बार में मुगल असफल रहे। जब मुगल सेना ने सरहुल पर्व के समय आक्रमण किया तब पुरूष नशे में धुत थे, ऐसे समय में ही उराँव महिलाओं ने पुरूषों का वेश धारण कर मुगलों से युद्ध किया। तीसरी लड़ाई में इन्हें जीत मिली जिसमें बारह वर्षो का समय लगा। इसी शौर्यगाथा की 'जनी शिकार' पर्व के रूप में मनाया जाता है।

'नारी संवाद' में आदिवासी संस्कृति और साहित्य में महिलाएँ इस लेख में जनजातीय

समुदाय के शादी–विवाह के संबंध में बताया गया है। कुछ बातें भारत की सभी जनजातियों में समान हैं। दहेज प्रथा का न होना तथा लैंगिक भेदभाव जनजातीय समुदाय में नहीं है। एक साथ उत्सवों में भाग लेना, नाचना गाना इत्यादि। ये सुविधाएँ और अधिकार भारतीय परंपराओं में किसी धर्म में स्त्रियों को प्राप्त नहीं है।

आदिवासियों में तो पुरूष को ही वधू के लिए वधू मूल्य की राशि देनी पड़ती है। तभी उसकी शादी हो सकती है। इसे झारखण्ड में ''पौन प्रथा'' कहते हैं।

झारखण्ड का अधिकांश भू–भाग जंगलो से घिरा हुआ है। ''साल'' के वृक्ष बहुतायात में पाए जाते हैं। यह झारखण्ड का राजकीय वृक्ष है। आदिवासी संस्कृति में साल वृक्ष का अपना महत्व है। संथाली लोग साल वृक्ष को मंदिर मानते हैं और साल वृक्ष के नीचे ही बैठकर पूजा–पाठ करते हैं। संथाली इस पूजा स्थल को ''जाहेर थान'' कहते हैं। इसके महत्व का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है। इस वृक्ष के बिना पूजा–पाठ और शादी–विवाह ही नहीं कर सकते हैं। 'साल' वृक्ष के नीचे पूजा करने के पीछे लोक कथा प्रचलित है। पिलचु हड़ाम और पिलचु बूढ़ी को जानवर तंग करने लगे। ऐसी स्थिति वे सोचने लगे की वे कहाँ रहें? उसी समय मरांग बुरू (ब्रह्मा) के वीर धनुष से पिलचु हड़ाम ने तीर चलाया तो वह तीर शाल वृक्ष के नीचे ही गिरा इसी समय से संथाली लोग जाहेर थान या साल वृक्ष की पूजा करते हैं।

दैनिक पत्रों में कई ऐसे क्षेत्रीय समाचार को जगह दिया जाता है जो जनजातीय समुदाय की सभ्यता संस्कृति से जुड़े रहते हैं। इन समाचारों के अलावा समाचार पत्रों में कई ऐसे जीवन्त समस्याओं को दिखाया गया है जिससे जनजातीय जीवन प्रभावित हो रहे हैं। रोजगार के लाभ पर कई भोली–भाली लड़कियाँ फुसलायी जाती हैं। आईएसआई दिल्ली ने अपने सर्वेक्षण में पाया कि दिल्ली में आदिवासी घरेलू महिला कामगार हैं। यदि इन महिलाओं का जिलावार वर्गीकरण करें तो पायेंगे कि सिमडेगा से ३९.८८ प्रतिशत गुमला से २८.३५ प्रतिशत रांची से २३.९८ प्रतिशत, लातेहार से २.१८ प्रतिशत लोहरदग्गा से ०.३१ प्रतिशत पलामू से ३.७४ प्रतिशत, सिंहभूम से ०.३१ प्रतिशत महिलाएँ दिल्ली में आया का काम करती हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या इसके लिए सिर्फ झारखण्ड समाज दोषी है ? उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ की आदिवासी पट्टी में कृषि की गिरावट के कारण बेरोजगारी की समस्या बढ़ती जा रही है। यही बेरोजगारी इन्हें अपने क्षेत्रों से पलायन के लिए विवश कर रही है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है सरकार की योजनाओं को सही रूप में क्रियान्वित किया जाए, ताकि इस तरह की घटनाओं की पुनरावृत्ति भविष्य में ना हो।

१९ नवम्बर २०१० के प्रभात खबर में 'झारखण्ड की अनुसूचित जातियों के बीच विकास का अभाव' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण लेख का प्रकाशन हुआ था। इसमें झारखण्ड की गरीबी और पिछड़ापन को बखूबी प्रस्तुत किया गया। झारखण्ड की ४५ प्रतिशत से अधिक आबादी गरीबी रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रही है। यहाँ गरीबी बिहार से ज्यादा है। झारखण्ड के कई आदिवासी समुदायों की साक्षरता दर और शैक्षणिक स्तर निराशाजनक है। साथ ही साथ इस समुदाय में स्वास्थ्य संबंधी कई कमियाँ देखी जा सकती है। १९९८–९९ के आकड़ें बताते हैं कि ४१.१ प्रतिशत वयस्क महिलाएँ कुपोषित हैं, ५४.३ प्रतिशत महिला कम वजन की शिकार हैं।

२५.४ प्रतिशत बच्चों का वजन उनकी ऊँचाई की तुलना में कम है। इन आंकड़ों को देखने से जनजातीय समुदाय की स्थिति का बेहतर अंदाजा लगाया जा सकता है।

झारखण्ड राज्य बनने से पहले पत्रकारिता के इतिहास में इसे अविभाजित बिहार के क्षेत्र का मरूस्थल की संज्ञा मिली हुई है। इसका कारण पत्रकारिता—संस्कृति का समृद्ध नहीं होना या नहीं होने देना। वर्त्तमान की पत्रकारिता और झारखण्ड राज्य बनने के पहले की पत्रकारिता में एक बड़ा अन्तर निश्चित रूप से है। झारखण्डी पत्रकारिता को प्रोत्साहन नहीं मिला है। इसके विपरीत विस्थापन, पलायन और मानव निर्मित भुखमरी की उप—संस्कृति को खूब परोसा गया है। स्वतंत्रता के बाद कई पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। 'मुण्डारी' पत्रिकाओं में नितिर सकम, जगर बड़ा, सरना सकम, सम्पड़तिड., मरसल, सवड़ और उलगुलान का प्रकाशन बंद हो चुका है। उसी प्रकार 'हो' भाषा मे सेया मरसल, तुरतुड़, कुडुख भाषा की धुमकुड़िया, कुडखन, कुडुख कत्थ खोडहा, बिज बिनको तथा खड़िया भाषा में तारदी के प्रकाशन बन्द हैं। इनकी सुधि लेने वाला कोई नहीं है। अविभाजित बिहार राज्य की भाषा नीति फाइलो में दबी रह गयी।

झारखण्डी पत्रकारिता प्रारंभिक अवस्था में है, जिसे आज अनेकों चुनौतियों का सामना करना है। समस्या में उलझे रहने से ज्यादा बेहतर होगा कि इससे निकलने का प्रयास किया जाए, तभी झारखण्ड की सभ्यता संस्कृति पत्र—पत्रिकाओं के माध्यम से जीवित रह सकेगी।

सन्दर्भ :

१. हिन्दी पत्रकारिता : स्वरूप एवं संदर्भ — विनोद गोदरे ।
२. हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयम — वेद प्रताप वैदिक
३. क्षेत्रीय पत्रकारिता के ग्लोबल फलक— फैसल अनुराग
४. उराँव संस्कृति परिवर्तन एवं दिशाएं—डॉ० शान्ति खलखो।
५. नारी— संवाद।
६. झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति : अखड़ा
७. झारखण्ड विरासत—कॉ० अलबिनुस मिंज
८. प्रभात खबर।
९. दैनिक भास्कर।

झारखण्ड में दीवारों पर उकेरी जाने वाली एक चित्रकला । इसमें प्रायः झारखण्ड की आदिवासी स्त्रियाँ दक्ष होती हैं । (साभार-इन्टरनेट)

संस्कृति–समाज

आदिवासी विरासत

*मित्रेश्वर

वह समुदाय, जो आदिकालिक और प्राचीन परम्पराएँ, अपने पारिवारिक–सामाजिक जीवन में, व्यवहार करता है; आदिवासी है। जन्म से मृत्यु तक चलने वाले संस्कार, ऋतुओं के आधार पर होने वाले उत्सव, पारिवारिक और सामुदायिक रीति–रिवाज, प्रणाली की पारम्परिकता, आदिवासी होना निर्धारित करते हैं। जहाँ विरासत संरक्षित है वह आदिवासी, जिन समुदायों ने निरंतर अपनी मान्यताएँ– प्रणाली–जीवन दर्शन, मन–वचन–कर्म में बदलाव जारी रखा वह, गैर आदिवासी। फर्क स्वभाव, सोच और आचार में स्पष्ट होता है। आदिवासी समुदायों का बदलाव बहुत मंथर गति से हुआ। इन समुदायों में प्रचलित व्यवहार में प्राचीन सोच दिख जाते हैं। संचित विरासत आज आदिवासी समुदायों की पहचान है। भारत का इतिहास आदिवासी और गैर आदिवासी समुदायों से निर्मित है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में आदिवासी समुदायों के लिए असुर, दस्यु, निषाद, राक्षस, वानर, भालू जैसे नाम दिए गए। यह समस्त जातियाँ आर्यों के आने के पूर्व भारत में निवास करती थीं। आर्यों के आने के बाद वे सुरझा के लिए पहाड़ी दुर्गम क्षेत्रों में क्रमश: बसीं। इन निवासियों का एक भाग आर्य–समुदाय का अधीनस्थ अंग बना और दूसरा भाग विस्थापित होकर जंगलों में जाकर बसा। आर्य आधिपत्य स्वीकार नहीं किए जाने के कारण उनके लिए संस्कृत साहित्य (आर्य साहित्य) में अपमानजनक, घृणा और भय मिश्रित भाव व्यक्त किए गए। अक्सर इन्हें पशु अथवा मानवेतर दिखाया गया। दिलचस्प यह है कि विजेता आर्यों ने इन्हें मानवेतर और अमानवीय चित्रित किए मगर, इनकी उपलब्धियों से वे मुग्ध, प्रभावित और प्रेरित हुए। शीघ्र ही उनकी मान्यताएँ बौद्धिकता, कौशल और ज्ञान आर्य सभ्यता में सम्मिश्रित होने लगे।

डा॰ रामदयाल मुण्डा ने लिखा है– ''जीत में हार और हार में जीत का एक विचित्र सम्मिश्रण हम यहाँ देखते हैं।'' उन्होंने यह भी लिखा कि ''विजेताओं और विजित के सम्बन्ध भारतीय परम्पराओं में इतने कटु नहीं हैं जितना कि हम अन्यत्र देखते हैं।'' इसे हम भारतीय परम्परा की गरिमा ही कह सकते हैं। मानवीय इतिहास का एक विद्रूप सत्य यह है कि आज भी जय – पराजय का निर्धारण मारक शक्तियाँ करती हैं। विजेता वह जिसकी तलवार में ज्यादा दम। पशु– समाज की तरह, जीत उसकी जिसके पास युद्ध की क्षमता अधिक। इसीलिए, इतिहास की एक विवादास्पद अवधारणा है कि ''सभ्यता'' बर्बरता के आगे हारती है, श्रेष्ठता शस्त्रों का सामना नहीं करती– भागती–छुपती या पिटती है। भारतीय इतिहास में यह अवधारणा अक्सर प्रमाणित होती है। सभ्यताएँ अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता के बावजूद हारती रहीं।

भारत भूमि पर प्रस्तर युग से मानवीय जीवन की निरन्तरता बनी है। प्राक् इतिहास और पुरा इतिहास के युगों में सामुदायिक जीवन के क्रमिक विकास के प्रमाण हैं। सैंधव सभ्यता के पूर्व भारत के विभिन्न अंचलों में विकासमान जीवन के साक्ष्य हैं। यह सब उस सभ्यता से प्राचीनतर है जिसका विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। स्मरणीय है कि वैदिक साहित्य आर्येतर समुदायों ने लिपिबद्ध किया। कृषक और पशुपालक आर्य लेखन से अपरिचित थे। जिन दिनों ब्रह्मवर्त्त के बाद आर्यावर्त्त और उत्तरापथ में वैदिक सभ्यता स्थापित हुई उन दिनों भारत के बड़े हिस्से पर अवैदिक अनार्य आदिवासी समुदाय थे। उनकी लिपि थी। लिखित और मौखिक स्रोतों के गंभीर विश्लेषण और संग्रह के अभाव तथा पुरातात्विक स्रोतों की अनुपलब्धता और अनुसंधान के अभाव में आदिवासी समुदायों की गौरव गाथा आज भी अनुपलब्ध है। हमारी सूचनाएँ आर्य साहित्य में यत्र–तत्र प्रसंगवश आए तथ्य हैं जिन्हे विकृत करके प्रस्तुत किया गया। आदिवासी समुदायों के रीति–रिवाज लोक कथाएँ, मान्यताएँ, विश्लेषण के बाद प्राचीन युग को अनावृत्त कर सकेंगे। अभी अवधारणाएँ पुख्ता प्रमाण की प्रतीक्षा कर रही हैं। आर्य और इतर परम्पराओं का सम्मिलन हुआ। शीघ्र ही ऐसी स्थितियाँ बन गईं जिनमें वैदिक प्रभाव कम होने लगे। जो आर्येतर समुदायों में विकसित हुई थी वे आर्यों ने स्वीकार कीं। आदिवासी समुदायों में वे प्राचीन तत्व दिख जाते हैं। विरासत को सहेज कर रखना आदिवासी स्वभाव है। मूल भारतीय परम्परा की वे निधियाँ आर्यों ने स्वीकार की। घाटियों–पहाड़ियों में उसका एक हिस्सा आज भी संरक्षित हैं। आदिकालिन भारत आदिवासी समुदायों में बचा है। वैश्वीकरण–उदारीकरण– बाजारीकरण के दौर में वह विरासत जीवित रखना एक चुनौती है। मगर, उसका क्षरण भारतीयता का विलोपन होगा–यह आशंका निराधार नहीं।

मिथकीय संदर्भ–

वेद लिखे नहीं गए, श्रुति परम्परा से कण्ठस्थ रह कर शताब्दियों तक चलते रहे। याद रखने की मुश्किलें बढ़ने पर उन्हे लिपिबद्ध किया गया। आदिवासियों के समूह “गण'' थे। इन गणों के प्रधान थे। संस्कृत में इन्हें गणेश, गणनायक आदि कहा गया। इस गणेश की आदिवासी परम्परा में बहुत संदेह नहीं हो सकता, खास कर, गणेश–विग्रह के रुप–रंग–आकार को समझकर। गणेश द्वारा लिपिबद्ध वाङ्मय स्वत: आदिवासी परम्परा से संयुक्त हो गया।

वैदिक आर्यों के अनेक देवता असुर माने गये। इन्द्र, वरुण, अग्नि समेत अनेक देवता असुर अभिहित हैं। ईरान का 'अहुर' और भारत का 'असुर' एक ही उद्‌गम के शब्द हैं। असुर शब्द के मूल अर्थ में भी मतैक्य नहीं है। एक व्याख्या है– (केनापि) सुरेन अशासिता– असुरा: – 'वह समुदाय जो सुर के द्वारा शासित नहीं होते।' सुर अगर आर्य को माना जाए तब, अर्थ हुआ– 'आर्य सत्ता अस्वीकार करने वाले असुर।' आदिवासी समुदायों को असुर वर्ग में समझा जाता है। संस्कृत ग्रंथों में इन्हें दस्यु कहा गया। जो दस्यु अधीनस्थ हो गए उन्हें 'दास' कहा गया।

आर्यों ने भारतीय समुदायों से शीघ्र ही प्रभाव ग्रहण करना शुरू किया। अथर्ववेद का एक बड़ा हिस्सा आर्येतर सामग्री है। ''मुण्डक'' और 'ऐतरेय' उपनिषद आदिवासी परम्परा से आए। मुण्डा भाषा परिवार के अनेक शब्द आर्य भाषा में स्वीकार किए गए। आज भी संस्कृत के अनेक शब्द आदिवासी भाषाओं से लिए गए हैं।

इतिहास सैंधव सभ्यता को 'वैदिक सभ्यता' से पूर्वकालिक मानता है। सैंधव सभ्यता

*विजय कुटीर कैम्पस, कॉलेज रोड, घाटशिला, झारखण्ड, मो॰ 9430746111

का स्थायी और व्यापक प्रभाव आर्य जीवन के प्रत्येक पक्ष पर पड़ा। जल, नाग, वृक्ष की पूजा ही नहीं स्वस्तिक चिह्न तक सैंधव सभ्यता पूर्व की हैं। 'प्राक्—हड़प्पा संस्कृति में बस्तियाँ बच गई थीं और ताम्र पाषाण युग का उत्थान बलूचिस्तान, सिंध, राजस्थान क्षेत्रों में हुआ। प्राक्—हड़प्पा संस्कृति के निर्माताओं का एक भाग प्रोटो—आस्ट्रोलायड प्रजाति थी जिसके वंशधर झारखण्ड की अधिकांश जनजातियाँ हैं। इस प्रजाति ने प्रथम भारतीय नगर संस्कृति सैंधव सभ्यता का निर्माण किया।

कई प्रजातियाँ सैंधव सभ्यता की निर्माता थी। हड़प्पा संस्कृति के पतन के बाद भी उस सभ्यता के प्रमाण सारे भारत में प्राप्त हैं जो वैदिक आर्य सभ्यता से भिन्न हैं। छोटानागपुर में कई स्थानों पर वह विद्यमान रहीं। भारत में वैदिक आर्यों के आगमन के बाद एक समन्वित सभ्यता का निर्माण हुआ। समन्वय का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल में शुरू हुआ जो क्रमश: तीव्र हुआ। भारत महामानव समुद्र का निर्माण विभिन्न धाराओं के निर्माण से हुआ— आग्नेय, किरात, द्रविड़, आर्य आदि—आदि। वह विरासत सत्यत: भारतीय संस्कृति का मूलाधार और अधिकांश है।

वैदिक साहित्य के संदर्भ :

वैदिक साहित्य में स्थानीय जातियों के साथ आर्यों के संघर्ष के वृत्तांत हैं। उनके बल—विक्रम और भौतिक उन्नति का उल्लेख है। उनकी बौद्धिक उपलब्धियों की चर्चाएँ हैं। कथाओं में उनके वैभव, नगर, व्यापार और संसाधनों का उल्लेख है इस तथ्य के बावजूद कि वे अनार्यों— असुरों — दस्युओं के प्रति विद्वेषपूर्ण थे। ज्ञान—विज्ञान की श्रेष्ठता को अंगीकार करने में आर्यों ने अधिक देर नहीं की। इसी क्रम में ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ बना। डा॰ राम दयाल मुण्डा ने बताया कि मुण्ड पुत्र ने इसकी रचना की होगी। विद्या—अविद्या, जीवात्मा—परमात्मा, ब्रह्म विद्या और भगवद् भक्ति की बातें वन्य जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाई गईं। ऐतरेय उपनिषद में वर्णित सृष्टि कथा मुण्डा समुदाय में प्रचलित कथा के अनुरूप है। छांदोग्य उपनिषद के 'सत्यकाम—जाबाल' को डा॰ मुण्डा आदिवासी माँ की संतान मानते हैं। वैसे, इन अनुमानों का आधार प्राप्त करना हमेशा असंभव होगा।

आर्य और आदिवासी संस्कृति — सभ्यता में कई मूलभूत फर्क हैं। आर्य यज्ञ करते थे। हवन आदि का विस्तृत आयोजन होता था। पशु बलि होती थी। सोम और सुरा का प्रयोग आम था। इसके विपरीत अनार्य तप, ध्यान, योगादि करते थे। कथाओं में आर्यों के द्वारा तपस्या भंग करने और असुरों द्वारा यज्ञ विघटित करने के असंख्य विवरण हैं। यज्ञों का विरोध आम तौर पर बढ़ा। छठी सदी ईस्वी पूर्व के सैकड़ों धार्मिक—सामाजिक सुधार आन्दोलन वैदिक परम्पराओं और उसकी पतनशीलता के विरूद्ध हुए। वैदिक आर्य सभ्यता मूलत: आनंदवादी सांसारिक सभ्यता थी। नए सम्पर्क में यज्ञों का महत्व कम हुआ, तप और साधना की प्रवृत्ति बढ़ी। जैन, बौद्ध, आजीवक जैसे सम्प्रदाय अनार्य मेधा के प्रभाव से तैयार हुए थे। छोटानागपुर में पार्श्वनाथ सहित पूर्ववर्त्ती बीस तीर्थंकरों का तपस्या क्षेत्र रहा। ब्रह्मविद्या भी आर्यों ने अनार्यों से प्राप्त की।

पौराणिक प्रसंग :

महाभारत और रामायण महाकाव्यों में अनार्य आदिवासी भूमिकाएँ वर्णित हैं। आर्यों—अनार्यों के बढ़ते वैवाहिक सम्बन्धों की खासी चर्चा है। कौरवों के पक्ष में मुण्डा सैनिक

सम्मिलित हुए थे। छोटानागपुर की विभिन्न जातियों में आज भी जयद्रथ, दुर्योधन, दु:शासन, रावण विभीषण आदि नाम खासे लेकप्रिय हैं। पाण्डवों के इन समुदायों के साथ घनिष्ठ रिश्ते बने थे। महाकाव्यों के युग में आर्यों के देवमण्डल में बहुत अंतर आ गया। वैदिक देवता गौर वर्ण के होते थे अब सांवले और काले वर्ण के देवताओं का मान बढ़ा। राम, कृष्ण, सहित अनेक अन्य, गौर वर्ण नहीं रह गए। देव—देवियों के रंग से उनका मूल समझा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में कृष्ण गैर हाजिर हैं। उपनिषद में एक छात्र के रूप में कृष्ण का उल्लेख है। उसकी लीलाएँ और बाल्यावस्था, किशोरावस्था की कथाएँ आदिवासी जीवन पद्धति से मेल खाती हैं। भागवत पुराण की कथाएँ आदिवासी जीवन में सुपरिचित हैं। वैदिक जीवन में वैसी कृष्ण लीलाओं को स्वीकृति नहीं मिली थी।

राजा बलि को अनार्य मानना युक्तिपूर्ण है। रामायण में वर्णित वानर—भल्लुक—जटायु आदि आदिवासी समुदायों के हैं। इन समुदायों में नल और नील जैसे अभियंता और सुषेण जैसे वैद्यराज थे। चिकित्सा और अभियंत्रता में अनार्य असुरों की उपलब्धियों का विवरण संस्कृत साहित्य में प्रचुर है। एक वास्तु शिल्पी के रूप में मय दानव की चर्चा सर्वत्र है। असुरों के भवन और नगर निर्माण कला, नागलोक की चर्चा आर्यों को अभिभूत करती थी।

रामजन्म के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ श्रृंगीऋषि ने कराया। श्रृंगी अपने जटा—जूट में सींग की बनी कंघी रखते थे। आज भी आदिवासी समाज में लम्बे केश में कंघी रखना देखा जा सकता है।

मुण्डारी भाषा में एक 'जादुर' गीत है। इसमें कहा जाता है ''हमने हल चलाते समय इसे पाया था, हम इसे सीता नाम ही देगे।'' सीता शब्द संस्कृत मूल का नहीं है। मुण्डारी भाषा में सीता का अर्थ हल चलाना है। यह अर्थ सीता के जन्म की कथा से मेल खाता है। कुछ विचारक जनक को भी आदिवासी परम्परा का मानते हैं जो राजा बन कर भी हल चलाते थे। राम—रावण युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिक आदिवासी थे। द्रविड़ समूहों का एक वर्ग राम के विरूद्ध था। महाराष्ट्र और निकटवर्त्ती क्षेत्रों की 'कोरकू' जाति रावण की पक्षधर थी। उनके लोक गीतों में आज भी रावण को सुन्दर राजकुमार कह कर सम्बोधित किया जाता है। भाषाविद् राम दयाल मुण्डा कुड़ुख भाषी उराँव के सम्बंध रावण से होने की बात कहते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से वे रावण और उराँव शब्दों की निकटता इंगित करते हैं। इसी प्रकार राम के पक्ष में भी आदिवासी जातियाँ थी जिन्हें वा—नर कहा गया। सहयोगी के लिए भी विकृत नाम देना आर्य परम्परा में कुछ नया नहीं। हनुमान, कुम्भकर्ण, विभीषण, मंदोदरी, रावण जैसे नाम प्रशंसात्मक नहीं थे। ऐसे आदिवासियों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा 'हनुमान' को मिली। अपनी भूमिका से वे संस्कृति के एक आदर्श और पूज्य हुए। बालि, सुग्रीव, जाम्बवंत, अंगद आदि भारतीय जनमानस के स्थायी धरोहर हैं। इनका पशु रूप में वर्णन और अनुपम कौशल का स्वीकार आर्य मानसिकता के द्वन्द्व का प्रमाण है। वानर की श्रेष्ठता भी मानी और पशु भी बताया।

निषाद अनार्य थे। महापण्डित कृष्ण द्वैपायन 'वेद—व्यास' की माता निषाद पुत्री थी। काले होने के कारण वे कृष्ण अभिहित हुए। वेदव्यास के अनार्य सम्बन्ध, आर्यो के धर्म और सिद्धांत में भारी बदलाव के करण हो सकते हैं। गणेश द्वारा लेखन का कार्य इसी कृष्ण द्वैपायन ने किया था जो आर्य—अनार्य मेघा के सेतु प्रतीत होते हैं।

एक अद्‌भुत आदिवासी चरित्र है 'एकलव्य' का। गुरू द्रोण ने उसे शिष्य बनाना अस्वीाकर किया था। द्रोण का जन्म 'द्रोण' (दोने) से होने का मिथक है। अंगूठे का दान करने के बाद आज भी वह आदिवासी समुदाय धनुष संचालन में अंगूठे का प्रयोग नहीं करता।

अनेक ऐसे प्रसंग उल्लेख्य हैं। शबर स्वामी ने मीमांसा दर्शन की विशद व्याख्या की। वे ऋषि– उत्कल प्रदेश में निवास करने वाली शबर (मुण्डा भाषा परिवार) जाति से सम्बंधित होंगे। शबर स्वामी का दर्शन भारतीय मेधा की विशिष्ट उपलब्धि है।

पतंजलि के योग सूत्र में आदिवासी प्रभाव स्पष्ट हैं। स्वयं पतंजलि ने अपने इंद्रिय संयम और ब्रह्म दर्शन को 'प्रेत दर्शन' नाम दिया था। योग और इससे सम्बंधित क्रियाएँ वैसे भी, वैदिक स्वभाव के विपरीत थी जिसे पतंजलि ने स्थापित– स्वीकृत कराया।

पौराणिक युग में वैदिक प्रभाव विलीन होने लगे थे। महादेव शिव के विविध रूप स्थापित हुए जिनमें अनार्य प्रभाव स्पष्ट था। प्रजनन शक्तियों की पूजा अथवा लिंग और योनि पूजा असंदिग्ध रूप से आदिवासी प्रभाव हैं। मातृशक्ति के रूप में काली, श्यामा, पार्वती, छिन्न मस्ता आदि अपने रूप–रंग में अवैदिक हैं। पूजा की पद्धतियों में बदलाव आदिवासी प्रभाव है।

आदिवासी देवताओं, पूजा पद्धतियों और आचारों का हिन्दू धर्म में निरंतर प्रवेश होता रहा। प्रत्येक क्षेत्र और समुदायों के देवता स्वीकार किए गए। जगन्नाथपुरी के देवता और वैद्यनाथ के आदिवासी सम्बन्ध उन हजारों में ज्यादा लोकप्रिय उदाहरण हैं। प्रत्येक जनपद में ऐसे ग्राम देवता हैं। कुल देवता और ईष्ट देवताओं में इन्हें स्वीकार किया गया। प्रचलित हिन्दू धर्म का अधिकांश, मूल रूप से अनार्य समाज से आयातित है।

बौद्धिक विरासत :

आर्यों और आदिवासियों का समन्वय जीवन के प्रत्येक पक्ष में हुआ। संस्कृत के अनेक शब्द आदिवासी भाषाओं के हैं। आदिवासी भाषाओं में संस्कृत मूल के शब्दों की भरमार है। आयुर्वेद के ऋषि धन्वंतरि अपने शिष्य को दीक्षांत के समय बताते हैं कि ''वैद्यक का जो भी ज्ञान मैंने तुम्हें बताया है वह तत्सम्बंधी ज्ञान का अल्पांश ही है। यदि तुम इससे भी ज्यादा जानना चाहते हो तो वनवासियों के पास जाओ, वे तुम्हारी ज्ञान पिपासा को तुष्ट करेंगे''। आदिवासी समुदायों में व्यवहार और मौखिक परम्परा से संरक्षित वैद्यक सम्बंधी ज्ञान का संग्रह और विश्लेषण विज्ञान की विशाल सम्पत्ति बन सकती है।

संस्कृत साहित्य में आदिवासियों से सम्बंधित प्रसंग प्रचुरता से उपलब्ध हैं। वाणभट्ट की 'कादम्बरी' ऐसी एक विशिष्ट रचना है। इन पुस्तकों में अक्सर उन दृष्टांतों का उल्लेख है जो स्थानीय परम्परा में थीं और आर्य सभ्यता के विस्तार में भी बनी रहीं। तभी यह धारणा बनती है कि– ''भारतीय संस्कृति अनार्यों के संस्कृतिकरण से अधिक आर्यों के अनार्यीकरण की कहानी है।''

आदर्शों की विरासत :

वर्त्तमान भारतीय दर्शन, भाषा, राजनीतिक–सामाजिक संगठन, जीवनादर्श में वैदिक परम्परा से अधिक अनार्य पद्धति और विचारों का योगदान है। उपनिषद काल के बाद जो नए सामाजिक–राजनीतिक आदर्श बने उन पर अनार्यों का प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध सिद्धांतों में जो

समानता और प्रजातांत्रिक तत्व दिखाई पड़ते हैं वह कतई वैदिक नहीं। गौतम बुद्ध के आदर्श समाज की कल्पना आर्येतर है। लोभ से मुक्ति, सम्पत्ति से गरीबी का जन्म, सामाजिक उत्पीड़न और सदैव संघ का कल्याण आदिवासी समुदाय के तत्व हैं। आदिवासी परम्पराओं का विस्तार बुद्धकालीन गणों में दिखता है। बौद्ध संघ की परिकल्पना का वह आधार था। समानता, जन–सापेक्षता और सबके लिए समभाव वर्ण–विभक्त समाज और स्तरीकृत व्यवस्था में सर्वथा अपरिचित थे। इन्हें आदिवासी जीवन से पाया गया।

आदिवासी शासन में मनुष्यों के बीच मौलिक समानता, मूल तथ्य है। इसमें आर्थिक दोहन और लूट की जगह नहीं। वह प्रवृत्ति गैर आदिवासी है। आदिवासी मनीषा चर–अचर, जीव–निर्जीव, प्रकृति–मनुष्य में सह जीवन का आदर्श मानती है। सभी का आदर, सब के प्रति कृतज्ञता सभी के अस्तित्व की फिक्र। सभी मिल कर और सदैव साथ रह कर सृष्टि को पूर्ण करते हैं। यह भाव आर्यों के लिए मान्य नहीं था जो गुण और वर्ण, ज्ञान और कौशल, सामर्थ्य और वंश के आधार पर भिन्नता को मानते थे। आर्य परम्परा में ऊँच–नीच का भाव खत्म नहीं होता। वंशानुगत विशेषाधिकार आदिवासी स्वभाव नहीं है। जातिवादी स्तरीकृत समाज वैदिक हैं। भेद–भाव और स्तरीकरण आदिवासी विचार नहीं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति और इसके निरंतर सम्वर्द्धन की आकांक्षा आदिवासी भाव नहीं है। जमाखोरी, मुनाफाखोरी कालाबाजारी, किसी भी प्रकार निजी सम्पत्ति का विस्तार, इनकी आकांक्षा नहीं। जिस तरह हवा पर सबका समानाधिकार उसी तरह जल–जंगल–जमीन पर अधिकार, सामुदायिक श्रम विभाजन यहाँ प्रचलित व्यवस्था है मगर आजीविका और कर्म के आधार पर छूत–अछूत नहीं होता, छोटा–बड़ा भी नहीं। किसी कार्य विशेष के लिए अवहेलना का भाव नहीं।

वे मानते हैं कि ''प्रकृति मनुष्य का सम्पोषण करती है और मनुष्य प्रकृति का।'' प्रकृति पर आधारित जीवन दर्शन आदिवासी विरासत है। आदिवासी बोध में यह सत्य धार्मिक भावों की तरह घुला है। प्रकृति का शोषण और दोहन इनके संस्कार में नहीं। प्रकृति से उतना ही लेते हैं जितने से वह सुरक्षित और जीवित रहें। प्रकृति को निरंतर उतना दें ताकि वह जीवंत और अक्षुण्ण रहे। पर्यावरण संरक्षण आदिवासी पद्धति का आदर्श है।

संसार के सभी हिस्सों में आदिवासी समुदाय हैं। सभी में मूलभूत समानताएँ दिखेंगी। मसलन, आदिवासी समुदाय साम्राज्य नहीं बनाता। कहीं स्थायी सेना नहीं होती। क्षत्रियों की तरह युद्ध और शस्त्रधारण, आजीविका और वृत्ति नहीं होती। वे राजमहल और किलेबंदी में कोई रूचि नहीं रखते। समाज की सम्पत्ति का उपयोग शासक के निजी उपयोग में नहीं होता। सामुदायिक वैभव राजपुरुषों के विलास की वजह नहीं होती। आदिवासी मानसिकता में युद्धों की कोई जगह नहीं। आक्रमण कर विध्वंस सृजित करने और नर संहार की प्रवृत्ति नहीं। व्यक्तिवादी–पूंजीवादी–साम्राज्यवादी परिवेश में यह सब आदर्श स्थिति प्रतीत होती है– मौलिक साम्य का सिद्धांत और व्यवहार वहाँ झलक सकता है। सह अस्तित्व, सामंजस्य, समावेश, सहजीवन के आदर्श आदिवासियों को छोड़ और कोई नहीं जीता।

छोटानागपुर के गाँवों में एक साथ निवास करने वाले कई समुदायों के लोग मिल

जाएँगे जिनकी भाषा, धर्म, रीति–रिवाज में भिन्नताएँ हैं। एक साथ कई आदिवासी समुदाय भी साथ रहते मिल जाएँगे मगर, इनमें आपसी दंगों, लड़ाईयों और कटुता की खबर नहीं मिलेगी। इतिहास के विभिन्न काल–खण्डों में आदिवासी समुदाय आए मगर पहले से निवास करने और बाहर से आए नवागतों के बीच संघर्ष की कथाएँ नहीं बनीं। सभी अपने रस्म–रिवाजों के लिए सतर्क मगर, दूसरे के प्रति द्वेष या घृणा का भाव नहीं। आदिवासी जीवन का यह विलक्षण भाव है।

परम्परा के लिए आदिवासी आग्रही रहता है। आदिवासियों ने अपनी परम्पराओं की रक्षा के लिए शस्त्र उठाए और बगावत की। कोल विद्रोह, संताल विद्रोह, भूमिज–मुण्डा, तानाभगतों के आन्दोलन सभी मूलतः अस्तित्व और परम्परा के लिए की गई कुर्बानियाँ थी। जिस भावना से आदिवासी समुदाय पिछले ३००० वर्षों में इन घाटियों में आए उसी भावना ने इन्हें विदेशियों के खिलाफ संघर्षरत किया। सिंहभूम से संतालों का दामिन–ए–कोह की ओर बहिर्गमन ऐसा ही प्रतिवाद था। संरक्षण इनके स्वभाव में है।

छोटानागपुर के आदिवासियों के स्वभाव को समझकर उस श्रेष्ठता को समझा जा सकता है जो इस मिट्टी से उपजी विरासत है। अन्य समुदाय अपनी मूल प्रवृत्ति और आचरण खो बैठे वह यहाँ संरक्षित रहा। सह–अस्तित्व और सामंजस्य के भावों के परिणाम ''मितान'' और 'साहिया' जैसी प्रथाएँ है। विभिन्न परिवारों–समुदायों के साथ सहजता से साथ, इसका प्रतिफल है।

आदिवासी समुदाय समता मूलक भी है। वहाँ छोटा–बड़ा, अवर्ण–सवर्ण, स्पृश्य–अस्पृश्य नहीं होता। सामाजिक स्थिति में वंश का परम्परागत महत्व नहीं होता। समता का भाव पुरूष और महिलाओं की स्थिति में भी लक्षित किया जा सकता है।

आदिवासी महिलाएँ सामाजिक जीवन में सक्रिय और समान होती हैं। समुदाय का पदधारी अपनी प्रशासनिक भूमिका के आधार पर, सामान्य जीवन में विशेषाधिकार सम्पन्न नहीं बन जाता है।

सामुदायिकता और सामूहिकता आदिवासी व्यवस्था की सामान्य विशेषताएँ हैं। सारा गाँव, इसके जंगल, खेत, चारागाह सार्वजनिक स्थल, पूजा की जगह, सबकी सामान्य मिल्कियत होती है। इनका हस्तांतरण कोई व्यक्ति नहीं कर सकता क्योंकि सब सामाजिक सम्पत्ति है। डॉ॰ राम दयाल मुण्डा ने लिखा कि– ''अर्थ व्यवस्था के सामुदायिक होने का यह भी मतलब है कि वह सहभागिता (शेयरिंग) पर आधारित है जबकि दूसरी अर्थव्यवस्था एकाधिकार/संचय (होर्डिंग) पर जोर देती है। आदिवासी अर्थव्यवस्था केवल निर्वाह (ससटेनेंस) को लक्ष्य मान कर चलती है। जबकि आधुनिक अर्थव्यवस्था का लक्ष्य लाभ कमाना होता है।'' प्रसगंवश यह चिंता व्यक्त की जा सकती है कि प्राकृतिक सम्पदा का अंधाधुंध दोहन आदिवासियों के विस्थापन, पर्यावरण के असंतुलन और जीवन मूल्यों के विलोपन के रूप में हो रहा है। विरासत को बचाना असंभव दीख रहा है।

जनतांत्रिकता आदिवासी स्वभाव है। अपने समाज में वे संघीय व्यवस्था बनाते हैं। सभी निर्णय आम सहमति से होते हैं। व्यक्तिगत विचारों का सम्मान होता है। सर्वसम्मति के लिए वे इंतजार करते हैं। इनके दण्डविधान में सदैव मानवीयता होती है। अंग–भंग या मृत्युदण्ड यहाँ

लगभग असंभव है।

इन समुदायों में मौखिक परम्परा से साहित्य उपलब्ध है। इसके संकलन और विश्लेषण का काम गंभीरता से नहीं हो रहा। यह साहित्य व्यक्तिगत निर्माण नहीं बल्कि सामूहिक मेघा और प्रयत्न का परिणाम है। व्यक्तिगत प्रयत्न आदिवासी स्वभाव नहीं दिखता।

आदिवासी अकेला नाचता–गाता नहीं। वैसा करना किसी पागल या शराबी का प्रयत्न होगा। नृत्य–गीत के आयोजन में सभी भागीदार होते है, दर्शक नहीं होते। किसी रसिक या अधिकारी की शान में वे नहीं नाचते–गाते। किसी की खुशामद में नृत्य–गीत वहाँ नहीं। मौका है तो सभी एक सुर–लय–ताल में नाचेंगे, गाएँगे। सबके सब प्रतिभागी। उसका बाजारीकरण और प्रदर्शन सांस्कृतिक क्षरण के रूप में गंभीर समस्या है।

आदि धर्म का स्वरूप–

आदिवासी का आराध्य प्रकृति है–पहाड़, नदी, जल, पेड़, जीव–जंतु, चाँद, सूरज। मंदिर– मस्जिद–गिरजा नहीं, मूर्ति नहीं। मनुष्य की अमरता में आस्था। मृत व्यक्ति भी छाया की तरह घर में रहता है। पूर्वज अपनी संततियों के कल्याण के लिए मृत्यु के बाद भी बुलाए जाते और आते हैं। पुरोहित या मध्यस्थ की अनिवार्यता, ईश्वर से सम्बन्ध के लिए नहीं। पितर और परमेश्वर सहचर की तरह घर और बस्ती में। धर्माचारों में सरलता और कमखर्ची, आडम्बर का सवाल नहीं।

मूल आदिवासी धर्माचार अन्य समुदायों ने भी अपनाए। आदि धर्म में मनुष्य के साथ ईश्वर के कर्त्तव्य भी निश्चित हैं। वे असामाजिक काम को पाप और समाज हित के कार्य को पुण्य मानते हैं। मृत्यु से शरीर मरता है, आत्मा को वापस घर में रहने के लिए बुला लिया जाता है। आदि धर्म, सामाजिक जीवन को स्वर्गिक सुख और असामाजिक कर्म से नारकीय दुःख, का सत्य मानता है। यह सोच आधुनिक संदर्भ में उपादेय हैं।

छठी सदी ईस्वी पूर्व में गौतम बुद्ध सहित अनेक दार्शनिकों ने आदिवासी धर्म और जीवन दर्शन का प्रभाव स्वीकार किया। बुद्ध के 'दश–शील' में आदि धर्म का प्रभाव है।

न्याय का मूलभाव, सुख का बांट कर उपभोग, आदि वैदिक पद्धति में नहीं। किसी शिकार में जब गाँव भाग लेता है तब हिस्सा सिर्फ शिकारियों में नहीं बंटता, जो बीमार हैं अथवा जिन्होंने भाग नहीं लिया वे भी समान भाग पाते हैं। कुछ हिस्सा गाँव में आए अतिथि के लिए भी होता है। शिकार में रहे कुत्तों का भी हिस्सा। बिना बांट कर खाना आदिधर्म के संस्कार नहीं। मगर, इन भावों पर भारी आघात लग रहे हैं। विरासत का क्षरण, आक्रमण बहुविध।

वैदिक और अनार्य आदिवासी पद्धतियों के सम्मिलन से भारतीय दर्शन जैसा और रीतियाँ बनीं। वर्त्तमान परिदृश्य भी समन्वय ही है। परमेश्वर (सिंग बोंगा, बांदा बोंगा, धर्मेस आदि) का सम्बन्ध मनुष्य से पितामह और पौत्र जैसा होता है। पहाड़, नदी, जंगल ईश्वर के निवास (घर) हैं। आत्मा नहीं मरती और मृत पूर्वज भी सदैव कल्याणार्थ निर्देश देते हैं। आदमी मर कर कहीं नहीं जाता और परमेश्वर से रिश्ता रखने के लिए मध्यस्थ अनिवार्य नहीं। सृष्टि के सभी अवयवों से, समानता के भाव से, रिश्ता आदिधर्म की विशिष्टताएँ है। यह धर्म सभ्यता और अनुभव के विकास के साथ निर्मित हुआ। इसके आदर्श अन्य समुदायों के लिए प्रभावकारी हुए।

ध्यान, तप, योग, संयम जैसे आचार और दर्शन का उत्स आदिधर्म को माना जाता है। तपस्या, पशुपति, प्रजनन, शक्तियों की उपासना का मूल अनार्य आदिवासी आचार माने जाते हैं। भोगवाद के विपरीत, यज्ञ, हिंसा, आडम्बर, फिजूलखर्ची के विरूद्ध जो विराट आन्दोलन हुआ उसका सिद्धांत अनार्य समुदायों से सम्पर्क के बाद तैयार हुआ था। इस विरासत को ईमानदार विमर्श की जरूरत है।

विरासत के अन्य पक्ष :

आल इंडिया कोऑर्डिनेटेड रिसर्च प्रोजेक्ट के आंकड़ों के अनुसार आदिवासी समुदायों को नौ हजार औषधीय पौधों की जानकारी है। इनमें साढ़े सात हजार पौधों का उपयोग मनुष्य और पशुओं की चिकित्सा में होता है। अनेक उपचारों में आज आदिवासी विरासत पर गंभीर शोध हो रहे हैं। कई कृषि उपकरण उनकी देन है। कृषि क्षेत्र में 'फसल चक्र' का महत्त्व आदिवासियों ने समझा । खाद्यान्नों की अनेक प्रजातियाँ उन्होंने ज्ञात की।

बांसुरी और ढोल मूलत: आदिवासी वाद्ययंत्र है। समूह नृत्य और रास नृत्यों का स्रोत भी वही है। लोक कथाओं में असुर–अनार्य उपस्थिति अनेक रूपों में दर्ज रही जिसके आधार पर आदिवासी कौशल और क्षमता के साथ ही आर्यों का उनके प्रति आकर्षण भी प्रमाणित होता है।

आदिवासी चरित्र में 'राज्य' का निर्माण सामान्य घटना नहीं। भारतीय इतिहास में गोंड आदिवासियों के राज्य अपवाद स्वरूप हैं। नागपुर, गोंड राजाओं द्वारा स्थापित नगर है। रानी दुर्गावती गोंड आदिवासी वंश से सम्बंधित थी।

संस्कृति और परम्परा की रक्षा के लिए विद्रोह आदिवासी ऐतिह्य का स्वर्णिम तथ्य है। अंग्रेज कम्पनी के विरूद्ध पहला प्रतिरोध जगन्नाथ धल ने किया। इसके बाद निरंतर विद्रोह के ज्वार उठे। वे सभी स्वत:स्फूर्त और सामुदायिक चेतना से प्रेरित थे। तिलका माझी, सीदो–कान्हू, जतरा भगत, गंगा नारायण के नेतृत्व में और फिर पहाड़िया, भूमिज, कोल, उराँव, मुण्डा सभी के आन्दोलन। मैदानी इलाकों के विरोध व्यक्तिगत कारणों से पैदा हुए थे, आदिवासी उद्वेलन सामूहिक विरोध का प्रदर्शन था। १८५७ के विद्रोह में आदिवासी भागीदारी थी। उपनिवेशवादियों ने समझ लिया, जब तक सांस्कृतिक संरक्षण की चेतना बनी रहेगी आदिवासियों पर राज नहीं किया जा सकेगा। तब इन्हें गुलाम बनाने के लिए शिक्षा नीति और प्रशासन पद्धति का सहारा लिया गया। गुलामी के लिए आदिवासी चेतना को मिटाने की जरूरत थी। यह काम स्कूलों के द्वारा शुरू किया गया– जमीन से तोड़ने की साजिश। वह आज तक चल रही है।

आदिवासी समुदाय तथाकथित विकसित समाज की अनेक कुरीतियों से मुक्त है– वहाँ दहेज के लिए बहू नहीं जलाई जाती; दास प्रथा नहीं, आजीविका और व्यवसाय के आधार पर समाज का आकार सीढ़ीनुमा नहीं, पाखण्ड और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ नहीं। जिस प्रकार भारत में विभिन्न प्रजातियों के अंतर्मिलन से भारतीय महामानवसमुद्र बना उसी तरह आर्य–आदिवासी परम्पराओं ने भारतीय जीवन और जनमानस निर्मित किया। आज जिस भारतीय संस्कृति और पारम्परिक जीवन की चर्चा होती है उसका बड़ा हिस्सा आदिवासी है।

जवाहर लाल नेहरू ने इस विरासत को समझा था। उन्होंने आदिवासी नीति निर्धारण करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना जरूरी समझा। मगर, आजाद भारत में उन पर ध्यान नहीं

दिया गया। फलत: पिछले पाँच दशकों में जितनी क्षति हुई है वह पाँच हजार वर्षों में नहीं हुई थी। आज भी आदिवासी विरासत का बोध ओर संरक्षण अनेक मौलिक समस्याओं की रामबाण औषधि है।

हमारी आदिवासी विरासत भारत भूमि पर पैदा हुई । समकालीन परिवेश में वे सुदृढ़ हुई। भारतीय स्वभाव और भूगोल के आधार पर विकसित हुई। वह भारतीय मानस के अनुरूप है। इसका संरक्षण और अनुसरण सर्वथा उपादेय होगा। जटायु, काकभुशुण्डी, शुकदेव, गरूड़, नांदी, हनुमान, बाली, सुग्रीव, वभ्रुवाहन, मकरध्वज, अनगिनत गुणवंत–बलवंत असुरों के योगदान से निर्मित भारत में आदिवासी भागीदारी और विरासत का मूल्यांकन होना बाकी है। कृष्ण और कृष्णा, काली और नीलमाधव की परम्परा के देश की उपलब्धियाँ समन्वित प्रयत्न और अनुभव के प्रतिफल हैं।

आजादी के बाद आदिवासी विरासत को सुरक्षित रखना कठिन हो गया। युरोपीयनों ने कालों को सभ्य बनाने का जो भार खुद ग्रहण कर लिया था वही अहंकार भारत की मैदानी सभ्यता में दिखता है जो आदिवासी को बदलने की मुहिम में लगे हैं। भूल हो रही है। जो सोच आदर्श हो सकती थी उसे प्रदूषित कर बहुमूल्य विरासत को समूल नष्ट करने की साजिश चिंता का विषय है। एक विराट परम्परा को मिटाने का काम बहुत आगे बढ़ चुका है। वैदिक विरासत की तरह आदिवासी विरासत भी इतिवृत्त के पन्नों में दफ्न होकर रह जाएगी!

संस्कृति–समाज

मध्य भारत : भूगोल और इतिहास की साझा यात्रा

*तीर्थेश्वर सिंह

भारत के बीचोंबीच ऐसा काफी बड़ा इलाका है जिसमें अनगिनत चोटियां और श्रृंखलाएँ हैं। इन ऊँचे इलाकों से भारत की कई बड़ी नदियां निकलीं हैं, जिनका पानी प्रायद्वीप के दोनों ओर समुद्र में गिरता है। उत्तर से सोन जो गंगा में मिल जाती है, पूर्व में महानदी जो स्वतंत्र बहती हुई बंगाल की खाड़ी में समा जाती है, दक्षिण में गोदावरी की बहुत–सी प्रमुख सहायक नदियां और पश्चिम में नर्मदा और ताप्ती जो समानांतर बहती हुई अरब की खाड़ी में समा जाती हैं। जिसे हम मध्यभारत का मैदानी क्षेत्र कहते हैं, उसकी सामान्य ऊँचाई क्रमिक है, जो यात्री को कम ही दिखायी पड़ती है। यह चरणबद्ध क्षेत्र समुद्र तल से करीब एक हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। मध्यभारत के सर्वाधिक पूर्वी खण्ड को मैकल, केन्द्रीय खण्ड को महादेव तथा पश्चिमी खण्ड को सतपुड़ा की पहाड़ी कहते हैं। भूगोलविद् पूरी श्रृंखला को सतपुड़ा कहते हैं।[१]

वास्तुशिल्पीय अवशेष से पता चलता है कि नर्मदा घाटी के कुछ भागों तथा केन्द्रीय पठारों में चौथी से चौदहवीं सदी के बीच आर्य–नायकों की सत्ता थी। लेकिन प्रारंभ में आकर रहने वाले लोग वास्तव में क्या थे, इसका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि १४वीं शती में आक्रमणकारी मुसलमानों के साथ संपर्क में आने के दौरान जब इस इलाके में वास्तविक इतिहास का प्रथम आलोक फूटा, तब इन सभी का पृथक अस्तित्व खत्म हो चुका था। उस वक्त इस इलाके को गोंडवाना कहा जाता था।[२] अकबर के आगमन के बाद मध्यभारत के इन इलाकों में संसाधनों का काफी विकास हुआ। ऊपरी भारत का दक्कन के बीच सतपुड़ा पहाड़ियों के एक दर्रे ने एक बड़ा मार्ग खोल दिया। ताप्ती घाटी में एक बड़े शहर का उद्गम हुआ, जो साम्राज्य के दक्षिणी प्रांत का शासन केन्द्र बन गया।[३] आने–जाने वाली फौजों और लगाने वाले दरबारों के लाव–लश्कर अपने साथ ऐसी मांगे लाते थे, जिनके बारे में पहले सुना तक नहीं गया था। ये मांगे उनकी जरूरतों तथा विलासिता को पूरा करने के लिए होती थी। अकबर के शासन के अंतर्गत यह खुला इलाका हिन्दू अप्रवासियों ने दोबारा तेजी से अपने कब्जे में ले जिया, जो उत्तर और पश्चिम से एक साथ आ रहे थे। उन्हें वृहद् घाटियों में स्थित गोंड राजाओं की समृद्ध भूमियों में अपने पैर जमाने में देर नहीं लगी। नर्मदा घाटी की जमीनों तथा जिसे बरार कहते हैं, उस इलाके को खेती योग्य बनाना यहाँ की मूल नस्लों के बूते के बाहर की बात थी। वे ब्राम्हण पुजारी, योद्धा राजपूतों तथा उद्यमशील हिन्दू किसानों के साथ नये इलाके में आये और अपने साथ हिन्दू देवताओं की पूजा तथा जाति व्यवस्था को भी लाये। नये धर्म ग्रंथ उद्घाटित किये गये, जिनमें प्रजाति के धार्मिक पौराणिक गाथाओं को पूरी तरह बदलकर उन्हें स्थानीय नामों तथा स्थानों के अनुरूप बना दिया गया। नर्मदा नदी पवित्रता में गंगा से बढ़ कर हो गई। हिमालय की बर्फ से आगे शिव का धाम कहा जाने वाला कैलाश महादेव श्रृंखला की चोटी में आ गया। कृष्ण और राम ने अपने चमत्कारी बालकपन से बाहर आकर मथुरा और वृंदावन की कुंजगलियों की जगह मध्यभारत के वनों में अपने महान कारनामों को अंजाम दिया।

*आचार्य एवं अध्यक्ष : हिन्दी विभाग, इं.गाँ.रा.जनजातीय वि.वि., म.प्र., 09425563971

१८वीं सदी के उत्तरार्ध में मराठों ने मुगलों की सत्ता को उखाड़ फेंकने की कोशिश शुरू की। सागर और नर्मदा क्षेत्र का अंग्रेजों ने अभिग्रहण कर लिया। दक्षिणी इलाका नागपुर के राजा की जागीर का नाममात्र हिस्सा रह गया। लेकिन यह लंबे समय से ब्रिटिश प्रशासन के अंतर्गत रहा। १८५४ में इसका उत्तराधिकारी न होने से इसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। सन् १८५३ में, जब भारतीय त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण ने आधी सदी तक कार्य किया और करीब तीन साल तक विस्तृत, सर्वेक्षण किया, तब सर एर्सिकाइन पेरी ने RoyalAsiatic Society की बॉम्बे ब्रान्च को संबोधित करते हुए लिखा ''वर्तमान में गोंडवाना पहाड़ियों तथा जंगलों में ऐसे बड़े अज्ञात इलाके हैं कि वे हमारे नक्शों में एक नखलिस्तान की तरह हैं।''

१८५७ के गदर के बाद मध्यभारत के अज्ञात इलाकों में नया सवेरा आया। अनेक महत्वपूर्ण बातों के साथ इस एकांत इलाके में साम्राज्य के प्रशासन को दी गई गति का फायदा मिला। राष्ट्रों को सभ्य बनाने वाला वह आयरन रोड, इस घाटी के हृदय से होकर गुजरता था। मैनचेस्टर ने काली मिट्टी के इस मैदानी क्षेत्र को भविष्य में कपास उत्पादन का महत्वपूर्ण इलाका मानकर इस पर अपनी नजर गड़ा ली थी। लिहाजा १८६१ में सेन्ट्रल प्रॉविन्सों का गठन किया गया। करीब ७३ वर्ष के पश्चात् भारत शासन अधिनियम १९३५ के प्रावधानों के अनुसार 'मध्यभारत और बरार' को गर्वनर प्रांत के अधीन रखकर प्रशासन किया गया। मध्यभारत और बरार के अंतर्गत मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा व पश्चिम बंगाल आते हैं। अब इन प्रदेशों में दो और जुड़ गए हैं छत्तीसगढ़ और झारखण्ड। मध्यभारत प्राकृतिक संसाधनों, कला साहित्य व संस्कृति से काफी समृद्ध है।

अब तक भारत के अनुसंधान से यह माना जाता है कि भारत का गोंड़वाना लैण्ड क्षेत्र ही जनजातियों की जन्म भूमि रही है। जिसका अधिकांश भाग दृष्ट समूह और मध्यप्रदेश में स्थित है। अब भी छतीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश में हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० वेदवती मंडावी लिखती है कि, जनजातियों की प्रारंभिक अवस्था किस प्रकार थी इस संबंध में लिखित साहित्य नहीं है। फिर भी सभी जनजातियों में जो एकरूपता है, इसके संबंध में गोंड़वाना कथा एवं उनके मौखिक लोककथा एवं लोकगीतों के आधार पर पता चलता है कि छतीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश में जितनी भी जनजातियाँ हैं उन सबकी उत्पत्ति एक ही स्थान से हुई है एवं एक ही प्रकार के देवी– देवता को मानते हैं तथा प्राय: सभी की जीव–जन्तु, पेंड़–पौधे ही पहचान चिन्ह है। आर्यो के आगमन के पश्चात आदिमजन भी भिन्न–भिन्न जातियों में बंटते गये। कालान्तर में इनकी उत्पत्ति की कहानियाँ भी बनती गई। भारत की सबसे बड़ी जनजाति गोड़ जनजाति है। इनकी संख्या

मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ में भी अधिक है। संभवत: सभी जनजातियों की उत्पत्ति भी प्रारंभिक गोंड़ से हुई होगी। इनकी इनकी भाषा गोंड़ी है। गोंडवाना लैण्ड़ के गोंड़ अपनी उत्पत्ति पृथ्वी अर्थात गण्डोद्वीप से मानते है तथा नर भाषा के उद्‌गम स्थल आमूरकोट अमरकंटक की मानते हैं। कालान्तर में वे धीरे धीरे फैलते गये। गोंड़ी लोकथाओं में यह मिलता है। इस प्रकार वर्तमान में जिन जातियों को जनजाति के[४] रूप में सम्पूर्ण भारत में चिन्हित किया गया। उनकी संख्या मध्यप्रदेश में १९५० में २१२ बढ़कर ५५५ हो गई है। जनजातीय समाज की अपनी अलग विशेषता है–

(१) इनका संबंध नीग्रेटो, आस्ट्रेलायड एंव मंगोलाइड प्रजातियों है।
(२) भारत में मुख्यत: तीन भाषाओं का प्रयोग होता है– आर्यभाषा, द्रविड़ भाषा एवं मुंडा भाषा।
(३) जनजातीय लोग दुर्गम पर्वतों, पहाड़ी जगलों और सभ्य समाज से दूर रहते है।
(४) इस समाज के लोग आदिम धर्म को मानते है जोकि सर्वजीववाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है, जिसमें कुल के आत्माओं का विशेष स्थान है।
(५) ये लोग प्रकृति पर निर्भर रहते है और वनोपज पर अपना जीवन चलाते है।
(६) ये सहज, सरल, ईमानदार होते हैं और अभाव पूर्ण और खानाबदोश जिन्दगी जीते हैं।

आदिम समाज के विद्वानो ने अलग– अलग नामों से पुकारा है। जिसमें एच.एच. रिजले, लेके ग्रियसेन, सोर्लट, टैलेड्रस, सेनविक, मार्टिन ने इन्हें आदिवासी शब्द से सम्बोधित किया है। हड़सन ने इन्हे प्राचीन जनजाती कहा है। ये जनजातीय आव्रजकों के आक्रमण एवं हस्तक्षेप से सुदूर जंगलो एंव पहाड़ों में चले गये। यहाँ इनका अपना अलग संसार हैं। इस तरह की जनजाति पूरे विश्व में है। ये अफ्रीका, आस्ट्रेलियाँ, दक्षिणी अमेरिका तथा दक्षिणी एशिया महाद्वीप में भी पाये जाते है। मध्यभारत में कई जनजातियाँ है। जैसे बैगा, विझवार, नाहर, भैना, गोण्ड़, मुडिया, भरिया आदि। जिनमें गोंड़ जनजाति की संख्या पूरे मध्य क्षेत्र में बहुतायत है। मध्यप्रदेश और छतीसगगढ़ में इन जनजातियों के लोगों ने पूरे राज्य में शासक के रूप में भी काम किया। रानी दुर्गावती मध्यभारत में सवसे प्रसिद्ध गोड़ राजाओं में रही। जिन्होन अंग्रेजों से लोहा लिया। छतीसगढ़, मध्यप्रदेश में इतने सारे गोंड़ राजाओं ने अपनी प्रजा के साथ १८वीं शताव्दी तक राज्य किया। राजगोंड़ जैसी शक्तिशाली जनजातियों ने अनेक शताब्दियों तक ब्रिटेन के बराबर छतीसगढ़ तथा मध्यप्रदेश के बड़े हिस्से में पर्याप्त राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया था। गोंड लोगों पूरे राज्य में शासक के रूप में काम किया।

सारे विश्लेषणों का सार है, कि मध्यभारत भूगोल इतिहास की साझा यात्रा अथ से इति तक अभी अनुसंधान की अपेक्षा रखती है, क्योंकि भूगोलशास्त्री, मानवशात्री, समाजशास्त्री इतिहासकार या भाषाविज्ञानी और साहित्यकारों के निरन्तर अध्ययन और मंथन से ही मध्यभारत की लोकभाषा, संस्कृति, साहित्य के अनछुये पहलू सामने आ सकेगें।

सन्दर्भ :

१. कैप्टन जे. के. फोरसिया : मध्यभारत के पहाड़ी इलाके– पृष्ठ १० राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. सम्पादन जे. पी. मुरडक : नोट्स एण्ड़ क्योरीज ऑन ए.एन्थ्रोपोलोजी, पृष्ठ –७८
३. वही पृष्ठ ८२
४. डॉ. वेदवती मंडावी : जनजाति राजनीति और नेतृत्व, पृष्ठ ९४–९५, मानसी प्रकाशन नई दिल्ली–२०११

Gonds

*Rakesh Soni

Gonds are among the largest tribal groups in South Asia and perhaps the world. They form one of the largest tribal groups in India in terms of population (over 9 million) and are mainly concentrated in the Deccan plateau. Some Gonds describe themselves as Koi or Koitur. Scholars believe that Gonds settled in Gondwana, comprising portions of Madhya Pradesh, Chhattisgarh, Andhra Pradesh and Maharashtra, between the ninth and thirteenth centuries A. D. Gond dynasties ruled in four kingdoms (Garha-Mandla, Deogarh, Chanda, and Kherla) in central India between the sixteenth and mid-eighteenth centuries.

The Marathas swept into the Gond lands in the 1740s. They overthrew Gond *rajas* (princes) and seized most of their territory. Some Gond *zamindaris* (estates) survived until recently. However, Gonds are similar to many tribal groups in India today in that they face severe economic hardships. Although some Gond groups own a great deal of land, others face acute poverty and they need social and economic assistance from the government.

Apart from the central India where Gonds are found in the largest number, they have significant presence in Maharashtra and Orissa. As "hill people", they traditionally have been associated with hills and uplands in the Deccan plateau. Many Gonds live around the Satpura Hills, Maikala Range and Son-Deogarh uplands, and on the Bastar plateau. They also live in the Garhjat Hills of northern Orissa. The upland areas generally lie between 2,000 to 3,000 feet (600 to 900 meters), with isolated peaks occasionally exceeding approximately 4,000 feet (1,200 meters).

The region where Gonds live is drained by the head-waters of many of India's major rivers (such as the Narmada, Tapti, Son, Mahanadi, and Godavari). Forest cover is dense in places, and communications are generally difficult. February sees the start of the hot season, with temperature rising to over 40° C (104° F) in early June. The summer brings the monsoon rains, with precipitation amounts varying from 47 inches (120 centimeters) to over 63 inches (160 centimeters) in the more southeasterly locations. Late September marks the return of the cool, dry weather of winter.

Gonds speak *Gondi* language which belongs to the Dravidian family of languages and is related to Tamil and Kannada. The language offers a cultural connection between many Gond groups. Many Gonds also speak Hindi, Marathi, or Telugu.

*Asst. Prof., Dept. of Philosophy, I.G.N.T. University, Amarkantak, M.P., 09407343416

Hereditary bards and professional storytellers called "Pardhans" tell stories about Gond legends and myths. This makes for a rich oral tradition. In these stories, it is said that when Gond gods were born, their mother abandoned them. The goddess Parvati rescued them, but her consort Sri Shambhu Mahadeo (Shiva) kept them as captive in a cave. Pahandi Kapar Lingal, a Gond hero, who received help from the goddess Jangu Bai, rescued them from the cave. They came out of the cave in four groups, thus laying the foundation of the basic fourfold division of the Gond society. Lingal is also said to have been responsible for creating a Gond kinship system and establishing a group of great Gond gods. Gonds worship a high god known as Baradeo, whose alternate names are Bhagavan, Sri Shambu Mahadeo, and Persa Pen. Baradeo oversees activities of lesser gods. He is respected but he does not receive fervent devotion, which is shown only to clan deities. Each Gond clan has its Persa Pen, who protects all clan members. Persa Pen is essentially good but can be dangerous and violent. Many Gonds believe that when a Pardhan (bard) plays his fiddle, the deity's fierce powers can be controlled.

Each village has its Village-Guardian and Village-Mother who are worshipped when villagers celebrate regular festivities. Gonds also worship family and household gods, gods of the field, and gods of the cattle. Deities such as Shitala Mata, goddess of smallpox, help ward off disease. Spirits are also believed to inhabit hills, rivers, lakes and trees. Village priests *(deuri),* perform sacrifices and rituals for village festivals. The head of a household typically carries out family ceremonies. Clan priests *(katora)* tend the shrine and ritual objects of the clan's Persa Pen. These priests also guard the sacred spear point and organize annual festivals.

Most aspects of Gond life, from the greatest festivals to the building of a new cattle-shed, are accompanied by sacrifice. Certain deities, especially female ones, demand chickens, goats, and sometimes buffaloes. Every nine or twelve years, Gonds sacrifice a pig to the god Narayan Deo in an important ceremony known as the *Laru Kaj* (Pig's Wedding). Other rituals also involve offerings of fruits, coconuts, flowers, coloured powder, and strings. Gonds believe that evil spirits and the gods' displeasure cause most of the diseases and misfortunes. They ask soothsayers and diviners to find out the causes of the problems and to suggest remedies. Sometimes, magicians and shamans (healers) can provide the solutions. Magicians use special formulas to control the actions of a deity or spirit that is causing a particular affliction. Shamans fall into trance and give voice to the demands of an offended god or spirit.

Many Gond festivals are connected to agriculture. Pola, a cattle festival, and Nagpanchami, the snake festival, are very popular. Dasahara is an important Gond holiday. A Gond custom is stick dancing undertaken by the young people. Bands of young people travel from village to village, dancing and singing. This dancing is a religious duty. It is also an occasion for fun.

Gonds protect pregnant women against spells and evil influences and perform several rituals after a baby is born. A mother's brother generally names a baby boy, while the father's sister names a girl. Children grow up as part of a family, clan, and *phratry* (one of the four main divisions of Gond society), and gradually learn the ways of their people. Both boys and girls help guard family crops from birds and monkeys. Males undergo a ritual shaving of the beard, mustache, and eyebrows as a sign of adulthood. Girls are considered full-grown at their first menstruation.

Gonds cremate or bury their dead. Children, unmarried persons, and individuals dying an inauspicious death (for instance, in an epidemic) are buried without much ceremony. Gonds believe that humans have a life-force and a spirit. On death, the life-force is reincarnated into another earthly existence, but the spirit remains in the other world. Gonds perform death rituals to help the spirit move into the other world and to ease its acceptance by the other clan spirits. This rite, known as *karun*, must be done to fulfill an obligation to the deceased. Memorial pillars are erected to honor the dead. Gonds believe ancestral spirits watch over the living, punish offenders, and guard Gond communities. Gonds welcome visitors with dried tobacco leaves, fruits, or other small gifts. Many villages have guest huts.

Each Gond village has a headman (known by local names such as *mukhia, mahji,* or *patel*) and a village council *(panchayat)* chosen by the villagers. The council consists of the headman, priest, village watchman, and four or five elders. It helps keep the village running smoothly and upholds Gond customs. Villages also have service castes such as Ahir (cowherds), Agaria (blacksmiths), Dhulia (drummers), and Pardhan (bards and singers).

A typical Gond village has several hamlets. Each consists of homesteads that house extended families. Houses are usually built of mud and thatch. They consist of a living room, kitchen, veranda, a special room for women to use while menstruating, and a shrine for the clan gods. Gond houses contain cots and a few wooden stools; mats are used for sitting and sleeping.

Gond society is divided into four groups known as *phratries* or *sagas* in Gondi. Each saga traces its descent to one of the four groups of gods who emerged from the cave after their release by the hero Lingal. The saga is divided into several clans *(pari)*. A clan consists of a group of people who believe that they share a common ancestor. Generally, it is good to marry outside the clan. Kinship and marriage customs among Gonds reflect broader regional patterns. The norm is cross-cousin marriage (for example, marrying one's mother's brother's daughter), which is typical in southern India. Gond groups that have been influenced by northern peoples such as Marathas, however, follow northern customs in determining marriage partners. Similarly, northern Gonds allow widows to remarry a brother of the deceased husband.

Gonds typically choose their marriage mates, and a tribal council approves the matches. The father of a groom pays a bride price. Gond weddings include many significant ceremonies. The main part of the wedding occurs when the bride and groom walk seven times around a wedding post. Newlyweds live with the groom's family until it is possible for them to move into a house of their own. Sometimes, Gond matches are made when a groom and bride elope. These marriages must be approved later by relatives and the

village council. The council can also approve divorces. Gond men typically wear *dhoti and* women cotton *sari* and *choli.* The staples of the Gond diet are two millets known as *kodo* and *kutki* . These are either boiled to a broth or cooked to a dry cereal. Broth is preferred for the first two meals of the day and the dry cereal is eaten at night, often with vegetables. Vegetables are either grown in gardens or collected from forests along with roots and tubers. Honey is also gathered from forests. Rice is a luxury item that Gonds enjoy during feasts and festivals. Most Gonds like meat. Animals sacrificed at ceremonies are eagerly consumed, and animals hunted in the forest supplement the diet. Gonds must abstain from the flesh of the animals that are their clan totems. Gonds grow tobacco for smoking and make liquor from the mahua tree for celebrations. Literacy rate among Gonds varies from just over 25 percent in Maharashtra to less than 15 percent in Madhya Pradesh. Among females in Madhya Pradesh, it drops to about 4 percent. Few children attend school regularly, and girls rarely continue past primary school.

Gonds celebrate most festive occasions with song and dance. In some instances, such as with the Dandari dancers, dances retell events from the Gond mythology. At other times, dances are performed simply for fun. Dhulia are a professional musician caste and Pardhans (bards) preserve legends, myths, and history, passing these traditions on from generation to generation. Gonds also enjoy assembling on full-moon nights to sing and dance. Cockfighting is a favorite pastime. Both men and women enjoy wearing heavy silver ornaments. Women also like to wear colored glass bangles and marriage necklaces made of small black beads. They often tattoo their bodies. Gonds today are mainly farmers. Although some Gond communities have risen to the status of landowners, many are landless laborers.

Gonds have a rich arts tradition that includes pottery, basket making, body tattooing, and floor painting. They paint designs in red and black on the walls of their houses. These drawings often celebrate festivals and depict animals, birds, human figures, hunting, and dancing. Gonds make musical instruments. They carve memorial pillars in wood and stone for their dead. They often decorate houses with carved doors and panels.

Gonds face problems typical of the tribal population throughout South Asia and much of the world. They suffer exploitation and discrimination and often are forced to live on less productive lands in remote areas. They are experiencing increasing pressure on their land, a rise in the number of landless laborers and high levels of poverty. Lack of education and low levels of literacy further reduce economic opportunities for them.

Bibliography

1 Ardley, Bridget. *India.* Englewood Cliffs, N.J.: Silver Burdett Press, 1989.
2 Barker, Amanda. *India.* Crystal Lake, Ill.: Ribgy Interactive Library, 1996.
3 Cumming, David. *India.* New York: Bookwright, 1991.
4 Das, Prodeepta. *Inside India.* New York: F. Watts, 1990.

5 Dolcini, Donatella. *India in the Islamic Era and Southeast Asia (8th to 19th century).* Austin, Tex.: Raintree Steck-Vaughn, 1997.
6 Kalman, Bobbie. *India: The Culture.* Toronto: Crabtree Publishing Co., 1990.
7 Pandian, Jacob. *The Making of India and Indian Traditions.* Englewood Cliffs, N.J.: Prentice Hall, 1995.
8 Shalant, Phyllis. *Look What We've Brought You from India: Crafts, Games, Recipes, Stories, and Other Cultural Activities from Indian Americans.* Parsippany, N.J.: Julian Messner, 1998.

हरदोई जनपद के गुलरिहा गाँव का ब्रजवासी समुदाय : परिवर्तन एवं निरन्तरता के कारक

*अनूप कुमार सिंह

**कीर्ति विक्रम सिंह

प्राचीन काल से ग्राम भारतीय समाज व्यवस्था का एक आधारभूत एवं महत्वपूर्ण एकक रहा है। यहाँ के शास्त्रों और ग्रन्थों में इसका विशेष उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद (सामान्यत: ई.पू.से दो हजारवें वर्ष के आस–पास) के अनुसार समाज का विकास आरोही श्रंखलाओं के रूप में हुआ, जिसमें सबसे प्रारम्भ का एकक गृह या कुल था और उसके ऊपर आगे चलकर ग्राम, विश, जन तथा राष्ट्र के एकक थे। ग्राम की संज्ञा, जो अभी भारत में गाँवों के लिए प्रयुक्त होती है, का अभिप्राय उन अनेकों परिवारों के समूह से होता था जो एक ही स्थान पर निवास करते थे। भारतीय ग्राम समुदाय को थावर, समयशून्य और परिवर्तनहीन नहीं मान सकते। समय तथा ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय शक्तियों और कारकों की अंत:क्रीड़ाओं ने इन समुदायों की संरचना, गठन और आचार तत्व को कई महत्वपूर्ण दिशाओं में प्रभावित किया है।

भारत के प्रत्येक संस्कृति–क्षेत्र में आकार और जनसंख्या के अनुसार अपने प्रदेश के गाँवों का वर्गीकरण करने के लिए अपनी एक अलग नामावली पाई जाती है। उत्तर और मध्य भारत के हिन्दी–भाषी प्रदेशों में खेड़ा, गाँव और कस्बा में सामान्यत: भेद किया जाता है। इस शोध पत्र में वर्णित गुलरिहा गाँव उ०प्र० के हरदोई जनपद के अवधी–मिश्रित कन्नौजी भाषी क्षेत्र में स्थित है। खेड़ा, गाँव और कस्बा ग्रामीण बस्तियों के बीच भेद केवल आकार और जनसंख्या तक ही सीमित नहीं है तीनों को लोक समाज के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु इनकी आभ्यांतरिक व्यवस्था, आर्थिक आत्मपूर्णता, वाह्त जगत के साथ समवस्था के रंग तथा बृहत् ग्राम समुदाय में प्रभाव और प्रतिष्ठा की मात्रा की दृष्टि से इतने अंतर पाये जाते है कि इन सबको एक श्रेणी में रखने का अभिप्राय महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवहेलना करना होगा। भारत का कोई भी गाँव पूर्णत: स्वायत्त और स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि वह सदैव ही एक व्यापक समाज–प्रणाली का एकक रहा है और एक संगठित राजनीतिक समाज का अंग रहा है। व्यक्ति केवल ग्राम समुदाय का ही सदस्य नही होता, वह जाति, धार्मिक समूह आदि जाति का भी सदस्य

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर (वरिष्ठ ग्रेड) समाजशास्त्र विभाग, डी०ए०वी० कालेज, कानपुर, मो० 09415126765

**सहायक क्षेत्रीय निदेशक, इग्नू क्षेत्रीय केन्द्र, बी.एच.यू., वाराणसी, मो० 09452294129

है जिसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है और कई गाँवों तक फैला होता है। उन एककों का अपना संगठन, सत्ता और अनुशास्तियाँ होती है। **(दुबे, १९९६)**

बर्नाड कोहन ने अठ्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारतीय समाज के अध्ययन के लिए तीन उपागमों को चिन्हित किया (१) पूर्वाभिमुखी उपागम (२) प्रशासनिक उपागम (३) मिशनरी उपागम।

भारतीय संस्कृति से प्रेरित प्रथम उपागम यह मानता है कि वैदिक वांगमय हिन्दुओं की संस्कृति एवं समाज को संचालित करने वाला मुख्य मार्गदर्शक है। यह उपागम ब्राह्मणों को सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र मानता है क्योंकि यह अन्य वर्गों के लिए प्रतिमानों का निर्धारण करते हुये अपनी ज्येष्ठता निर्धारित करते है। पूर्वाभिमुखी उपागम द्वारा शास्त्रीय या पाठीय दृष्टिकोण भारतीय समाज को स्थिर, समयहीन एवं स्थानहीन (गतिशीलता की नगण्य संभावना) मानता है। पूर्वाभिमुखी विद्वानों ने क्षेत्रीय विधमताओं एवं स्थापित प्रतिमानात्मक कथनों तथा व्यक्तियों या समूहों के वास्तविक व्यवहार को नजरअंदाज किया है। भारत में ग्रामीण समुदाय की प्रकृति के बारे में मिशनरियों ने कई प्रश्न खड़े किये हैं। कोहन ने भारत के लोगों को ''उच्च नैतिक आभारों के बोध से परिपूर्ण'' आडम्बरी एवं विद्वेषी रूप में देयकी कहा है। मिशनरियों ने भारतीय समाज के बारे में हवाई कथ्यों एवं आधार रहित तथ्यों के आधार पर धारणा बना ली। (कोहन, १९६८:६) भारतीय गाँवो के बारे में गहन सर्वेक्षण कार्य १८वीं शताब्दी में जमीदारी के सन्दर्भ में प्रारम्भ किये गये। बाद में भारतीय ग्रामों को इंग्लैण्ड के गाँवों से तुलनात्मक रूप में अध्ययन के लिए प्रयोग किया गया। जबकि वर्तमान शताब्दी में ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बारे में सघन आनुभविक अध्ययन लोकप्रिय हुये। प्रारम्भिक विधिवत अध्ययनों में मुनरों, मेटकाफ, मेन और पावेल ने भारतीय गाँवों को 'पृथक एवं बन्द व्यवस्था' के रूप में देखा है। इस दृष्टिकोण ने कई समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों में असन्तोष पैदा कर दिया।

लुई ड्यूमा ने ग्रामीण समुदाय के तीन अर्थ बनाएं है।

१. एक राजनीतिक समाज के रूप में

२. भूमि के सह–मालिकत्व के अंग के रूप में

३. परम्परागत आर्थिकी एवं राजनीति के प्रतीक के रूप में।

मार्क्स एवं मेन जैसे विद्वानों ने भी ग्रामीण समुदाय को भारतीय राजनीति एवं आर्थिकी के अंग के रूप में देखा है। **(ड्यूमा, १९६६, ६७)।**

मेन्डलबाम के अनुसार एक ग्रामीण के लिए गाँव प्राथमिक सामाजिक वास्तविकता है, एक अवलोकनकर्ता के लिए समाज को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण इकाई है।

ड्यूमा एवं पोकाक गाँव को निगमित समूह या विश्लेषण की महत्वपूर्ण इकाई नहीं मानते है। भारतीय ग्रामीण जीवन के विद्यार्थियों के लिए यह स्वीकार करना मुश्किल है कि भारतीय गाँव एकाकी परमाणुवादी एवं स्थिर है। ग्राम बर्हिविवाह ने स्वयं ही पृथकतावाद परमाणुवाद और आत्मनिर्भरता को नकार दिया है।

पचास के दशक में विशेषकर वर्ष १९५५ को ग्रामीण समुदाय के अध्ययनों में एक महत्वपूर्ण आधार वर्ष माना जाता है। प्रो० एस०सी० दुबे की 'इण्डियन विलेज', एम.एन. श्रीनिवास की 'इंण्डियाज विलेजज, डी.एन. मजूमदार की 'रूरल प्रोफाइल', और मेकिम मेरिएट

की 'विलेज इण्डिया' इसी वर्ष प्रकाशित हुई, साठ एवं सत्तर के दशक में भी ग्रामीण अध्ययन समाजशास्त्रीय शोध का केन्द्रीय विषय रहा है। परन्तु शोध के अन्तर्गत एक गाँव के सम्पूर्ण अध्ययन से बहुल गाँव के तुलनात्मक अध्ययन की ओर शोध का पैराडाइम शिफ्ट हुआ है ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (Diachronic) को समसामायिक (Sychronic) अध्ययनों के साथ महत्व प्रदान किया गया। बदलते ग्रामीण समाज के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक विधि के साथ सघन क्षेत्र अध्ययनों पर आधारित आँकड़ो का प्रयोग किया गया। **(मुखर्जी, १९५७)**

बी.आर. चौहान, डी.एन. मजूमदार एवं अन्य मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों ने रेडफील्ड के लोक–नगरीय सातत्य एवं लघु समुदाय, फ्रेमवर्क का परीक्षण किया, एवं इसके विकल्प का भी सुझाव दिया। बी.आर. चौहान ने रूरल स्टडीज में ग्रामीण समुदायों से जाति सम्बन्धों पर चार उपागम उल्लिखित किये। यह है –

(१) एक गाँव एक जाति (२) एक गाँव और कई जातियाँ (३) एक जाति और कई गाँव (४) कई जातियाँ और कई गाँव। (चौहान, १९७४ : ४८) डॉ० चौहान ने ग्रामीण अध्ययनों का गहन सर्वेक्षण प्रदान किया, परन्तु इन्होंने ग्रामीण अध्ययनों के बारे में पद्धतिशास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं उठाये। जबकि एम०एन० श्रीनिवास, एस०सी० दुबे, योगेश अटल, और राम कृष्ण मुखर्जी ने ग्रामीण अध्ययनों एवं उसके महत्व के विषय में महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं।

एम०एन० श्रीनिवास ने विश्वविद्यालयों के भारतशास्त्रीय पाठ्यक्रम को उपलब्ध साहित्यिक निधि की ओर पूर्वाग्रह से ओत–प्रोत बताया है। भारत शास्त्र को भारतवर्ष के भूत के बारे में जानकारी के रूप में देखा जाता है, इस अभिनति या झुकाव का एक मात्र हल क्षेत्र अध्ययनों में निहित है। क्षेत्र अध्ययनकर्ता का प्रत्यक्षीकरण क्षेत्र में विद्यमान तथ्यों की जटिलता से होता है, जैसे कि वह वास्तव में है और जैसा कि उसकी मान्यता थी, इसके बीच भी शोधकर्ता सम्बन्ध स्थापित करता है तथा साथ ही मान्यता एवं वास्तविकता के पारस्परिक अन्तर के कारण ही शोधकर्ता द्वारा लिखित (साहित्यिक) एवं मौखिक (लोक) परम्पराओं को सन्निहित किया जाता है। एम.एन. श्रीनिवास का संस्कृतीकरण तथा प्रभु जाति की अवधारणा को एडमंड लीच, सी पार्थम्मा द्वारा इसलिए आलोचित किया गया, क्योंकि यह श्रीनिवास की उच्च जाति आधारित दृष्टिकोण का परिणाम थी। यद्यपि श्रीनिवास ने ऐतिहासिक अध्ययनों के स्थान पर आनुभाविक अध्ययनों को ही महत्व प्रदान किया, उनके अनुसार ''ऐतिहासिक आँकड़े उतने यथार्थ, और विस्तृत नहीं होते, जितने कि क्षेत्र अध्ययन द्वारा इकट्ठा किये गये आँकड़े।'' सघन क्षेत्र अध्ययन को श्रीनिवास ने मात्र रामपुरा के कुर्ग के अध्ययन द्वारा ही महत्व प्रदान नहीं किया, बल्कि इनके विद्यार्थियों एवं सहयोगियों ए.एम.शाह, आन्द्रे बेंते और आनंद चक्रवर्ती द्वारा भी सघन क्षेत्र अध्ययन को आगे बढ़ाया गया। श्रीनिवास ने सर्वेक्षण विधि एवं सांख्यिकीय पद्वति के स्थान पर सहभागी अवलोकन पद्धति को अपनाये जाने पर बल दिया।

एस०सी० दुबे ने संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम को अन्य उपागमों की तुलना में महत्वपूर्ण माना है संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम ग्रामीण अध्ययनों के लिए कमोवेश संतोषजनक अवधारणात्मक यंत्र (Conceptual Tool) है। रेडफील्ड का लोक नगरीय सातत्य (Folk Urban Continuum) इसी तरह का अवधारणात्मक साँचा प्रदान करता है। डॉ० दुबे के

अनुसार संदर्भपरक, शास्त्रीय और स्थानीय परम्पराएँ तथा क्षेत्रीय (संस्कृति क्षेत्र) पश्चिमी (वैचारिक–प्रोद्योगिकीय) और उभरती राष्ट्रीय परम्पराएँ भारतीय ग्रामीण समुदाय के अध्ययन के लिए लाभप्रद हो सकती है। यह वास्तव में रेडफिल्ड–मेरिएट– श्रीनिवास की ग्रामीण अध्ययन योजना का विकल्प प्रस्तुत करता है।

ए०आर० देसाई के अनुसार रामकृष्ण मुखर्जी का ग्रामीण समाज अध्ययन विषयक उपागम श्रीनिवास, एस०सी० दुबे और योगेश अटल से गुणात्मक रूप में भिन्न है। मुखर्जी ने उन उपनिवेशवादी शक्तियों एवं कारकों का विश्लेषण किया, जिन्होंने ग्रामीण अध्ययनों के लिए प्रेरित किया। प्रो० मुखर्जी सामाजिक मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों की तुलना करके इस बिन्दु पर पहुँचे कि अर्थशास्त्री सामाजिक–सांस्कृतिक साँचा (Socio-Cultural Matrix) की उपेक्षा करते हैं जबकि समाजशास्त्री एवं मानवशास्त्रियों ने आर्थिक एवं वर्गीय साँचा को (Economic and Class Matrix) को नकारा है। मुखर्जी ने एक संश्लिष्ट उपागम जिसमें सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक पक्षों को सम्मिलित किया जाता है, का ग्रामीण जीवन के अध्ययन के लिए प्रयोग किया। मुखर्जी का अध्ययन ''डायनामिक्स आफ रूरल सोसाइटी'' वर्ग (आर्थिक) एवं जाति (सा०–सांस्कृतिक) के पारस्परिक सम्बन्धों एवं संस्तरण पर बल देता है। पद्धतिशास्त्रीय तरीके से भी यह ऐतिहासिक एवं आनुभाविक तथ्यों के संयोजन से किया गया अध्ययन है।

हरदोई के बृजवासी समुदाय का नृजातीय विवेचन :–

समाज में परिवर्तन एक शाश्वत सत्य है उसी के साथ व्यक्ति की मानसिकता, क्रियाकलापों मूल्य व्यवस्था में भी बदलाव आता है। लेकिन बृजवासी समुदाय एक सीमा तक अपनी परम्पराओं, रीति–रिवाज, संस्कृति, व्यवसाय को आज भी निरन्तर रखे हुये हैं। बृजवासी समुदाय की स्त्रियाँ अपने गायन और नृत्य कौशल से सांस्कृतिक कार्यक्रमों की शोभा बढ़ाती हैं। बृजवासी समुदाय पूर्णरूप से महिला प्रधान समाज है। आर्थिक सामाजिक निर्णय महिलाएँ ही करती है। इस समुदाय की केन्द्रबिन्दु महिलाए ही है। बृजवासी महिला मुजरा, नौटंकी, विवाह एवं तिलक समारोहों में नाचती गाती हैं। जिससे इन परिवारों का भरण–पोषण होता है। यहाँ के लोग पूर्णरूपेण से स्त्रियों पर आश्रित है।

बृजवासी समुदाय के लोग अपने पूर्वजों की उत्पत्ति मथुरा, वृन्दावन मानते है जिसके कारण बृजवासी 'ग्वाल' कहलायें। यह भी विश्वास है कि इनके पूर्वज 'कृष्ण–भगवान' के साथ उनकी रासलीलाओं में भाग लेते थे, उनके साथ नाचते गाते थे। तभी से नाचते–गाने की परम्परा पीढ़ी–दर पीढ़ी चलती आ रही है। ये लोग हरदोई जनपद के अलावा सीतापुर, शाहजहाँपुर, लखीमपुर, गोंडा, बहराईच, बाराबंकी, कन्नौज, फर्रूखाबाद आदि निकटवर्ती जनपदों में नाचने गाने के व्यवसाय के लिए जाते है। बृजवासी महिलाएँ विशेषकर ठुमरी, कव्वाली, फिल्मी गीत, सोहर, विवाह में बन्ना–बन्नी (Groom-Bride) आदि तथा ग्रामीण समाज को अधिक पसन्द आने वाले दोहरे अर्थ वाले गीत गाती हैं। इन गीतों को विशेष इशारे से प्रस्तुत करती है। बृजवासी पुरूष नौटंकी ड्रामा में महिला नर्तकी के साथ जोकर के रूप में आता है तथा नये–नये चुटकले सुनाता है।

यदि गुलरिहा गाँव के अर्थ को देखा जाये तो गुल का अर्थ नृत्यांगना, रिहा का अर्थ—राग, गीत, संगीत से बना है। बृजवासी समुदाय के लोग नृत्य और संगीत के बिना अपने को अधूरा मानते है। हरदोई जनपद लखनऊ से ९० किमी. दूर स्थित है। यह गाँव उ०प्र० के हरदोई जनपद के टडियॉवा विकास खण्ड में स्थित है। इस गाँव की कुल जनसंख्या २५०० के लगभग है। बृजवासी समुदाय वर्तमान में अनुसूचित जातियों के अन्तर्गत आते है।

शोध प्रविधिकी : (Research Methodology) :

प्रस्तुत अध्ययन अन्वेषणात्मक एवं विवरणात्मक प्रारूप का अध्ययन है। इसका प्राथमिक उद्देश्य बृजवासी समुदाय के लोगों की विश्वास व्यवस्था, धर्म, व्यवसाय, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, सांस्कृतिक व्यवस्था का विवेचन करना एवं इनमें परिवर्तन के कारकों को उद्भाषित करना है। उ०प्र० के हरदोई जनपद का गुलरिहा गाँव बृजवासियों का ही है, अत: इनकी सांस्कृतिक निधि (Cultural Capital) को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया तथा गुलरिहा गाँव के समस्त निवासी इस अध्ययन के समग्र (Universe) का निर्माण करते हैं।

१९० उत्तरदाताओं को साधारण दैव निदर्शन विधि द्वारा चयन किया गया एवं आँकड़ों को प्रत्येक घर के मुखिया के द्वारा इकट्ठा किया गया। सूचना संकलन एवं आँकड़ों को संकलित करने के लिए अर्द्ध संरचित साक्षात्कार अनुसूची एवं विषय की जटिलता को देखते हुये सहभागी अवलोकन का प्रयोग किया गया। बृजवासियों के परम्परागत जीवन—शैली के बारे में नृजातीय स्रोतों, जनगणना, ग्राम पंचायत रजिस्टर एवं सरकारी प्रतिवेदनों जैसे द्वितीयक स्रोतों के माध्यम से सूचनाएँ संकलित की गई। बृजवासियों के जीवन के विभिन्न पक्षों के बारे में एवं घटित होने वाले परिवर्तन के बारे में आँकड़े क्षेत्र अध्ययन एवं आनुभविक सत्यापनीकरण के माध्यम से प्राथमिक स्रोतों के अन्तर्गत संकलित किये गये।

प्रस्तुत अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये है—

१. बृजवासी समुदाय के सन्दर्भ में आंचलिक विवेचन करना।
२. बृजवासी समुदाय की धर्म एवं विश्वास व्यवस्था की व्याख्या करना।
३. बृजवासी समुदाय में सामाजिक परिवर्तन के कारकों को उद्भासित करना।
४. सांस्कृतिक एवं राजनैतिक व्यवस्था की व्याख्या करना।
५. उत्तरदाताओं की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि की व्याख्या करना।

उत्तरदाताओं की सामाजिक—आर्थिक पृष्ठभूमि :—

उत्तरदाताओं की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का प्रथम दृष्टांकन आवश्यक है ताकि इन सांख्यिकीय आँकड़ो के आलोक में सम्पूर्ण नृजातीय विश्लेषण को सरलता से समझा जा सके।

तालिका—१

आयु के आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र.सं.	आयु (वर्ष में)	पुरूष		महिला		कुल	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1.	0.10	14	15.6	11	11.3	25	13.2
2.	11.20	17	18.3	21	21.6	38	20
3.	21.30	19	20.4	31	31.9	50	26.4
4.	31.40	26	27.8	16	16.5	42	20.2
5.	41.50	11	11.91	10	10.3	21	10.1
6.	51 से अधिक	6	6.45	8	8.2	14	7.3
7.	कुल	93	100	97	100	190	100

तालिका—२

शैक्षिक आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र. सं.	शिक्षा (कक्षा में)	पुरूष		महिला		कुल	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1.	0. 5 तक	19	20.4	22	22.68	41	21.57
2.	6.10 तक	22	23.65	13	13.40	35	18.42
3.	इण्टरमीडिएट	14	15.05	6	6.18	20	10.52
4.	स्नातक/परास्नातक	9	9.65	3	3.09	12	6.31
5.	अशिक्षित	29	31.18	53	54.63	82	43.15
6.	कुल	93	100	97	100	190	100

तालिका—३

आर्थिक स्थिति के आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र. सं.	वार्षिक आय (रूपये में)	पुरूष		महिला		कुल	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1.	0.18,000	46	49.462	5	4.85	51	26.842
2.	18001.25,000	26	31.182	141	10.67	40	21.052
3.	25001.40,000	11	11.827	32	31.04	43	22.631
4.	40,000 से अधिक	7	7.526	49	47.53	56	29.473
	कुल	7	7.526	49	47.53	56	29.473

तालिका—४
राजनैतिक संरचना के आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र. सं.	राजनीति का स्तर	पुरूष		महिला		कुल	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1.	प्रादेशिक स्तर का	-	-	-	-	-	-
2.	जिला स्तर का	-	-	-	-	-	-
3.	ब्लाक स्तर का	1	1.07	-	-	1	0.52
4.	ग्राम पंचायत स्तर पर	5	5.3	3	3.09	8	4.2
5.	कोई स्तर नहीं	87	93.6	94	96.9	181	94.2
	कुल	93	100	97	100	190	100

तालिका ४ से स्पष्ट होता है कि गुलरिहा गांव के बृजवासी समुदाय में भी पुरूष या महिला राष्ट्रीय, प्रादेशिक व जिला स्तर का नेता नहीं है, ब्लाक स्तर का सिर्फ एक पुरूष नेता है जिसका कुल प्रतिशत ५२ है। ग्राम पंचायत स्तर के नेताओं में ५ पुरूष और ३ महिलाएँ है जिनका प्रतिशत ४.२ है। बाकी ९४.२ प्रतिशत लोग किसी भी प्रकार की राजनीति से जुड़े नहीं है।

तालिका—५
बृजवासी समुदाय के परिवार का स्वरूप

क्र. सं.	परिवार	पुरूष		महिला		कुल	
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत
1.	संयुक्त	29	31.2	31	31.9	60	31.5
2.	एकांकी परिवार	64	68.4	66	68.04	130	68.4
	कुल	93	100	97	100	190	100

तालिका— ५ से यह स्पष्ट होता है हम जितने लोगों से मिले उनमें से ३१.२ प्रतिशत पुरूष और ३१.९ प्रतिशत महिलाएं सयुंक्त परिवार से जुड़ी हैं। इस समुदाय में कुल ३१.५ प्रतिशत लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं। और ६८.४१ पुरूष और ६८.०४ प्रतिशत महिलाएं एकाकी परिवार में निवास करते हैं। इस प्रकार कुल ६८.४ प्रतिशत लोग एकाकी परिवार में निवास कर रहे हैं।

तालिका—६
बृजवासी समुदाय की वैवाहिक स्थिति के अनुसार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र. सं.	आयु वर्ग (वर्ष में)	वैवाहिक स्थिति								कुल	
		विवाहित		अविवाहित		विधवा/विधुर		सम्बन्ध विच्छेद		संख्या	प्रतिशत
1.	0.15	28	19.3	16	55.5	-	-	-	-	-	-
2.	16.25	40	27.5	4	13.7	2	18.11	1	20	47	24.7
3.	26.35	39	26.8	5	16.2	1	9.09	1	20	46	24.1
4.	36.50	30	31.03	3	10.3	0	-	2	40	35	18.4
5.	50 से अधिक	8	5.5	1	3.4	8	72.71	1	20	18	9.4
	कुल	145	100	29	100	11	100	5	100	190	100

बृजवासी समुदाय की विश्वास व्यवस्था तथा धर्म :—

सम्पूर्ण मानव समाज में धर्म की मान्यता न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है। आधुनिक वैज्ञानिक मानव समाज तर्क की तराजू पर धार्मिक मान्यताओं को तौल कर स्व—विवेक के माध्यम से इसे नकारने का प्रयास करता रहा है। अपने चिंतन की पराकाष्ठा पर पहुँचकर यह सोचता है कि ''अतिमानवीय'' और 'अलौकिक' शक्ति की सत्ता में विश्वास, जिसका वैज्ञानिक तकनीकों से सत्यापन संभव नहीं, अंध विश्वास है। इस समूह के चिंतकों ने धर्म को अंध विश्वास की संज्ञा दे रखी है। फलस्वरूप इस समाज के अधिकतर लोग धार्मिक क्रिया—कलापों में रूचि नहीं रखते और कुछ इन विश्वासों की वैधता को नहीं मानते हैं। लेकिन अभी भी सरल समाजों में लोगों का विश्वास है कि प्राकृतिक क्रियाओं और मानव प्रयत्नों की सफलता ऐसी सत्ताओं के नियन्त्रण में है जो दैनिक अनुभूति से परे है और जिनका हस्तक्षेप घटनाक्रम को बदल सकता है। ऐसी सत्ताओं के लिए ''दैवी'' शब्द का प्रयोग किया गया है।

लूसी मेयर की मान्यता है कि धर्म विश्वास और कर्म दोनों का ही समावेश है सभी नृविज्ञानी क्रियाओं की महत्ता पर एकमत हैं। पर विभिन्न कालों में भिन्न—२ विश्वासों पर उन्होंने अलग—२ तरीके से विचार किया है। **(उपाध्याय, १९८५:३५)**

भारतीय गाँवों में रहने वाले लोगों के धार्मिक विश्वासों और कर्मकांडों का वर्गीकरण करना सरल नहीं है, लोक—रीतियों और मिथक, मनीषियों के धार्मिक उपदेश तथा धार्मिक ग्रंथों का ज्ञान रखने वाले लोगों से सम्पर्क ने इनकी धार्मिक विचारधारा को प्रभावित किया हैं। इसी के परिणाम स्वरूप उनका धर्म जीववाद, बहु ईश्वरवाद और एकेश्वरवाद का अद्‌भुत मिश्रण है। इनमें प्रेतात्माओं, भूत, दैत्यों, चुड़ैलों और जादू में जीवंत आस्था को भी जोड़ा जाना चाहिये। ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के अधिभौतिक जगत का निर्माण विभिन्न कारणों के समागम से हुआ है।

बृजवासी (ग्वाल) समुदाय के लोग देवी—देवताओं में बहुत अधिक आस्था रखते हैं। बृजवासी समुदाय के लोग हिन्दू धर्म के मानने वाले हैं पर भगवान कृष्ण, ब्रह्मा, काली माँ आदि

की पूजा करते हैं। तथा हिन्दू त्योहारों, जिनमें होली, दीपावली, रक्षाबन्धन आदि प्रमुख है, को मानते हैं। यह लोग बृजवासी समुदाय की रक्षा के लिए अपने कुल देवताओं की ''भादव'' के महीने में कृष्णपक्ष तिथि पंचमी को ईष्ट देव 'हरदेव राजा' तथा 'नटराज' की संयुक्त रूप से पूजा करते हैं। पूजा के दौरान बृजवासी समुदाय का मुखिया/सरपंच उस आयोजन को सम्पन्न कराता है। गाँव के सभी बृजवासी समुदाय के लोग 'हरदेव राजा' की जयकार करते हुये काले, पीले, लाल झण्डे लहराते हुये सम्पूर्ण गाँव का चक्कर लगाते हैं। इस पूजा में गाँव का सबसे उम्रदराज व्यक्ति मिट्टी की मटकी लिये रहता है जिसमें सम्पूर्ण पूजन सामग्री होती है। गांव के किनारे एकान्त स्थान पर वंदन, मिठाई, अगरबत्ती, बतासे आदि सामग्री से पूजा करते हैं। इस पूजा का निहितार्थ बृजवासी समुदाय की 'हरदेव राजा' द्वारा रक्षा की कामना एवं कल्याण है। इसी क्रम में बृजवासियों में 'दधी' की परम्परा पाई जाती है। जिसके अन्तर्गत बृजवासी समुदाय के लोग पहले निकटवर्ती गाँवों में जाकर नाचते हैं, इसमें गाँव वालों को आमन्त्रण नहीं होता है परन्तु इसके माध्यम से ये लोग अपने व्यवसाय के बारे में लोगों को अवगत कराते हैं। वस्तुत: 'दधी' का अर्थ दही से है जो बहुत प्राचीन है, बृजवासी समुदाय के लोगों के पूर्वज नाचने–गाने के बदले गाँव वालों से दही, मक्खन आदि प्राप्त करते थे। जो प्रत्येक घरों में बृजवासी समुदाय की जजमानी व्यवस्था थी। इसी से यह लोग बृजवासी या 'ग्वाल' कहलाये। लेकिन जैसे– समाज में परिवर्तन हुआ यह व्यवस्था खत्म हुई, लेकिन इस समुदाय का पारम्परिक व्यवसाय चलता रहा। इस समुदाय के लोग धन मूल्य लेने लगे। कुछ समय तक नाचने–गाने के बदले खाद्यान्न, वस्तु मिलता था। बृजवासी समुदाय में जादू–टोना आदि की चर्चा करने से पहले आवश्यक है कि इसके मानवशास्त्रीय व समाजशास्त्रीय निहित अर्थ को समझा जाय। फ्रेजर ने विज्ञान के दो आधारभूत नियमों को प्रायोगिक स्वरूप देते हुये जादू में दो प्रकारों को माना हैं। एक तो वे जो कार्य–कारण के सिद्धान्त पर आधारित समानता के नियम का प्रायोगिक परिणाम होते है। इन्हें ''होम्योपैथिक मैजिक'' कहा है दूसरा वो जो सम्पर्क के सिद्धान्त का परिणाम होते हैं इन्हें संक्रामक जादू (Contagious magic) कहा है परन्तु इसके स्थान पर सन्दर्भ को देखते हुये सम्बन्धित जादू (Productive magic) एवं संरक्षणात्मक जादू (Protective magic) अधिक उचित लगता है। प्रथम जादू जो कि उत्पादन वृद्धि एवं सम्पन्नता की कामना से किया जाता है। क्रमश: दूसरा रोगग्रस्तता या अन्य संकटों से संरक्षण के लिये किया जाता है। वृजवासियों में नवजात शिशुओं की बीमारी को लेकर भ्रम होता है कि इन बच्चों पर जादू–टोना कर दिया गया है। अत: गुलरिहा गाँव में एक बुजुर्ग महिला है जो कि झाड़ फूँक का कार्य करती है एवं लौंग के ताबीज देती है इस विश्वास के साथ कि यह संकट में उनकी रक्षा करेगा। इसमें वह संरक्षणात्मक जादू (Protective magic) का प्रयोग करती है। हरदोई में स्थित प्राचीन बूढ़े बाबा का मन्दिर इनकी घोर आस्था का केन्द्र बिन्दु है बृजवासियों का यह विश्वास है कि बूढ़े बाबा, उनकी पुत्री प्राप्ति की कामना अवश्य पूरी करते है।

पशुबलि :

अपने कुल देवता की पूजा के बाद प्रत्येक परिवार में पशुबलि दी जाती है। बलि के लिए भेड़, बकरी, सुअर को उपयुक्त माना जाता है तथा इसके माँस को पकाकर प्रसाद के रूप में

खाया जाता है। पशुबलि बृजवासी समुदाय में त्योहार के रूप में मनाया जाता है तथा बृजवासी परिवार के नातेदारों को न्योता दिया जाता है। पशुबलि वर्ष में एक बार दी जाती है तथा हरदेव राजा की पूजा करने के बाद ही बृजवासी समुदाय के लोग नाचने–गाने के धन्धे की शुरूआत करते है।

पंचायत व्यवस्था (Panchayat System) :

'गुलरिहा' गाँव के बृजवासी समुदाय के लोग पंचायत बुलाते हैं। इस पंचायत का सरपंच गाँव के ही बुजुर्ग हैं। गाँव में होने वाले सभी पंचायत की सभा में प्रधान करन सिंह की मुख्य भूमिका है। वह अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय लेने के लिए पंचायत को निर्देशित करता है। छोटे–बड़े झगड़े जो दीवानी या फौजदारी अदालतों में साधारणतया नहीं जाते हैं उन्हें पंचायत निपटाती हैं। इस पंचायत के अपने कानून हैं। किसी विवाद की पृष्ठभूमि को जानने के लिए यह पंचायत 'कसम' (शपथ) उठवाती है। यह (शपथ) कठोर होती है। दोषी व्यक्ति इसके नाम से डर जाता है या फिर नहीं मानता है तो उसे लोहे की कुशी (यह तीन फलक वाले जोतनें वाले हल का एक फलक है) अंगारों में पकाकर सुर्खलाल की जाती है। सम्बन्धित व्यक्ति के हाथ पर पीपल के पत्ते धागे से बाँध कर उससे पाँच व्यक्ति मिलकर हाथ पर रख देते हैं तथा व्यक्ति को सात कदम चलकर फेंकने को कहा जाता और यदि वह 'कसम' (शपथ) उठा लेता है तो उसे पुरुस्कार दिया जाता तथा विपक्ष के व्यक्ति पर पंचायत जुर्माना लगाती है।

जीवन पथ के संस्कार (Rites-de-Passage) :–

प्रत्येक समाज में आयुवृद्धि के साथ–साथ व्यक्तियों की प्रस्थितियों में परिवर्तन होते है। अक्सर कुछ समाजों में प्रस्थितियों के इस परिवर्तन को संस्थागत स्वरूप प्रदान किया जाता है। बृजवासी समुदाय में भी एक आयुवर्ग से दूसरे आयुवर्ग में प्रवेश के अवसर पर अत्यन्त व्यापक स्तर पर एक लम्बी सांस्कारिक प्रक्रिया का आयोजन किया जाता है। इस समुदाय में बाल्यकाल से प्रौढ़ावस्था में परिवर्तन को किसी प्रकार के क्षतांकन (Circumcision or sacrification) की क्रिया द्वारा सांकेतिक रूप प्रदान करते हैं। इस प्रक्रिया में सम्बन्धित किशोरों को थोड़ा समय सामान्य जीवन से बिल्कुल विलगित होकर व्यतीत करना पड़ता है। इस समय के दौरान उन्हें विशेष प्रकार के नियमों एवं निषेधों का पालन करना पड़ता है। ऐसे कृत्यों को संक्रमण कर्मकाण्ड (Rites of Transition) कहा गया है।

कम धार्मिक समाजों में भी जन्म, विवाह एवं मृत्यु यह तीनों अक्सर प्रस्थितियों में परिवर्तन के द्योतक है। बृजवासियों में इन तीनों प्रस्थितियों पर हम दृष्टिपात करते हैं तो निम्नरूप परिलक्षित होता है :

जन्म की प्रथाएँ :

परिवार में शिशु के जन्म पर उसकी माता और परिवार के अन्य सदस्य अपवित्र हो जाते है। जन्म के तीसरे व पाँचवे दिन माता को छोड़कर परिवार के अन्य सदस्यों की धार्मिक अपवित्रता को दूर करने के लिए पुरूष संस्कार (लोबान मिश्रित दुग्ध से स्नान) सम्पन्न किये जाते हैं। माता इक्कीस से तीस दिन तक अपवित्र रहती है।

बृजवासी जाति में पुत्र की अपेक्षा पुत्री के जन्म को श्रेष्ठकर माना जाता है। इस

समुदाय के लोग पुत्र जन्म में खुशी नहीं मनाते हैं बल्कि पुत्री के जन्म के अवसर पर बधाई–गीत गाकर एक दूसरे को मिठाईयाँ बाँटकर खुशी मनाते है। इस समुदाय की मान्यता है कि लड़की बड़ी होकर धन कमायेगी, और उनके जीवन का सहारा बनेगी। लड़के को परिवार का बोझ माना जाता है। लड़की के जन्म के तुरन्त बाद उसके पैरों में घुँघरू को स्पर्श कराने की परम्परा है। जिसे कि उसके कुशल नृत्यांगना बनने के आशीर्वाद के रूप में देखा जा सकता है। कमोवेश मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण ही पुत्री के नामकरण का अधिकार सिर्फ माता को होता है। बृजवासी समुदाय में प्रसूतियाँ उनके अपने घरों पर होती है। जब तक बृजवासी महिला प्रसूति–गृह में रहती है, धानुक जाति की दाई उसकी देखभाल करती है। नवजात शिशु के मुंह में बकरी का दूध डाला जाता है। छ: दिन बाद पुत्री के जन्म होने पर 'छठी' मनाई जाती है जिसमें पुत्री की बुआ खीर बनाकर गाँव की महिलाओं को खिलाती है।

विवाह की परम्पराएँ :

वस्तुत: बृजवासी (ग्वाल) हिन्दू धर्म को मानते हैं लेकिन इनमें विवाह की अपनी अलग परम्परा है। इस समुदाय में **''बहू खरीदने तथा बेटी बेचने की परम्परा है''।** बृजवासियों में इसके साथ–साथ बहुपत्नी विवाह का भी प्रचलन है। एक पुरूष अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार दो–तीन पत्नी भी खरीद कर विवाह कर लेता है। इस समुदाय में विवाह के सम्बन्ध में आयु कोई बाधा नहीं है। शर्त यह है कि वधू पक्ष की मांग के अनुसार वर पक्ष 'वधूमूल्य' दे सके। यह वधूमूल्य उत्तरदाताओं के अनुसार २५००० रू० से लेकर १ लाख तक होती है। इस 'वधूमूल्य' के मूल्यांकन का आधार वधू की सुन्दरता तथा नाचने–गाने की कला है। विवाह के समय बृजवासियों में एक ऐसी भी परम्परा है जो कि इनकी मातृसत्तात्मक एवं मातृवंशीय होने का अहसास दिलाती है। 'विवाह के समय वर को वधू की माँ के बालों की लटों को धोकर पिलाया जाता है।'

वृजवासी महिलाओं में विवाहित होने के बाद भी नाचने–गाने के दौरान किसी आर्थिक रूप से सशक्त व्यक्ति से प्रभावित होकर विवाह का प्रस्ताव रखना एवं विवाह कर लेना सामान्य रूप से पाया जाता है। यद्यपि जमींदारी प्रथा के समय यह बहुत अधिक था, अब उतना अधिक प्रचलन में यह परम्परा नहीं है।

मृत्यु के संस्कार :

बृजवासी समुदाय के लोग हिन्दू रीति के अनुसार मृतक के शव को अपने गाँव के किनारे खेतों में जला देते हैं तथा अस्थियों को नदी में प्रवाहित करते हैं। बच्चों की मृत्यु पर उनके शवों को गड्ढे में दफनाया जाता है।

बृजवासी महिला की मृत्यु होने पर उसके शव का श्रृंगार किया जाता है तथा पैरो में घुंघरू बांधे जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि जीवन से मृत्यु तक घुंघरू ने साथ दिया। वस्तुत: पुत्री के जन्म के समय घुंघरू स्पर्श कराने की परम्परा का ही यह विस्तारण है। इस समुदाय के लोग पारिवारिक सदस्य की मृत्यु के बाद अपने सिर के बाल एवं मूंछे नहीं मुड़वाते है, लेकिन जब इनका पालतू कुत्ता मर जाता है तो अपने सिर के बाल और मूंछे मुड़वाते है। बृजवासियों में श्राद्ध व्यवस्था को 'चूरमों' कहा जाता है। तेरहवीं के दिन बृजवासी समुदाय के लोग पंचायत को

बुलाकर लाई, चना, गुड़ सामूहिक रूप से खाते है। बृजवासी लोग 'भोज' नहीं करते जो हिन्दू रीति में विदित है, न ही 'पतली' निकालते हैं, यह प्रक्रिया ही 'चूरमों' के नाम से जानी जाती है।

आर्थिक व्यवस्था :

बृजवासी जाति का मुख्य पेशा नाचना–गाना ही है लेकिन यह व्यवसाय ज्यादा महीनों तक नहीं चलता है, शहलग (वैवाहिक कार्यक्रमों का समय) दो या तीन महीनें तक सीमित रहता है। इसके बाद कृषि कार्य करके भरण–पोषण करते है। अधिकांश बृजवासी नर्तकी महिला को एक दिन का पारिश्रमिक १००० रूपये से २५०० रूपये तक होता है। अर्थात् वार्षिक आय ४०००० रू० ५०००० रू० तक हो जाती है। उत्तरदाताओं द्वारा प्राप्त निष्कर्षो से यह भी पता चलता है कि बृजवासी समुदाय की महिलायें वेश्यावृत्ति के पेशे में भी संलग्न हैं और इस पेशे को सहज रूप में लिया जाता है साथ ही ये आर्थिक आय के बड़े हिस्से को पूरा करता है। कुछ उत्तरदाताओं के पास पर्याप्त मात्रा में कृषि तथा कृषि योग्य साधन है। बृजवासी लोग गाय, भैंस, बकरी, बैल, कुत्ता आदि पालते हैं।

अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध (Interpersonal Relationship) :

समाज के परम्परागत मानकों के अनुसार पति के पास परिवार की सत्ता होती है, पत्नी के निष्ठावान होने एवं पति की बात मानने की अपेक्षा होती है। किन्तु बृजवासियों में यथार्थ इससे भिन्न है बृजवासी परिवारों में पत्नी की सत्ता होती है। परिवार के सारे निर्णय पत्नी ही करती है यौन सम्बन्धी मामलों में वह स्वतंत्र होती है। इस समुदाय की महिलाएँ, घर के किसी भी सदस्य से यौन सम्बन्ध बना सकती हैं। इस प्रकार के पारिवारिक यौन सम्बन्धों को सामाजिक बन्धनों से मुक्त रखा गया है। बृजवासी समुदाय में यौन स्वच्छन्दतावाद विद्यमान है। बृजवासी समुदाय के पुरूष पुत्रवधू, भाई की पत्नी से यौन सम्बन्ध बना सकता है। इसका मुख्य कारण है कि कम आयु में विवाह होना और लड़के की आयु से अधिक बहू लाना, इससे बड़ा भाई जो पहले से विवाहित है, छोटे भाई की पत्नी से यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है या पुत्रवधू से सम्बन्ध बना लेता है।

नातेदारी व्यवस्था (Kinship System) :

बृजवासी समुदाय अपने गाँव में अधिकतर विवाह करते हैं। इनमें मामा की लड़की से, बुआ की लड़की से, मौसी की लड़की से विवाह हो जाता है। अर्थात् जिस परिवार की बहू लाते हैं उन परिवारों में लड़की भी दे देते हैं। गुलरिहा गाँव के बृजवासियों का विस्तृत नातेदारी समूह लखीमपुर खीरी, शाहजहाँपुर, फर्रूखाबाद, सीतापुर एवं उन्नाव जनपदों तक फैले हैं।

वंश समूह वाह्य रूप से समांग संरचना (Homogenous) वाले समूह प्रतीत होते हैं, किन्तु आंतरिक रूप से इनमें विघटनात्मक शक्तियाँ सदैव कार्यरत रहती हैं। जिसके परिणामस्वरूप एक बड़े वंश समूह का बिखराव छोटे वंश समूहों में होता रहता है। आकार में अंतर के आधार पर इन वंश समूहों को महत्तम वंश समूह (Maximum Lineage), मध्यम वंश समूह (Medial Lineage) तथा अल्पतम वंश समूह (Minimal Lineage) कहा जाता है। बृजवासियों में तीनों स्तर के वंश समूह पाये जाते है। वंश समूहों का कार्यक्षेत्र वैधानिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कारिक गतिविधियों से सम्बन्धित होता है।

बृजवासियों की बोली :

भाषा की दृष्टि से यह अध्ययन क्षेत्र अवधी मिश्रित कन्नौजी के अन्तर्गत आता है। परन्तु इनकी अपनी स्थानीय जातीय बोली है। जिससे इनके मथुरा मूल का निवासी होने पर संदेह होता है।

नातेदारी व्यवस्था से इनके सम्बोधन इस प्रकार हैं जैसे—

पिता का सम्बोधन	—	बाऊ
माता	—	माई छे
बड़े भाई	—	भोटो छे
छोटे भाई	—	नानको
बड़ी बहू	—	अतरा भौटी छे
मामा	—	मोलमा
बुआ	—	बाबडी
बाबा	—	अप्पा
दादी	—	अइया (यह अवधी का शब्द है)

वस्तुओं का सम्बोधन इस प्रकार है :

दूध	—	रसीलों
घी	—	खडीलो
पानी	—	नालको
शराब	—	नडेकी
माँस	—	टोबी
मछली	—	छम्मी
दाल	—	दीलालकी
रोटी	—	बाटी
रूपया	—	गोना
नाचना	—	खिंचो
गाना	—	जोलो
घर	—	नध
आटा	—	पीठो

इस शब्दों से प्रथम दृष्टया इनके राजस्थान मूल का आभास होता है।

परिवर्तन के कारक :

एक शताब्दी से अधिक समय से समयशून्य और 'परिवर्तनशून्य' भारतीय ग्राम रोमानी लोगों का आदर्श रहा है। फिर भी 'गुलरिहा' जैसे ग्राम का समाजशास्त्रीय अध्ययन, जो जागीरी परिवेश के कारण पृथक्कीकृत हो जाने से ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन की धाराओं से असंपृक्त रहा, फिर भी यह सांस्कृतिक व संस्थात्मक परिवर्तन की कुछ निश्चित प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है।

बृजवासी समुदाय की सम्पूर्ण व्यवस्था नाचने—गाने से ही चलती है। बृजवासी महिला

इसकी मुख्य स्तम्भ है। बृजवासी समुदाय में महिलाओं को 'धन की देवी' कहा जाता है। परन्तु सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तनों से यह गाँव भी अछूता नहीं है। इस परम्परागत व्यवसाय में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण व्यवसायिक परिवर्तन हुआ है। व्यावसायिक भिन्नकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। महिला की गर्भावस्था के दिनों में परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर पड़ जाती थी। इसलिए पुरूष हींग, इत्र तथा नकछेदन का कार्य करने लगे, नगरीकरण के कारण बृजवासी महिलाओं ने परम्परागत व्यवसाय में परिवर्तन करते हुये। आर्केस्ट्रा तथा डी॰जे॰ की धुनों पर नाचना सीख लिया, अर्थात नृत्य शैली में भी परिवर्तन कर लिया। इन्होंने अपने पहनावा में भी परिवर्तन कर लिया, घुंघरू का महत्व कम हो गया, इसके स्थान पर तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी का प्रयोग बढ़ गया। अर्थात् गाँव के लोगों की पोशाक और उनके आभूषणों में दर्शनीय परिवर्तन हुआ है।

बृजवासी समुदाय में धार्मिक परिवर्तन देखने को मिलता है। गुलरिहा गाँव में जो नटराज का मन्दिर है जिनकी पूजा के बाद ही वह अपने व्यवसाय को आगे बढ़ाते है, परन्तु समाज की उच्च जातियों ने नर्तकी का मन्दिर में प्रवेश प्रतिबन्धित कर रखा था, पुरोहितों का यह मानना था कि इनके मन्दिर प्रवेश से अपवित्र हो जायेगा। अत: यह लोग मन्दिर के बाहर से ही पूजा—अर्चना करते थे।

परन्तु नगरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के कारण अब लोगों की सोच में अन्तर आया, तथा मन्दिरों में बृजवासियों का प्रवेश प्रारम्भ हो गया। शिक्षा के क्षेत्र में भी परिवर्तन अंकित हो रहे है। गुलरिहा गाँव में पहले कोई विद्यालय नहीं था, परन्तु अब एक प्राथमिक विद्यालय एवं कई आँगनवाड़ी केन्द्र चलते हैं। आँगनवाड़ी केन्द्र की संचालिका बृजवासी जाति की पहली स्नातक महिला ही है। बृजवासी समुदाय में पहले लड़कियों को बचपन से ही नाचने—गाने की तालीम दी जाती थी। शिक्षा पर उतना अधिक बल नहीं दिया जाता था। परन्तु वर्तमान में गाँव की बालिकाएँ शिक्षा गृहण कर रही है। इसलिए गाँव में बालिकाएँ प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करके लखनऊ स्थित नृत्य अकादमी में प्रवेश ले रही हैं और अधिक कुशल नृत्यांगना बन करके वह व्यवसाय को आगे बढ़ाना चाहती है। अर्थात् परम्पराओं का आधुनिकीकरण हुआ, परम्पराएँ विखण्डित नहीं हुई हैं।

गुलरिहा बृजवासी समुदाय में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हो रहा है कि पंचायत के भीतर एकता का अभाव होने के कारण इसकी सत्ता काफी कम है। इसकी बढ़ती हुई प्रभावहीनता का एक कारण यह भी है कि पंचायत के सदस्य अपने गुर्गो को पंचायत की निर्णयों अधिकारिता का आंशिक या पूर्णत: उल्लंघन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। अत: पंचायत की निर्णय कमजोर हुई है। पंचायत के निर्णय कानूनी अदालत द्वारा बदल जाने की सम्भावना रहती है। लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया ने बृजवासियों को भी प्रभावित किया हैं। गुलरिहा गाँव के बृजवासी करन सिंह तीन पंचवर्षीय योजनाओं से लगातार ग्राम प्रधान हैं। इन्होंने अपने समुदाय के लोगों के लिए आवास भी आवंटित कराये हैं साथ ही कृषि के लिए पट्‌टे भी कराये है। राज्य स्तर के दो राजनीतिक दलों से अपनी सम्बद्धता भी बना ली है। ताकि संकट के समय उनका प्रतिनिधित्व हो सके।

भाषा–साहित्य

लोकराग के कलरव में लोकरंग का उत्सव

(संदर्भ : भिलाली जनजाति का लोकसाहित्य)

*सुधाकर सिंह

झिणी–झिणी वासणीक तारवट बोणाई दऊं।
निली–पिली वासणीक रंगावट बोणाई दऊं।।

(पतले–पतले बाँसों से तुम्हारे लिये कुछ वस्तुएं बना कर दूँ, नीले–पीले बाँस से बहुरंगी वस्तुएं बना कर दूँ।)

यह भिलाली जनजाति में प्रचलित लोकगीत है। अपने परिवेश के प्रति गहरी रागात्मकता और रागात्मकता के प्रसार में पूरी मनुष्य जाति को अंगीकृत करती इस भाषा में गहरी सृजनात्मकता है। भिलाली जनजाति मध्यप्रदेश के आलीराजपुर और धार इलाके में घने जंगलों के बीच रहती है। यहाँ इस क्षेत्र को 'राठ' नाम से संबोधित किया जाता है। राठ के भिलालों की जीवन शैली और जीवन दर्शन एक अलग समाजशास्त्रीय अध्ययन की माँग करता है। हिन्दी भाषा के तत्समीकरण की पूर्वावस्था भी इस भाषा के अलिखित व्याकरण में लक्षित की जा सकती है। भिलाले आदिवासी एक दूसरे को राठवा, ढापल्या, बार्‌या, बारेला, दरबार, उरप्या जैसे नामों से संबोधित करते हैं। राठ से राठवा की व्युत्पत्ति समझी जा सकती है। इनमें से उरप्या, बार्‌या और बारेला भिलालों में ही विशेषीकृत रूप से भिलाली बोली व्यवहृत है। शेष ढापल्या और दरबार भिलालों ने निमाड़ी तथा राठवा भिलालों ने पालवी बोली ग्रहण कर ली है। भाषाई विचलन और अंतरण के इस उदाहरण में आधुनिकीकरण के साथ–साथ भाषा–संस्कृति वर्चस्ववाद की भी परख की जा सकती है। बहरहाल, यहाँ अध्ययन के केन्द्र में भिलाली जनजाति का लोकसाहित्य ही है, जिसमें जनजातीय जीवन के कई रंग बिखरे हुए हैं।

गरीबी, प्राकृतिक आपदा, भूख से बार–बार पीड़ित होकर भी उन्हें अपने परिवेश से लगाव है। आधुनिकता और औद्योगीकरण के नाम पर उनकी बस्तियाँ और इसी लेखे उनकी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना को उखाड़ रही सभ्यता उन्हें वरेण्य नहीं। एक कहावत उनमें प्रचलित है जो उनके सांस्कृतिक मानस को भी प्रकट करती है :

भूखला ते भूखला बाखुन सुखला खरी। (भूखे तो भूखे ही ठीक पर सुखी तो हैं।)

हम सहजता से अनुमान कर सकते हैं कि उनके यहाँ सुख की परिभाषा में भूख का कोई स्थान नहीं है। जीवन के प्रति यह बेतकल्लुफी, संघर्षों के प्रति यह बेपरवाही इस उपभोक्तावादी दौर में एक सार्थक दिशा की ओर संकेत करती है। आदिवासियों का जीवन कष्टमय है, श्रमपूर्ण है। श्रमपूर्ण इतना है कि वह जीवन का साधन नहीं साध्य बन चुका है। दूसरे शब्दों में कहें तो आदिवासी संस्कृति श्रम–संस्कृति है। जीवन में अंतर्भुक्त होने के कारण ही श्रम उनकी रागात्मकता का हिस्सा बन चुका है। दो कहावतें इस संदर्भ में उद्धृत करना उचित होगा :

टोक लावे ने टोक खाय। (रोज कमाना और रोज खाना।)

तथा **दहाड़े दाड़की ने मोहने मुहड़ो।** (प्रतिदिन मजदूरी प्रतिमास महुआ।)

यहाँ प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक क्रिस्टोफर कॉडवेल का कथन कि 'श्रम से संगीत पैदा हुआ' पूर्णत: चरितार्थ होता दीख पड़ता है। तभी तो भिलाली युवक पहाड़ियों पर अपनी बैलगाड़ी के साथ श्रम करता हुआ भी गाता रहता है :

टिकटिकी बोइड़ी पोर सोना नी गाड्‌या गेरों ओ।
टचका दिन बलद्‌यां गेरों रंगलो मारो डेंगो ओ।।

(पहाड़ी पर सोने की बैलगाड़ी गेरता (तेजी से हाँकता) हूँ। बैलों को जोर–जोर से पुकार लगाता हूँ, मेरी बेंत रंग–बिरंगी है।)

इसी प्रकार भिलाली जनजाति में श्रुति परंपरा से प्राप्त कहावतें एक जीवंत जीवन शैली की दस्तावेज हैं। रिश्ते–नाते, ऋतुएं, महीनें, वर्ष, बिमारियाँ, औषधियाँ, संस्कार आदि संदर्भ यहाँ की कहावतों में जीवित हैं। इनका दस्तावेजीकरण तो नहीं हुआ है लेकिन, इस अलिखित स्रोत–सामग्री के अध्ययन से हम इनके इतिहास को नये सिरे से देख सकते हैं। जाहिरी तौर पर इतिहासलेखन के लिहाज से यह अधिक ठोस सामग्री होगी, क्योंकि आदिवासी समाज बाहर के समाजों से प्राय: कम ही संपर्कित रहा है। अत: तथ्यों में घालमेल की गुंजाईश यहाँ कम ही रहती है। चूँकि कहावतें आदिवासी मनुष्यों के लंबे अनुभव से बने सामूहिक अवचेतन की अनिवार्य घटक हैं लिहाजा कहावतों में निहित तथ्यों में एक अनुभव संपृक्त व पूर्वग्रह रहित मूल्यदृष्टि भी समाहित होती है। कहावतों का भाषावैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन एक पृथक इतिहास दर्शन भी विकसित करता है। स्वयं भिलाली जनजाति के ऐतिहासिक अस्तित्व के साक्ष्य भी आर्ष ग्रन्थों में मौजूद हैं। स्मृति पुराण में जो 'भिल्ला' शब्द मिलता है उसके आधे 'ल' को पूरा 'ल' करें तो 'भिलाला' शब्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार रामचरितमानस के 'भिल्ल' शब्द के 'ल' को पूरा कर लें तो 'भिलल' शब्द प्राप्त होता है।

आदिवासी समाज को एक बहुप्रचलित 'कॉमन सेंस' के तहत पिछड़ा हुआ माना जाता है। सच्चाई इसके उलट है। हमने सभ्य होने का रास्ता उल्टी दिशा में तय किया है। इसी का परिणाम हुआ कि तथाकथित मुख्यधारा का समाज अन्तर्विरोधों से भरा हुआ और एकांगी रूप से वर्चस्ववादी है। यह वर्चस्ववाद लिंग, वर्ण, भाषा, संस्कृति सभी स्तरों में व्याप्त है। यह बहुस्तरीय एवं बहुचरित्री है। उसी का एक उदाहरण पुरूष वर्चस्ववाद और स्त्री पराधीनता है। विवाह जैसी पवित्रतम संस्था में भी पुरूष वर्चस्ववाद समाहित है। दहेज स्त्री पक्ष से ही दिया जाए, इसका एक जघन्यतम उदाहरण है। परंतु भिलाली जनजाति इस विषय में 'मुख्यधारा' से कई गुणा उदार और मानवीय है। भिलाली जनजीवन पर गंभीर शोध करने वाले विद्वान श्री रामनरेश त्रिपाठी बताते हैं कि वर–कन्या जब एक दूसरे को पसंद कर लेते हैं तभी विवाह के बंधन में बंधते हैं। भिलाली परंपरागत गीतों में वर–कन्या की इस स्वतंत्रता का बार–बार उल्लेख मिलता है। दोनों तरफ के

*आचार्य : हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, संपर्क : 09415390049

परिवारों और समाजों का इन पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता। (देखें : कविता कौमुदी, तीसरा भाग : ग्रामगीत, हिन्दी मंदिर प्रकाशन, सुल्तानपुर, उ.प्र.,१९९०ई., पृ. १०२) यहाँ विवाह सम्पन्न करने की रस्म भी बड़ी दिलचस्प है। जैसे वर पक्ष के लोग प्रस्ताव लेकर कन्या पक्ष के पास जाते हैं। सहयोग राशि (ध्यान रहे कि यह दहेज नहीं है) भी वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को 'उदि बाँधजे' (विवाह तिथि तय करने) के दिन दिया जाता है। जिसमें मुद्रा से अधिक अनाज और गृहस्थ जीवन की कुछ जरूरी चीजें होती हैं। इस आदान–प्रदान में कन्या के जीजा और वर के अग्रज की विशेष भूमिका होती है। हमारी परंपरा के उलट यहाँ पर विवाह के समय गाये जाने वाले संस्कारगीत में दोनों समुदाय की स्त्रियों द्वारा दोनों ही पक्षों के पुरूषों पर समान रूप से कटाक्ष किया जाता है :

बनी नू भाई बोठो रे जाणो वाणिलो बोठो ओ।
लाडा नू भाई बोठो रे जाणो माकड्यो बोठो ओ।।

(अर्थात वधू का भाई चालाक वणिक के समान और वर का भाई वानर के समान दिखता है।)

कहना न होगा कि आदान–प्रदान की परंपरा चाहे जिधर से हो समान रूप से निंद्य है, परिहास के रूप में ही सही। हास–परिहास इनके सामूहिक अवचेतन का हिस्सा बन चुका है। यही कारण है कि इनकी जीवन शैली में अभावों के प्रति भी भावपूर्ण सौन्दर्यानुभूति है। नदी की बाढ़ में तमाम फसलों के बर्बाद हो जाने पर भी एक मात्र बाजरे की फसल खड़ी रहती है। मानो भिलाला समुदाय प्रकृति के प्रकोप के बावजूद अपनी जिजीविषा को इसी बाजरे की फसल से ध्वनित कर रहा हो। एक लोकगीत देखें :

नदी धोड़े ओ लीलो खेत/बाजरी झोलका मारे रे लोल।।
ओ भाया निहीं आओ तारा देश/बाजरी झोलका मारे रे लोल।।

चूँकि आदिवासी जीवन श्रम का जीवन है अत: वहाँ किसी प्रकार का व्यवस्थागत समझौता नहीं दिखाई देता। भिलाले ऐतिहासिक रूप से प्रतिरोध की संस्कृति के वाहक रहे हैं। ऐतिहासिक तथ्यों और साक्ष्यों से यह प्रमाणित भी हो चुका है कि १८५७ के गदर में निमाड़ के लोगों ने और खासतौर से भील–भिलालों ने १८६१ तक अन्ग्रेजी हुकूमत को करारी टक्कर दी थी। उल्लेखनीय है कि बड़वानी रियासत के इलाके में सीताराम कंवर तथा रघुनाथ सिंह मण्डलोई भिलाला के नेतृत्व में भिलाला विद्रोहियों ने होल्कर प्रशासन और अन्ग्रेज प्रशासन को नाकों चने चबवा दिये थे। इसके साक्ष्य लोकसाहित्य में उपलब्ध हैं। इसी क्रान्ति के एक वीर छीतू भिलाला का जिक्र उदाहरण हेतु प्रस्तुत है :

अंग्रेज काजे ढसाड़से।
छीतू किंकुर भाली रियो।।

इसके अतिरिक्त राणा बख्तावर सिंह (धार जिले के अमझेरा के राजा) जिनके भिलालों से गहरे संबंध थे और जिन्होंने अन्ग्रेजों के बलमर्दन की सार्वजनिक घोषणा की थी, उनके संघर्ष और बलिदान की कथा भिलाली लोक साहित्य में जीवित है। यहाँ तक कि तात्यां टोपे, चन्द्रशेखर आजाद (जन्म स्थान : भाबरा, आलीराजपुर, म.प्र.) से जुड़े क्रांतिकारी संस्मरण भी भिलाली लोक साहित्य में मौजूद है। वहाँ एक बुजुर्ग से बात करने पर यह भावपूर्ण सत्य उजागर होता है, १९४७ में देश की आजादी के खबर के संदर्भ में :– ''कई माता–बहनों को सत चढ़ा था। उनके

शरीर में भारतमाता प्रवेश कर गई थीं। भाबरा क्षेत्र में देवी आ गईं के जयघोष लगे थे। मांदल की थापों पर नृत्य हुए थे। नारियल फोड़े गए थे। स्थानीय देवी–देवताओं की पूजा में दिन व्यतीत हुआ था।''

भिलाली लोक साहित्य में इतिहासलेखन के लिए आवश्यक संदर्भ स्रोत भी लक्षित किये जा सकते हैं। राठ इलाके में भिलाली लोक साहित्य में एक पक्षी का नाम 'राजाभोज केड्यु' मिलता है। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि राजाभोज का शासनकाल सन् १०२०ई. से प्रारंभ होता है, जिसकी राजधानी धार थी। लोकसाक्ष्य में राजाभोज की यह उपस्थिति कुतूहल एवं शोध का विषय है।

भिलाली लोकसाहित्य की भाषा विचारणीय है। गद्य और पद्य दोनों में यह भाषा समान रूप से सरल, प्रवाहमान और जीवंत है। लिपिबद्ध न होने की वजह से इसमें जो अनगढ़पन है वह इसकी मधुरता का प्रमुख कारण है। आज तमाम बुद्धिजीवी विमर्शों में यह बात मुखर रूप से सामने आ रही है कि लोक जीवन के संदर्भ साहित्य में आयें तो उनका भाषाई ढब क्या हो? मानकीकृत भाषा या लोक भाषा? यहाँ स्थिति थोड़ी जटिल है। लोकजीवन यदि वहीं की ठेठ लोकभाषा के बजरिये साहित्य में आता है तो अनुभूति के स्तर पर वह प्रामाणिक, ईमानदार और यथार्थपरक तो होगा परंतु उसकी व्याप्ति घट जाएगी। दूसरी तरफ यही यदि मानकीकृत भाषा के माध्यम से साहित्य में आता है तो उस लोक भाषा का परिवेश, संस्कृति, संगीतात्मकता आदि पहलू और कुल मिलाकर एक रचनात्मक ईमानदारी की कमी खटकेगी। ऐसे में एक सरल उपाय है कि कवि मानकीकृत भाषा में रचना करते हुए भी उस लोकजीवन के उपरोक्त तमाम पक्षों को आत्मसात करे। बिंब, प्रतीक, छंद (शास्त्रीय ही नहीं, लोकजीवन के राग आदि भी) सब लोकजीवन से ही ले। इस परिप्रेक्ष्य में भिलाली लोकसाहित्य के गद्य और पद्य से एक–एक उदाहरण रखना समीचीन होगा कि कैसे दोनों रूपों में भाषा अपनी सहजता और रवानगी बनाए रखती है:

गद्य : ''एक गांव मा सात भाई हतला। वेस्त्यु सबुन पेहलु। वेस्तान भाईस कोहे कि आपणों भिखारी धन्धों कोरने जाजे। भिखारी धन्धों कोई होय मी धोरने जाजे...।''

पद्य : इन्दवणी ने भाया जलबी खाईन/ममार–ममार नाचे ओ ललाई
डाबड़ी ने पुरई मिरी खाईन/विरी–विरी कोरे ओ ललाई।

लगभग समस्त लोक साहित्य में और खासतौर से कविताओं में ध्वनि बिंब स्वाभाविक रूप से आता है। 'सुडुक–सुडुक', 'कुकड़ा' आदि ध्वनि बिंब हैं जो भिलाली लोक साहित्य में प्राय: आते हैं।

भिलाली लोक साहित्य को संरक्षित किये जाने की जरूरत है। इनके साहित्य को, इनकी ही भाषा में, इनके बीच रहकर लिपिबद्ध किया जाए तो ज्यादा बेहतर होगा। स्वयं भिलाली जनजाति के लोग अपने सांस्कृतिक परिवेश के प्रति पर्याप्त जागरूक हैं। वे शिक्षा के प्रति भी चैतन्य हैं, जिसका प्रमाण इस लोकगीत में मिलता है कि कैसे इंदौर जाकर पढ़ाई करने वाला लड़का उनकी उम्मीदों का वाहक है :

बेनी दाड़की जासे, बेनो इन्दूर भणवा जासे।

बेनी कागदा इचे, बेनो चुपड़ी वाचे।।

बाजार ने आधुनिक होने के जो मापदण्ड तय किये हैं, आदिवासी उसमें प्रतिकूल पड़ते हैं, क्योंकि बाजार कृत्रिम सौन्दर्यशास्त्र गढ़ता है जबकि आदिवासी जीवन कृत्रिमता से दूर पूर्णत: नैसर्गिक है। अत: सभ्यता के विकास–चरण में बड़ी सावधानी से आदिवासी संदर्भों को लिया जाना चाहिए। विकास और आधुनिकीकरण तो इनका भी होना चाहिए लेकिन अस्तित्व और अस्मिता की पूर्ण संरक्षा के साथ। एक देशज आधुनिकता की जरूरत है जिसका स्वरूप निश्चित रूप से इनकी जीवन शैली के बीच से ही निर्धारित होगा। पश्चिम द्वारा तयशुदा रेडिमेड फार्मूलों से इनका विकास नहीं इनकी अस्मितागत हत्या ही होगी। क्योंकि आयातित आधुनिकता व्यक्तिवादी है और आदिवासी संस्कृति सामूहिकताबोध की अन्यतम पोषक। भिलाली लोकगीत में यह बोध बार–बार ध्वनित होता है :

''हामू काका बाबा ना पोर्‌या रे कोण्डवल्‌यो खेलां डूक...।'' (अर्थात् हम एक ही परिवार के लोग हैं, चलो एक साथ खेलें, साथ–साथ नाचें।)

सन्दर्भ :

१. आदिवासी विकास : एक सैद्धांतिक विवेचन, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, म.प्र.हि.ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, द्वितीय संस्करण, २००५

२. आदिवासी भाषा विज्ञान : श्री हीरालाल शुक्ल, म.प्र.हि.ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, २००१

३. भिलाला जनजाति का संक्षिप्त मानवशास्त्रीय अध्ययन : श्रीमती इन्दु मुराब, आदिम जाति अनुसंधान संस्थान, भोपाल, म.प्र., १९९४ ई. संस्करण

४. भारत की जनजातियाँ : डॉ. शिवप्रताप दास, किताब घर, गाँधीनगर, दिल्ली, १९८३ ई. संस्करण

'खूँटकटीयत' के गीत : 'अबुअः दिसुम मुण्डा दुरङ

*अनुज लुगुन

प्रत्येक जाति की अपनी निजी सम्प्रभुता होती है। यद्यपि यह 'सम्प्रभु' शब्द राजनीति विज्ञान के 'राज्य' की अवधारणा से जुड़ा है। लेकिन प्रत्येक जाति की एक निजी सम्प्रभुता होती है जिस पर वह अन्य किसी जाति का हस्तक्षेप तो स्वीकार नहीं करता, लेकिन उसके स्वीकार का वह स्वागत करता है। सम्प्रभुता का यह क्षेत्र उस जाति के सांस्कृतिक पहलुओं से जुड़ा होता है। इसे हम उस जाति की 'सांस्कृतिक सम्प्रभुता' कह सकते हैं।

अन्य जातियो की सांस्कृतिक सम्प्रभुता की तरह ही आदिवासी समुदायों की भी सांस्कृतिक सम्प्रभुता है। आदिवासियों का अपना 'राज्य' या 'स्टेट' कभी नहीं रहा है। वे अपनी इसी सांस्कृतिक सम्प्रभुता की रक्षा के लिए हमेशा संघर्षरत रहे हैं। आदिवासी समुदायों की विशिष्ट पहचान इसी सांस्कृतिक विरासत से है। उनकी इस सांस्कृतिक विरासत में सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक सभी पहलू गहरे स्तर तक जुड़े होते हैं। इसलिए जहाँ भी आदिवासियों के विद्रोह या आन्दोलन हुए हैं वहाँ ये सारे पहलू संश्लिष्ट होकर सामने हैं। वस्तुत: आदिवासियों की उत्पादन प्रणाली अन्य जातियों की उत्पादन प्रणाली से भिन्न रही है। यही वजह है कि उनकी जीवन–दृष्टि एवं समाज–व्यवस्था भी भिन्न है। प्रकृति के साथ घनिष्टतम अन्तरसम्बन्ध एवं सामूहिकता इनकी जीवन–दृष्टि एवं समाज–व्यवस्था को समरस बनाती है। आदिवासी समुदाय की सांस्कृतिक चिंता मूल रूप से अपनी जीवन–दृष्टि एवं समाज–व्यवस्था को बनाए रखने की चिंता है जो बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप से लगातार ध्वस्त की जाती रही है।

आदिवासी समुदाय की एक प्रमुख उप जाति है– मुण्डा। मुण्डा आदिवासी अपनी सांस्कृतिक सम्प्रभुता के प्रति अत्यधिक सतर्क एवं सचेत रहे हैं। इसके प्रमाण के तौर पर हम इतिहास में हुए कोल, विद्रोह, मुण्डा विद्रोह, तमाड़ विद्रोह, सरदारी आन्दोलन एवं बिरसा उलगुलान के रूप में देख सकते हैं। इन सारे आन्दोलनों के पीछे प्रेरक तत्त्व के रूप में इनकी सांस्कृतिक सम्प्रभुता ही रही है।

छोटानागपुर में मुण्डाओं का आगमन असुरों से संघर्ष, उनके पराभव के साथ होता है। डॉ० वी०पी० केसरी कहते हैं कि असुरों के प्रभाव सूर्य के दक्षिणायन होने पर छोटानागपुर में मुण्डाओं का तेजोदय हुआ। 'द मुण्डा एण्ड देयर कण्ट्री' के लेखक एस०सी० राय का मानना है कि लगभग ६०० ई०पू० छोटानागपुर में मुण्डाओं का आगमन होता है। यहाँ मुण्डाओं ने अपनी सांस्कृतिक विरासत स्थापित एवं संरक्षित की। सुतिआम्बे उनकी राजधानी बनी। यहाँ रहते हुए उन्होंने जिस (समाज–व्यवस्था का) सांस्कृतिक विरासत का निर्माण किया वह उनके जातीय गौरव का विषय है। पड़हा–व्यवस्था के गठन से अपनी प्रशासनिक व्यवस्था मजबूत की। एक

---

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, संपर्क : 08765407843

ऐसी भूमि व्यवस्था बनाई जिसमें जमीन और उसकी उपज के बीच तीसरा कोई आदमी नहीं था। सामूहिकता में जीने वाली इस आदिवासी समुदाय ने अपनी जिस समाज–व्यवस्था का निर्माण किया वह आगे चलकर 'खूँटकटी' कहलाई। 'खूँटकटी' यानी जिन्होंने जंगल साफ कर जमीन बनाया और गाँव बसाया, गाँव के वास्तविक मालिक। यही 'खूँटकटीयत' मुण्डाओं की सांस्कृतिक सम्प्रभुता है।

कालान्तर में मुण्डाओं की इस 'खूँटकटी' व्यवस्था को जबरदस्त आघात पहुँचा जब बाहरी शक्तियों द्वारा इनके ऊपर राजनैतिक हस्तक्षेप होने लगा। औपनिवेशिक एवं सामन्ती शक्तियों ने अन्तत: इनकी जड़ें हिला दी। १७६५ ई० में बंगाल पर अंग्रेजों का अधिपात्य एवं १७९५ ई० में अंग्रेजों की स्थायी बन्दोबस्त की नीति ने जिस तरह मुण्डाओं के जमीन के मालिकाना हक पर हस्तक्षेप करना शुरु किया उससे न केवल इनकी जमीन गई बल्कि मुण्डाओं की समाज–व्यवस्था को इससे जबरदस्त आघात पहुँचा। मुण्डाओं की उत्पादन प्रक्रिया जो कि जंगल और जमीन पर आधारित थी बुरी तरह प्रभावित हुई। आज तक मुण्डा स्वतंत्र थे। वे स्वयं गाँव के मालिक थे लेकिन अब जमीन इनके हाथ से छिन कर जमीनदारों, कारिन्दों एवं दीकुओं के यहाँ हस्तांतरित होने लगी। यह पूरी तरह उनकी सांस्कृतिक सम्प्रभुता पर हमला था, क्योंकि मुण्डाओं की सांस्कृतिक विरासत जन, जंगल, जमीन की निर्मिति थी। मुण्डाओं का अपना कोई लिखित इतिहास नहीं रहा है, न ही इनके यहाँ पुरातात्विक अवशेष के रूप में मीनार, स्तम्भ, सिक्के या अन्य सामग्री मिलते हैं जिसके आधार पर प्रामाणिक इतिहास का दावा किया जा सके। इतिहास मुण्डाओं के मसलों पर चुप है। लेकिन इतिहास की चुप्पी का मतलब यह नहीं कि उनका कोई इतिहास नहीं रहा है, उनकी कोई विरासत नहीं रही है। यह इतिहास की कमजोरी ही मानी जाएगी कि वह इस दिशा में सफल नहीं हो पाया। मुण्डाओं की सांस्कृतिक विरासत एवं ऐतिहासिक संघर्ष की प्रामाणिक अभिव्यक्ति हमें मुण्डारी गीतों में मिलती है। मुण्डारी गीतों के द्वारा मुण्डाओं की जीवन–पद्धति एवं समाज व्यवस्था की व्याख्या की जा सकती है क्योंकि मुण्डाओं के यहाँ गीत सामूहिक रचना है। इन गीतों में मुण्डारी समाज की सामूहिक अभिव्यक्ति मिलती है। इनके गीतों में संघर्ष एवं श्रम की जो अनुगूँज मिलती है वह समय और परिवेश के दबाव की अभिव्यक्ति है। स्वतंत्रतापूर्व औपनिवेशिक हस्तक्षेप एवं स्वतंत्राता पश्चात् बाह्य शक्तियों के हस्तक्षेप से मुण्डाओं की उत्पादन प्रणाली जिस तरह से प्रभावित हुई उससे वे जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावित हुए। इनकी जीवन–पद्धति एवं समाज–व्यवस्था विघटित होने लगी। नए आर्थिक संबंधों ने इन्हें अपनी जमीन छोड़कर पलायन करने के लिए मजबूर किया और वो सारी विशेषताएँ जो जातीय गौरव का विषय थी, नहीं रहीं। बदलती हुई परिस्थितियों के बीच मुण्डाओं का संघर्ष और बढ़ गया। अपने समय और परिवेश की जो अभिव्यक्ति मुण्डा अपने गीतों में मौखिक रूप से समूह में करते थे वह अब व्यक्तिगत स्तर पर लिखित रूप से भी होने लगा। सन् ५० के दशक के बाद हमें यह दिखाई देने लगता है। अपने अस्तित्व एवं सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए मुण्डा अब लिखित रूप से भी सजग हो गए और मुण्डारी साहित्य की लिखित सर्जना हुई। इसी चेतना से प्रेरित मुण्डारी के प्रसिद्ध कवि एवं गीतकार हैं– रेमिस कन्डुलना।

मुण्डाओं ने अपने यहाँ जिस सांस्कृतिक विरासत का निर्माण किया वह पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती हुई आज अपने समकालीन मुद्दों से मुठभेड़ करती हुई सामने दिखाई दे रही है। मुण्डारी के प्रतिबद्ध कवि रेमिस कन्डुलना के गीतों का नया संकलन 'अबुअ: दिसुम मुण्डा दुरङ' में इसकी मुखर अभिव्यक्ति मिलती है।

रेमिस जी अपने गीतों के द्वारा 'खूँटखटीयत' की माँग करते हैं। खूँटखटीयत यानी मालिकाना हक अर्थात् देशज आदिवासियत की माँग। उसके पीछे न कोई वैयक्तिक वैचारिक आग्रह है और न ही संकीर्ण जातीयता, बल्कि इसके पीछे लम्बी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जिसके पीछे बाहरी शक्तियाँ एवं शासक वर्ग द्वारा मुण्डाओं के अंतहीन शोषण एवं अत्याचार की गाथा है– जो देश की आजादी एवं अलग झारखण्ड राज्य के निर्माण के बाद भी बदस्तूर जारी है। आजादी के बाद नेहरू की औद्योगिक नीतियों ने आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया तो उदारवाद एवं विकास की पूँजीवादी अवधारणा झारखण्ड निर्माण के बावजूद आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन से बेदखल कर रही है। विस्थापन की यह मार अन्य आदिवासियों की तरह मुण्डाओं को भी बुरी तरह झेलना पड़ रहा है। इस समकालीन वैश्विक परिदृश्य में रेमिस जी का 'खूँटखटी' होना आदिवासी–राग की हिफाजत करना तो है ही, साथ ही उन साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध भी है जो आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन को छीन लेना चाहते हैं।

इस संग्रह के गीत आजादी एवं झारखण्ड निर्माण के बाद मुण्डाओं की दुर्दशा का बेबाक चित्राण करती हैं। इस दुर्दशा के लिए वे दीकु सिकु (बाहरी शोषकों) को जिम्मेदार तो मानते हैं, साथ ही वे आज की इस दुर्दशा के लिए मुण्डाओं के आपसी मतभेद, बौद्धिक चुप्पी एवं सत्ता के साथ धीरे–धीरे बनती सहमति का भी पर्दाफाश करते हैं। इस तरह वे मुण्डाओं के अन्दर उभरते वर्ग–चरित्र का भी उद्घाटन करते हैं। आज आदिवासी समाज की जो स्थिति बन रही है वह उसके अन्दर उभर रहे वर्ग–चरित्र को भी दिखाती है। ऐसी विषम परिस्थिति में जब अपने भी शत्रु पक्ष में शामिल हो रहे हैं, कवि रेमिस जी उनको पुन: संगठित करने का प्रयास करते हैं। वे आदिवासियों की मूल प्रवृत्ति 'सामूहिकता' को बनाए रखना चाहते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि यही वह शक्ति रही है जो आदिवासियों के इतिहास को दूसरे समुदायों के इतिहास से भिन्न करती है। संग्रह का दूसरे ही गीत 'चिमिनङ गिञ ककला' में वे कहते हैं–

''हगा–मिसी कुटुम्ब कुपुलको, सोतोःञ सनङ तना
बिञ चोके हाईको लेका को, सोपोदा जोपोम तना
बिञ बयर सिंजु कटाई जनुम तेको गी मेद् रेको
होपोटोर पोडेणेन तन।''

''(भाई–बहन पास–पड़ोसियों को एकत्रित करना चाहता हूँ
पर साँप, मेंढक, मछलियों के जैसे एक–दूसरे को
निगल कर खा रहे हैं
साँप–रस्सी, बेल और सरला के पेड़ के काँटों से
एक–दूसरे को भोंक के
आँखों को अन्धा कर रहे हैं।)''

कवि द्वारा अपने लोगों को 'एकत्रित' करने का यह प्रयास उस सच को उद्घाटित करता है कि आदिवासी अब अपनी मूल संस्कृतियों से उखड़ रहे हैं, कट रहे हैं। कवि की चिंता आदिवासियों की ऐसी ही महान् प्रवृत्ति के टूटने–छूटने को लेकर भी है।
संग्रह के गीत 'मुण्डा होन को हिजुः लेना' से शुरू होकर मुण्डाओं के बसने, उन पर बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप, बिरसा मुण्डा का आन्दोलन से होते हुए स्वतंत्रता बाद चले विकास का प्रपंच एवं झारखण्ड निर्माण के बाद मुण्डाओं की दुर्दशा, इन सबको अपना विषयवस्तु बनाती हैं। इस तरह आजादी के बाद आदिवासियों के सारे सच्चाईयों से अवगत कराते हैं, रेमिस जी के गीत। उनका स्पष्ट निष्कर्ष है कि आजादी के बाद मुण्डा–आदिवासियों के रास्ते शोषण के साँप, बिच्छू, भूतों और पिशाचों से भर गए हैं, यानि रास्ता पहले से ज्यादा खतरनाक और भयावह हो गया है। 'सेन होरा बित्रको बोंगाको' शीर्षक गीत में वे कहते हैं–

''सेन होरा बित्र को बोंगाको
निर होरा हेंको–भेंकों
निर होरा हेंको–भेंकों
तइन तनम गेना रे
बिसि तम होन गड़ाँ रे
कचुर–कचर बिजिर बोंगाको
हिचिर बोतोङ जीउ अलेरे
एसेर तनम एंगा होरा के।''

''(तुम्हारा केंचूल चकमक चमक और डरावना है
साँप और भूत एक ही हो
डर और भय हमारे हृदय में आता है
तुम अपनी जड़ जमा रहे हो
जंगल में विष फूंक रहे हो।)''

झारखण्ड गठन के बाद वहाँ की शोषक–वृत्ति का उद्घाटन 'झारखण्ड रेदो जोजोम नजोम को' (झारखण्ड को लूट खाने वाली डाइन) गीत में है–

''झारखण्ड रेदो जोजोम नजोम को
लेलेजा कदा को
सातो बइनी खेलडी एराको
सुसुन बियुर तना को''

''(झारखण्ड के लुटेरे
शोषक सरीके डाइन अपनी जीभ निकाले हुए हैं
सातों तरह के माफिया नाच–नाच कर घूम रहे हैं)''

झारखण्ड आन्दोलन से झारखण्ड की आदिवासी–मूलवासी जनता को बहुत उम्मीद थी लेकिन झारखण्ड अलग राज्य के गठन के बाद राजनीतिक गुण्डा–गर्दी और प्रशासनिक लूटमार का अड्डा बन गया। शहीदों के खून की नीलामी की गई। झारखण्डियों के सपने छले गए।

कवि का आक्रोश झारखण्ड की इस व्यवस्था से तो है ही उनकी नाराजगी यहाँ के वीर–योद्धा रहे मुण्डा, हो, संथाल एवं उराँव आदि सबकी चुप्पी पर भी है–

''मुण्डा को होसोड़ो जन झारखण्ड
दिसुम को बेदा जना
लड़ाका को लसुर जन झारखण्ड
लड़ाका को लगा जना
उराँव को लसा जन झारखण्ड
उराँव को पसे जना
कपे चिमा उरुम तन संता को?
दिसुम को लीलम तना''

(मुण्डा लोग झारखण्ड के लिए ठगे गए/लड़ाका लोग थक कर चूर हो गए/ उराँव लोग लसा होकर फँस गए/नहीं पहचान रहे हो क्या अपना देश नीलाम हो रहा संताल भाई?) इनके छले जाने एवं इनकी चुप्पी पर कवि चुप नहीं है बल्कि इन्हें संघर्ष करने और फिर से सशस्त्र आवाज उठाने के लिए ललकारता है–

''अ:सर सब पे झारखण्डी
दिसुम को रेज् पे तन
लुमङ बदि ते बदिन पे
दिसुम होड़ो पे बदि दड़िया।''

(देश को लोग लूट रहे हैं/इसलिए तुम लोग तीर धनुष का कमान संभालों रेशम के धागे से लोगों को एक सूत में बाँधिए/तब ही लोगों को एकता की कड़ी में बाँध सकोगे।)

कवि की स्मृति में झारखण्ड में मुण्डाओं–आदिवासियों के आगमन एवं यहाँ आकर गौरवशाली समाज–व्यवस्था की स्थापना, कालान्तर में उस समाज–व्यवस्था पर बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप एवं उसके बाद निरंतर विघटित होती हुई आदिवासी मूल्य एवं समाज–व्यवस्था की चित्रात्मक उपस्थिति है। सबकुछ उनके सामने दृश्य की तरह घटित होता जा रहा है। इसी की अभिव्यक्ति वे गीतों के माध्यम से कर रहे हैं।

निस्सन्देह आदिवासी समाज–व्यवस्था झारखण्ड राज्य की स्थापना के बाद और तेजी से विघटित हुई है और नगरीय विसंगतियों से घिर गई है। पुरानी जीवन–शैली एवं आर्थिक संबंध तथा समाज–व्यवस्था के टूटने से यहाँ के आदिवासी पलायन करने को मजबूर हैं और अमानवीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं।

कवि रेमिस कन्डुलना के गीत कथ्यात्मक समृद्धि के साथ ही मार्मिक अभिव्यक्ति भी है। उन्होंने आदिवासी जीवन के सरस–राग एवं स्वाभाविक दैनिक क्रियाओं के साथ ही आदिवासियों के अस्तित्व के प्रश्न एवं समकालीन उदारवादी वैश्विक परिदृश्य में समस्याओं से जूझते आदिवासियों के जीवन को गीतों में पिरोया है। चूँकि कवि रेमिस स्वयं मुण्डारी समुदाय से आते हैं इसलिए वे अपनी रचना के केन्द्र में मुण्डाओं को रखकर आदिवासी जीवन एवं

आदिवासी समाज की विसंगतियों और समस्याओं की व्याख्या करते हैं। मुण्डाओं की समाज–व्यवस्था एवं जीवन–पद्धति के टूटने की उनकी चिंता वस्तुत: पूरे आदिवासी समाज की सामाजिक–व्यवस्था एवं जीवन–पद्धति के टूटने की चिंता है। मुण्डाओं के लिए जब वे 'खूँटकटीयत' की माँग करते हैं तो उनका स्वर केवल मुण्डाओं के लिए ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय के लिए होता है।

संग्रह के सारे गीत इसी तरह आदिवासियों की दिनों–दिन बिगड़ती दशा, उनके अस्तित्व पर मँडराते संकट एवं आदिवासियों के शोषण का कच्चा चित्र प्रस्तुत करती हैं। रेमिस जी के यहाँ आदिवासियों की सांस्कृतिक विरासत की गहरी समझ है, उसके मूल्यांकन की क्षमता है तथा वर्गीय चेतना उनकी वैचारिकी का अभिन्न हिस्सा है। इसलिए उनकी कविताएँ आदिवासी विरासत को संभाले हुए समकालीन मुद्दों से मुठभेड़ करती हैं। उनकी 'खूँटकटीयत' (देशज आदिवासियत) की माँग समकालीन मुद्दों से मुठभेड़ करने के लिए ही है।

मुण्डारी गीत मूलतः सामूहिक रचना होती हैं। नए आर्थिक सम्बन्धों एवं उत्पादन की नई प्रणालियों ने जिस तरह मुण्डारी समाज व्यवस्था एवं जीवन पद्धति को प्रभावित किया है उससे इस समाज की रचनाशीलता भी प्रभावित हुई है। गीतों की वैयक्तिक और लिखित रचनाएँ होने लगी हैं। कवि रेमिस कन्डुलना का लेखन भी इसका उदाहरण है। लेकिन इन सबके बावजूद जो बात चिन्हित करने की है, वह यह कि, तमाम परिवर्तनों के बावजूद आदिवासी समाज की मूल विशेषता आन्तरिक रूप से आज भी मौजूद है। एक व्यक्ति की रचना होने के बावजूद रेमिस जी के गीतों में वही सामूहिकता है जो पुराने गीतों की सामूहिक रचना में होती थी उनके राग, संघर्ष एवं प्रतिरोध का तेवर भी वही है। सांस्कृतिक सम्प्रभुता के प्रति भी वही सतर्कता है। संग्रह के सारे गीतों को विभिन्न रागों में रचा गया है। श्रम एवं संघर्ष को कला में पिरोना आदिवासियों की अद्‌भुत कला है। रेमिस जी भी ऐसे ही कलाकार है। उन्होंने आदिवासियों के समकालीन मुद्दों को गीतों में पिरो कर इसका प्रमाण प्रस्तुत किया है।

आदिवासी प्रश्न और उर्दू कहानी

(शीन अख्तर के 'छोटानागपुर की कहानियाँ' के विशेष संदर्भ में)

[*]अनवरी बेगम

शीन अख्तर ने छोटानागपुर के आदिवासियों और मूलवासियों की जिन्दगी के नशेब–ओ–फराज को यूँ कैनवस किया है कि फ़ितरतपरस्त, मेहनतकश, फरिश्तासिफत और सादगीपसंद आदिवासियों और मूलवासियों की मज़ाहिर–ए–कुदरत से आँख मिचौली, खुदगर्जी–व– खुदपरस्ती से बेनियाज़ी, ऐय्यारी–व–मक्कारी से ना–आशनाई और दिलसोज़ी–व–दिलशिकनी से नासाजगारी हमाारी नज़रों के सामने आ जाती है। महाजन नेज़ाम के इस्तेहसाल से कराहते, तबक़ाती कशमकशों से जूझते और जालिम–व–जाबिर ताक़तों से जूझते आदिवासियों के दर्द–ओ–कर्ब, बेबसी–व–बेकसी और मायूसी–व–अफसुर्दगी ने शीन अख्तर को बरसों मुज़तरिब रखा तब उन्होंने उन मासूम इल्तिजाओं और हसरत आगीं तमन्नाओं को मौजूं बनाया। उनका कहना है कि :

'छोटानागपुर पहाड़ों और जंगलों से घिरा मेरा महबूब एलाका है। इसके सीने में मादिनयात के खज़ाने पोशीदा हैं। मगर हर दौर में इस इलाक़े का बदतरीन इस्तेहसाल होता रहा है। कलकारखनों ने ठेकेदारों और नए दौलतियों की झोलियाँ भर दीं। मगर आम आदमी फिर भी मजबूर ही रहा। एक तरह के शहरी और संअती कल्चर ने इन्सान की बुनयादी एख़लाक़ी क़दरें जाया कर दी हैं। नए अक़दार के तक़ाज़ों ने इन्सानी खून की होलियाँ खेलीं। इन सारे वाक़ेआत की एक झलक आपको मेरे अफसानों में मिलेगी।'[१]

उन्होंने संतरी की तरह फर्ख–ओ–इफ्तिखर से सर उठाए और सीना ताने मज़बूत–व–मुसतहकम पहाड़ी सिलसिलों, आँचल की तरह लहराते, चारों सिम्त बाहें फैलाए, झूमते जिंदगी और ताज़गी अता करते जंगलों की शादाबियों, किसी राज़ की तरह धरती के सीने में पोशीदा अहले नज़र और मेहनतकशों की मुन्तज़र मादिनयात के ख़ज़ानों और आग़ोश–ए–कोहसार से निकल कर भागती, चट्टानों से टकराती, सबज़ाज़ारों से गले मिलती, बलखाती, लहराती, पयामे जिंदगी देती नदियों को मौज़ं नहीं बनाया– उन्होंने जहान–ए–दिल में उतार–चढ़ाव पैदा करने वाले कैफियात–ओ–हिस्सियात–ए–बातनी की तस्वीर उतारी है। उन

[*]असिस्टेन्ट प्रोफेसर : उर्दू विभाग, जमशेदपुर को-ऑपरेटिव कॉलेज, झारखण्ड, फोन 0657-2360311

कैफियात की जो मज़लूमों, मासूमों, नादारों और मजबूरों के जहानेदिल में तूफान बरपा कर रखे थे। ऐसा तूफान जो कभी एहतेजाज, कभी इन्कलाब और कभी बगावत की शक्ल लेता चला जा रहा था। उन्होनें आदिवासियों की लोककथाओं, असातीरों और उनकी जिंदगी को उस समय कैनवस किया जब हस्सास तबक़े की निगाहें उधर कम ही गईं थीं। उनकी पहली ही कहानी 'विजयः एक कहानी' एक आदिवासी नौजवान की दास्ताने जिंदगी पर लिखी। उनके दो अफ़सानवी मजमुए, 'जिंदाँ की एक रात' (१९६४) और 'छोटानागपुर की कहानियाँ' (१९६५) मनज़र–ए–आम पर सामने आये।

'छोटानागपुर की कहानियाँ' में कुल २० अफसाने हैं। जिन में आदिवासियों के तौर–तरीके, रोजी–रोटी हासिल करने के ज़राए, मज़हबी अकीदे और दिलों में अँगड़ाईयाँ लेते जज़्बात जमाने के अनुसार रंग बदलते नजर आते हैं। उनका अफ़साना 'मंजिलें' आदिवासियों की जिंदगी के ईरतेक़ा की तारीख़ है जो बताता है कि पहाड़ों के खोह, दरख्तों का हुजूम, जंगली जानवरों की भयानक आवाजों से गूँजती फ़ज़ाओं और ज़हरीले कीड़े–मकोड़ों के बीच रहने वाले, जानवरों का गोश्त दाँतों से नोंच–नोंच कर खाने वाले आदिवासियों की जिंदगी का रंग कुछ है तो उस जमाने के आदिवासियों की जिंदगी का रंग कुछ है, जो ग़ारों और जंगलों की जगह बाँस की लकड़ियों की बनी छोटी–छोटी झोपड़ियों में रहते थे। जिनके बच्चे गाय, बकरी और छोटे–छोटे घरेलू जानवरों के पीछे नंगे भागते रहते थे और, उन झोपड़ियों के बीच एक बड़ा मज़बूत मकान भी था जो उन पर राज करता था।

उस जमाने के शब–ओ–रोज़ के रंग कुछ हैं जब झोपड़ियों की जगह मकानात ने ले लिए। हल–बैल लेकर मर्द खेतों में जाने लगे और औरतें रंग–बिरंगे कपड़ों में कमर पर गागर रखे पनघट की ओर जाने लगीं तो वहीं उस जमाने का रंग कुछ और है, जब छोटानागपुर में मशीनें धुआँ उगल रहीं थीं, सड़कों के किनारे खड़े बिजली के खंभे रौशनी बाँट रहे थे। सड़कों पर रंग–बिरंगी कारें भाग रही थीं, रेडियो और ग्रामोफोन की आवाज़ें कानों में रस घोल रही थीं। स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटी की इमारतें तालीम की रौशनी फैला रही थीं।

चाहे कोई भी अहद हो, हर अहद में आदिवासियों पर ज़ुल्म ढाए जाते रहे हैं और उस ज़ुल्म के खिलाफ सदा–ए–एहतेजाज बुलन्द करने वाला 'हाड़ा' भी रहा है जिसका सर ज़ालिमों और जाबिरों ने कुचल डाला। मसलन :

'बूढ़े का कहना अभी खत्म भी नहीं हुआ था कि लोग हाड़ा को पकड़ लाये। फिर हाड़ा को जमीन में कमर तक धंसा कर उसका सर कलम कर दिया गया।'[२]

'हाड़ा बीवी की हत्तकइज़्ज़ती बरदाश्त कर चुका था लेकिन बेटी की रूसवाई हाड़ा से बरदाश्त न हो सकी। नफरत और गुस्से का इजहार मुनीम जी के सामने हो गया। फिर क्या था... हाड़ा की पीठ पर कोड़ों की बारिश हो रही थी।'[३]

'तड़–तड़ गोलियाँ चलने लगीं... हाड़ा झंडे को सीने से लगाये लड़खड़ाता रहा लेकिन आखिरकार गोलियों की बारिश में उसे एक बार फिर नींद आ गयी।'[४]

हाड़ा ने फिर भी हार नहीं मानी। हाड़ा हर उस आदिवासी इन्कलाबी का इस्तेआरा है जिसने ज़ुल्म के खिलाफ आवाज उठाई।

'एक नुक्ता' के 'वह' ने जब बेइंसाफी के खिलाफ सदा–ए–एहतेजाज बुलंद की और दूसरों को भी अपनी आवाज़ से आवाज़ मिलाने की दावत दी तो उसे कैद कर लिया गया। उसे यह कहने पर मजबूर किया गया कि :

'हाथ की पाँचों अँगुलियां बराबर नहीं होतीं। दो और दो चार नहीं होते... समंदर की बड़ी मछली छोटी मछली को नहीं निगलतीं...।' और फिर 'अचानक बिजली की एक लहर से नफी की जुंबिश रूक गई और दराज़ क़द अफराज़ उसकी तरफ झुके तो वह एक नुक्ता बन चुका था।'[५]

अपनी धरती को गुलामी की जंजीरों से आज़ाद करने वालों को 'तिनका' की 'ईज़ा' की तरहा बहा दिया गया : 'अब जल्द ही वह कुटिया भी इस मकान का हिस्सा बन जाएगी... और वह पगली बुढ़िया नदी की लहरों में इस तरह बह जाएगी जैसे तिनका।'[६]

इसी तरह अपनी बेटी बुधनी की इज़्ज़त लूटने वालों को मौत की सजा देने वाले 'फैसला' की बुधनी के पिता को गोली का निशाना बनना पड़ा।

शीन अख्तर की दूरबीं निगाहों ने पहले ही देख लिया था कि मंजिल आदिवासियों के कदम चूमने के लिये बेताब है। जो सपना 'फैसला' की बुधनी के पिता ने देखा था वह 'मंज़िलें' के हाड़ा के अहद में मुकम्मल हुआ। बुधनी के पिता ने मरते–मरते बुधनी की माँ से कहा था कि :

'हमहु फैसला कर दिया। ई गंगा मईया अब हमार हो– ई मंदिर में हमार मूर्ति फिट होबे– और नदी के तट पर हम अपने भगवान की एक नई मूर्ति बनाऐंगे... तू डर आपन दिल से निकाल दे– हमहूं से तो कौनो डरे। अरे बुधनी की मां तू बस डर बन जा– भयानक डर– और ऊ सब के सीना में घुस जा जो जनम–जनम से हम सब के डरावत हैं।'[७]

'मंज़िलें' में खून की तारीख़ लिख–लिख कर मुअर्रिख उदास होकर कलम रख देता है। अचानक एक दिन देखता है कि खुशियाँ अपना आँचल लहराती गुनगुना रही हैं तो लोगों से उसकी वजह पूछता है और वजह मालूम होने पर उस नौजवान के पास जाता है :

'फूलों से लदा हुआ नौजवान– जिसकी बदौलत हम आज एक दूसरी दुनिया में परवाज़ कर रहे हैं– मुअर्रिख नौजवान के क़रीब गया... यकायक उसका सर खुशी से हिलने लगा– उसकी दाढ़ी खुशी के आँसुओं से भींग गईं और वह चिल्ला उठा... हाड़ा तुम... हाड़ा!'[८]

हम देखते हैं कि 'छोटानागपुर की कहानियाँ' के अफसाने मज़लूमों, नादारों और मजबूरों की जिंदगी अजीरन करने वालों के खिलाफ सदा–ए–एहतेजाज बुलंद करने वालों के लरजाख़ेज अंजाम के साथ–साथ आम लोगों के हालात और वाक़ेआत की भी परदाकुशाई करते हैं। उन वाक़ेआत में रंग भरने वाले किरदारों की परवरिश–ओ–परदाख्त ही छोटानागपुर में नहीं हुई है बल्कि उनकी जबान भी छोटानागपुरी ही है। मसलन :

'हमार बुधनी की कौनो इज्जत नहीं? हम अपन खून के रामऔतार न बुला सकी– इ अब सहे की बात नहीं खे। ई बात के फैसला हम करी– इ धरती के पहाड़, नदी, नाला, चाहे गंगा हो या जमना, शिव मंदिर हो या काली मंदिर हमार हौ।'[९]

'चल मां। इ जगह रह के का करबे, हटिया चल... सुन्दर कारखाना के पास तो क्वाटर

मिल गइलिल है। इस घरवा के बेच दे–।'[१०]

'हम तोके प्यार करीस ला।'[११]

कंटेंट और जुबान दोनों स्तरों पर शीन अख्तर के अफसाने आदिवासियों की जिंदगी को करीब से खंगालते हैं और यह उर्दू अफसानों के ऐतिहासिक विकास के लिहाज से नया भी है और मौजूं भी।

(असातीर– मिथक, इरतेक़ा– प्रगति, इस्तेआरा– रूपक, इसतेहसाल– शोषण, एहतेजाज– प्रतिरोध, कैफियात– परिस्थितियाँ, कोहसार– पहाड़ियों की वादियाँ, ग़ारों– गुफाएं, तबकाती कशमकश– वर्ग संघर्ष, दिलशिकनी– दिल टूटना, दिलसोजी– दुःख, नासाजगारी– प्रतिकूल स्वभाव, मुसतहकम– मजबूत, हसरतआगीं– क्षमाप्रार्थी, हिस्सियात– सनसनी, हिस्सियात–ए–बातनी– अवबोध, हस्सास– संवेदनशील)

सन्दर्भ :

१. खाबों की सौदागरी : छोटानागपुर की कहानियाँ, १९६५, पृ. ६५
२. मंज़िलें : वही, पृ. १०६
३. वही, पृ. १०७
४. वही, पृ. ११०
५. एक नुक़्ता : वही, पृ. १५
६. तिनका : वही, पृ. २७
७. फैसला : वही, पृ. १०–११
८. मंज़िलें : वही, पृ. ११३
९. फैसला : वही, पृ. १०
१०. तिनका : वही, पृ. २३
११. ईज़ाबेला : वही, पृ. ८०

कर्नाटक राज्य के आदिवासियों की सभ्यता एवं संस्कृति

*एम० वासंती

अनादि काल से मानव का सम्बन्ध प्रकृति से जुड़ा हुआ है। मानव ने जब आँखे खोली तो प्रकृति की गोंद में अपने को पाया है। प्रकृति से उसने चलना, बोलना आदि क्रियाओं को सीखा और उनका अनुसरण करते हुए विकसित हुए। कर्नाटक के आदिवासियों का जीवन पहाड़ी एवं जंगली सभ्यता वाला है। जहाँ–जहाँ रहने की सुविधा मिली वहाँ–वहाँ इन्होंने घर बनाये और रहने लगे। कर्नाटक के आदिवासियों में ज्यादातर आदिवासी नागरहोले, काकनकोटे आदि जंगलों में तथा बंडीपुर पहाड़ी प्रदेशों में निवास करते हैं। इनके समुदाय में कम लोग हुआ करते हैं और आपस में सम्पर्क करने के लिए अपनी ही बोली का प्रयोग करते हैं। अपनी राजनीति होती है। और प्रशासनिक व्यवस्था होती है। आचार–विचार, वैवाहिक सम्बन्ध, नामकरण, धार्मिक व्यवस्था उनकी अपनी अलग होती है। ईश्वर के प्रति बहुत ही आस्थावान होते हैं। उनके नियम बहुत कठोर होते है। आज कल उनकी स्वतंत्रता का आधुनिकता ने आच्छादन कर लिया है। उनमें भी पम्परागत सामग्रियों के स्थान पर आधुनिक संसाधनों का उपयोग हो रहा है। उनके जीवन पर आधारित कुछ बातें और भी है। संक्षिप्त में निम्नांकित रूप से देख सकते हैं :

भारत में आदिवासियों की संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। भारत के समाज से पृथक रहकर उनसे शोषित होकर भी वे अपनी अलग पहचान बनाये रखने में सफल हुए हैं। प्रतिष्ठित समाज उनका हर दृष्टि से शोषण करता ही रहा है। आदिवासी सामान्यतया जंगल में अपना निवास बनाकर पूरा जीवन व्यतित करते हैं। ये लोग आजीविका के लिए कुछ परम्परागत काम करते है। जैसे कृषि, शिकार, बाँस की टोकरी तैयार करना, शहद संग्रह करके बेचना आदि। आजकल उनमें से कुछ लोग गाँव में आकर बस गये हैं। कर्नाटक के आदिवासियों में लगभग बासठ (६२) समूह हैं। जैसे गौडलु, असलरू, सोलीगरू, गोडंरू, जेनु कुरूबा, काडूकुरूब, मलयकूडि, चंचुगलु, कोरगरु, कोटा, तोदबा, कोरमा, मेदरू आदि। इनमें से सोलिग समुदाय वालों का प्रमुख कार्य कृषि है। वे इस कार्य में बहुत ही अनुभवी होते हैं। पहाड़ों के ढलावी प्रदेशों में आदिवासी आवश्यकता के अनुसार अन्न की खेती करते है। ये फसल दान भी करते हैं।

कृषि बारिश पर ही निर्भर है। इस कृषि से उनका जीवन नहीं चलता। ये लोग जंगल में प्राप्त अनेक पदार्थ एवं सामग्रियों का संग्रह करके गाँव में भेजते है। देहाती प्रदेशों में उनकी चीजें

*सहायक प्राध्यापक : हिन्दी अध्ययन विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर, कर्नाटक, मो० 09611368670

बहुत ही सस्ती दाम में खरीदी जाती हैं। इसके अलावा जंगल में प्राप्त फल, शहद आदि भी भेजते है।

सोलीग समूह के आदिवासी जंगल की जड़ी–बूटियों को संग्रहित करने में बहुत ही निपुण होते हैं। अनेक प्रकार के प्राणियों के सिंग, हड्डियां, चमड़ी तथा देह के महत्वपूर्ण भागों को संग्रह करने में ये लोग सिद्धहस्त होते है। वे लोग देहातियों के साथ वस्तु विनिमय पद्धति को अपनाकर जीवन निभाते हैं। देहात वाले मंत्र तथा जादू–टोना के लिए इनकी सहायता लेते हैं।

जंगल ही इनका निवास होने के कारण सोलिग समूह वाले जंगली जानवरों के गुण स्वभाव से अच्छी तरह से परिचित होते हैं। हिरनी, सारंग, सुअर, जंगली भैंस आदि का बहुत सरलता के साथ शिकार करते हैं। यह लोग क्या रात, क्या दिन–दोनों समय जंगल में तीव्रगति से विचरण कर सकते हैं। यदि जंगली हाथी का सामना भी हो तो उससे बचने का उपाय भी वे अच्छी तरह से जानते हैं। धनुष और बाण चलाने में सिद्धहस्त होते हैं। हिरनी की चमड़ी का उपयोग करते हुए दूसरे प्राणी का भी शिकार करते हैं।

पहले इस समुदाय वाले जंगल में प्राप्त सामग्रियों से ही गहने का काम लिया करते थे। इन दिनों इस समूह की स्त्रियाँ आधुनिक सामग्रियों की ओर आकृष्ट होती जा रही है, जिसके कारण साबुन, आधुनिक कंघी और जूतों का उपयोग भी कर रही है। इनकी बच्चे पेन, बैटरी, कैमरा आदि की ओर भी आकृष्ट हो रहे हैं।

आजकल इनके बच्चे स्कूल जा रहे हैं और शिक्षित बन रहे है। उनमें से कुछ आदिवासी संस्कृति पर लिख रहे हैं। जब उनको समय मिलता है तो ये लोकनृत्य करते हैं और लोकगीत गाते हैं। उनके लोकनृत्य और गानों में आदिवासी संस्कृति तथा दिनचर्या का वर्णन रहता है। कभी–कभी लोक प्रसिद्ध कथाओं को आधार बनाकर लोकगीत भी गाते हैं। इनके लोकगीतों में पहेलियाँ, नीतियाँ आदि भी व्यक्त होती हैं। निम्नांकित मुहावरा दृष्टव्य है–

ओहगे होद्रे हेण
होरगे बंद्रे हण

अर्थात ''जमीन के अंदर रहने से कोई फायदा नही है जमीन के बाहर आ जाय तो उसका फायदा ही फायदा है।''

सिक्कों के सम्बंध में निम्नांकित मुहावरा बहुत ही प्रचलित है :

''अक्षरगहिद्दरू पुस्तकवल्ल
सिंहविद्दरू अरण्यवल्ल
दुंडागिद्दरू चक्रवल्ल–नानारु?''

अर्थात ''काले लड़के को छुने से गोरी लड़की घर उजागर करती है।''

सामान्यत: आदिवासी बीमार पड़ जाय तो जड़ी बूटियों का ही उपयोग करते हैं। साँप डस जाय या बिच्छु डंक मारे तो उनके पास औषधि है। बिच्छु के डंक मारने कि क्रिया पर निम्नांकित पंक्ति उल्लेख्य है :

डाक्टू बत्तारे
इंजक्षना माडूत्तारे

दुडु इस्कंद्दा होग्तारे

अर्थात् डाक्टर (बिच्छु) आते है और इजंक्षन करते हैं और फिर बिना पैसे लिये जाते है। यहाँ डाक्टर के (इंजेक्शन) क्रिया के साथ बिच्छु के डंक मारने की क्रिया की तुलना की गई है।

इसी तरह कुछ समस्याओं को सुलझाने के सम्बंध में पहेलियाँ प्रश्नार्थक रूप में निर्मित हुई हैं। उदाहरणार्थ–

रामण्णन होलदल्लि
भीमण्णन हुंज मोट्टे इट्टितु
अदु रामण्णनिगे सेरबेकु
भीमण्णनिगे सेरबेकु?

भावार्थ यह है कि रामण के खेत में बिमण्ण का मुरगा अंडा रखता है तो वह अंडा रमाण्ण का होग या बीमण्ण का।

ओंद मरदल्लि नूरेवत्त कागेगहिवे
अवन्नु कोविनल्लि होडेदाग एईडु सत्तु बीद्दवू
मरदल्लि उहिदवेष्टू?

इस तरह उपर्युक्त उदाहरणों से यह परिलक्षित होता है कि कर्नाटक के आदिवासियों का जीवन पहाड़ों और जंगलों में गुजरता है। प्रमुख समाज से अलग रहकर अपनी ही एक पहचान बना लिये हैं। जीवन के हर रंग के प्रति इनकी रागात्मकता इनकी संस्कृति में संरक्षित है।

संदर्भ :

१. किताब : जनपदा कौलश अध्ययनगहु
२. एव अम्बलिका ईरियन

भाषा–साहित्य

मुंडारी लोककथाएं : मुंडारी जनजीवन का आईना

*मुदिता चन्द्रा

झारखण्ड जनजातीय बहुल राज्य है। इसमें कुल तीस आदिवासी समुदाय निवास करते हैं। छोटानागपुर और संताल परगना क्षेत्र में रहने वाली जनजातियों में प्रमुख जनजातियाँ हैं संताल, उरांव, मुंडा, हो और खड़िया। प्रत्येक जनजाति एक निश्चित भूभाग पर रहती है। हर जनजाति के अपने धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक आचार–विचार, विधि–विधान, परिवार–गोत्र, जन्म–मृत्यु संस्कार और उत्सव होते हैं जो अन्य जनजातियों से उनकी अलग पहचान तय करते हैं। खान–पान, रहन–सहन और कद–काठी से भी उनकी अलग पहचान बनती है। पहचान देने वाले ये रीति–रिवाज ही संस्कृति कहलाते हैं।

संस्कृति का सीधा अर्थ है परिष्कार या संस्कार। इसकी सीमाएँ एक ओर धर्म को स्पर्श करती हैं तो दूसरी ओर साहित्य को अपने बाहुपाश में आबद्ध करती हैं। वेश–भूषा, परम्परा, पूजा विधान और सामाजिक रीति–नीति की विवेचना भी संस्कृति के अन्तर्गत होती है। प्रकृति की सीमाओं पर मनुष्य ने जो विजय चाही, उसका भौतिक स्वरूप सभ्यता और आत्मिक, आध्यात्मिक अथवा मानसिक स्वरूप संस्कृति है। ''सभ्यता बाह्य प्रकृति पर हमारी विजय का गर्वध्वज है और संस्कृति अंत: प्रकृति पर विजय प्राप्ति की सिद्धि''। लोक–संस्कृति का अर्थ है वह परम्परा जो आदिकाल से अब तक किसी जनजाति में पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। अत: मुंडारी लोक परम्परा के साहित्य का अर्थ मुण्डा लोक समुदाय में आदिकाल से वर्तमान काल तक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चली आ रही परम्परा का साहित्य है। वर्तमान में हम इसे मुंडारी लोक–साहित्य के रूप में जानते हैं। यह लोक–साहित्य मुंडारी भाषा–भाषियों के पुरखों की आत्मा है। लोक–साहित्य किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं होती है बल्कि उस भाषा के जन–समुदाय द्वारा यह निर्मित होती है। हाँ इस साहित्य का कोई एक व्यक्ति संग्रहकर्त्ता एवं प्रकाशक अवश्य होता है।

मुंडारी संस्कृति का लोक साहित्य समृद्ध एवं परिपूर्ण है। झारखण्ड प्रदेश में आधुनिक काल के आरंभ तक जब यहाँ अंग्रेज तथा ईसाई धर्म प्रचारक नहीं आए थे, मुंडारी संस्कृति से सम्बद्ध साहित्य पूर्णत: मौखिक था और अब भी अंशत: मौखिक ही है। जिन्दगी के मर्म को बहुत निकट से समझकर सहजतापूर्वक उसका उद्घाटन करना लोकसाहित्य का कार्य है। जीवन की

*एसोशिएट प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, जमशेदपुर, झारखण्ड, संपर्क : 09431380350

सच्चाई ही इसके सृजन की सबसे बड़ी ताकत है। लोक साहित्य में मानव हृदय का यथार्थ चित्रण होता है। लोक संस्कृति शरीर है तो लोक साहित्य उसका एक अवयव है। महेन्द्र राजा जैन ने माना है कि ''लोकसाहित्य हजारों वर्ष की अटूट परम्परा को लिए हुए है। यह मानव जाति के हजारों वर्षों के जीवन के अनन्त पहलुओं की लीलाभूमि है।'' साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, किसी भी समाज के उत्थान–पतन, विनाश–विकास तथा उसके आन्तरिक और बाह्य स्वरूप को देखने, जानने और समझने के लिए वहाँ के साहित्य का अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक होता है।

लोक साहित्य जनता की बोली या भाषा में कभी गीत बनकर, कभी गाथा बनकर, कभी गाना बनकर, कभी नाट्य नौटंकी बनकर तो कभी कथा बनकर प्रकट होता है। ये सब लोक साहित्य के ही साकार प्रतिरूप हैं। लोक साहित्य की अभिव्यक्तियों में ही मनुष्य की आदिम मनोवृत्तियाँ, बोलियाँ, भाषाएँ आदि विविध रूपों में प्रकट होती हैं। वस्तुत: लोक साहित्य के आयाम वैविध्यपूर्ण हैं, उसके अनेक प्रभेद हैं जैसे लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, लोकवार्ता आदि। मैनें मुंडारी लोक कथाओं को आधार बनाकर मुंडारी संस्कृति की विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। तीन स्वरूपों में मुंडारी लोककथाएँ प्राप्त होती हैं –

१. धर्मगाथा (मिथ)
२. अवदान (लीजेण्ड)
३. कथा (स्टोरी)

धर्मगाथा के अन्तर्गत वैसी लोककथाएँ आतीं है जिन पर मुंडारी समुदाय अटूट विश्वास करता है। इसमें विश्व, उसकी उत्पत्ति, प्रलय, जीवन–मरण, मनुष्य, पशु, जाति–भेद, व्यवसाय भेद, धार्मिक उपचार, पैतृक कथाएँ तथा अन्य रहस्यमय व्यापारों के कारणों की व्याख्या रहती है, 'धर्मगाथा घटनाओं का नहीं, उनको मानने वालों का इतिहास हैं।' समस्त सृष्टि की रचना कैसे हुई, चाँद–सूरज, धरती–आकाश, कैसे बने इसके विषय में मुण्डारियों की विशेष मान्यता है। ये मान्यताएँ लोककथा के रूप में सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। जाति–गोत्र बनने की लोक–कथाएँ भी बहुत प्रचलित हैं। मुंडारियों का बहुत प्रिय पेय है हडिया। यह कैसे बनता है और क्यों बनता है इससे सम्बन्धित लोककथा भी इलि रअ: एनेटे: (हड़िया का जन्म) बहुत प्रचलित है। साथ ही कौन से पर्व क्यों और कैसे मनाए जाते हैं इससे सम्बन्धित लोक–कथाएँ भी धर्मगाथा के अन्तर्गत ही आती हैं, जैसे बा–नेत्र (सरहुल पर्व), करम कानी (करम कहानी), सोराई (सोहराई पर्व) आदि।

अवदान वे विवरण हैं जो कोई व्याख्यान करने के लिए नहीं कहे गये, वरन् उन बातों के सीधे सच्चे वर्णन हैं जिनको घटित हुआ माना जाता है, जैसे– जल प्लावन, कोई विजय, पुल या नगर का निर्माण। सोन लेकन दिसुम (सुनहले देश की खोज) लोक कथा में पहले उस घटना का वर्णन मिलता है जिसके कारण मुंडाओं ने बसने लायक जगह ही तलाश की और कैसे बसे इसका विवरण भी यह कथा देती है। इसी तरह की कथा है नवाँ दिसुम (नई बस्तियाँ), हिरा राजा (हीरा राजा) आदि।

कई ऐसी लोक–कथाएँ हैं जो मात्र मनोरंजन के लिए गढ़ी गई हैं अथवा कई

लोककथाएँ ऐसी भी हैं जो नैतिक शिक्षा देती है। ऐसी कथाएँ 'कथा' के अन्तर्गत आती हैं। ऐसी कथाओं को अंग्रेजी में 'फेबुल' तथा भारतीय भाषाओं में तंत्राख्यान कहते हैं। भारत में 'पंचतंत्र' की रचना शिक्षा देने के लिए ही हुई थी। इन कथाओं के माध्यम से पशु–पक्षियों को कथा का पात्र बना कर उपदेश दिए जाते हैं। इचा फूल, बाघिन स्त्री, बन्दर की मित्रता, भाई–बहन, राजा और मेढ़क, रानी की चतुराई, जुलाहा और गिरगिट, सियार की चालाकी, जंगल का राजा कौन आदि इसी श्रेणी की लोककथाएँ हैं।

मुंडारी लोक–कथाओं में मुंडारी संस्कृति की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है लोक कथाओं में जो मनोभाव, इतिहास, भूगोल, धर्म, आर्थिक समस्याएँ आदि छिपी होती हैं, उनको किस तरह उद्‌बुद्ध किया जाता है तथा कैसे सुलझाई जाती है, यह मुंडारी लोककथाओं में देखा जा सकता है। इन लोककथाओं में प्रचलित सामाजिक आचारों और मान्यताओं के साथ–साथ विपरीत मूल्य धारणा और आदतें मुंडारी लोककथाओं में मिलती हैं। मुंडारी लोककथाओं की आस्था जीवन के सुखान्त पर है। उनकी लोक कहानियों में ''जैसे को तैसा'' मिलता है तथा हमेशा सच्चाई, परिश्रम और परोपकार को न्याय अर्थात भलाई को हमेशा जीत मिलती है। बिररेन रानी (जंगल की रानी), गाड़ीअ: सोंगोती (बन्दर की मित्रता) जैसी लोक कथाओं में इसी तरह की भावनाएँ देखने को मिलती हैं।

लोक कथाओं में कमजोर पात्र कभी–कभी अपने से प्रबल और अत्याचारी पात्र को पराजित करता या युक्ति से मार डालने में सफल होता है। ऐसी कथाओं के द्वारा निर्बल पात्रों में आत्मविश्वास और आशा का संचार किया जाता है, साथ ही सबलों को अपने आपको संभालने का अवसर प्रदान किया जाता है। देशेपुती राजा (देशपती राजा), बिङ्ग कोवा: चुनी मुन्दम (सर्पमणि की अंगूठी) इसी प्रकार की कथाएँ हैं। मुंडारी लोककथाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि विषय की दृष्टि से ये सभी कथाएँ व्यापक सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विस्तार लिए हुए हैं। कथाओं में जहाँ मुंडारी समाज और जीवन की लोक परम्पराओं और उनके व्यावहारिक ज्ञान की बातें संचित हैं, वहीं उनमें बाह्य एवं अन्य सांस्कृतिक प्रभाव भी है। मुंडारी लोक कथाएँ कौतुहल पूर्ण होती हैं क्योंकि अलौकिकता अथवा चमत्कार इस समाज में अभी भी प्रिय है। ज्यादातर कहानियों में प्रकृति, जंगल, जानवर और अन्य परिवेशगत वातावरण एवं संस्कारों का समावेश है, चूंकि मुंडारियों का जीवन आदिम समय से आज तक प्रकृति के साहचर्य में रहा है, इसलिए अनेक कहानियों में स्वाभाविक रूप से जंगल का समूचा परिवेश अपनी सुन्दरता भय और रहस्यमय रोमांच के साथ उपस्थित है। प्रकृति के अबूझ रहस्यों से उपजे विश्वास भी कहानियों में मौजूद हैं। श्रम, कृषि और शिकार जो कि उनकी आर्थिक संरचना के मूलाधार हैं वे भी मुंडारी लोक कथाओं में बखूबी चित्रित हैं। अन्याय पर न्याय की जीत, सत्य की प्रतिष्ठा, सम्बन्ध की पवित्रता, धार्मिक विश्वास आदि सार्वभौम मानव–मूल्यों एवं मान्यताओं का निर्वाह भी इन कथाओं में कुशलता से हुआ है। पूरी मुंडा जीवन प्रणाली और संस्कृति का प्रवाह लोक कथाओं में है। जिसकी समृद्धशाली आधारशिला पर मुंडारी समाज जीवन और संगठन की रचना हुई है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मुंडारी लोक–कथाएँ आदिम समाज की अनमोल एवं अद्‌भुत धरोहर हैं। इन कथाओं में जहाँ एक रहस्य और भव्य अतीत दिखाई देता है, वहीं विराट् भविष्य के भी दर्शन होते हैं। मुंडारी लोककथाओं में प्राचीनता के साथ–साथ नवीन युग बोध भी है। सामाजिक वातावरण में पल्लवित एवं पुष्पित कथाएँ जन जीवन की गतिशीलता को अनुप्राणित करती हैं और भविष्य की कल्पना को वर्तमान की चेतना से नयी अभिव्यक्ति प्रदान कर सशक्त बनाती हैं। अत: डॉ० दिनेश्वर प्रसाद के शब्दों में हम कह सकते हैं कि– 'लोक साहित्य का बहुत बड़ा भाग जितना प्रादेशिक है, उससे अधिक राष्ट्रीय और जितना राष्ट्रीय है उससे अधिक अन्तरराष्ट्रीय है।''

सन्दर्भ :

१. झारखण्ड : संपादक व संयोजक– हेमंत
२. झारखण्ड–समाज, संस्कृति और विकास : विद्याभूषण
३. आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल : डॉ. रामदयाल मुंडा
४. अखड़ा (त्रैमासिक) : संपादक : वंदना टेटे, जून–अगस्त २००८ ई.
५. मुंडारी लोककथाएं : जगदीश त्रिगुणायत

सिएंथल की कविता के मार्फत आदि धर्म का पुनर्स्मरण

*सुबोध कुमार सिंह

वर्षों पूर्व अमरीकी रेड इंडियन कवि सिएंथल की कविता पढ़ी थी— ''प्रमुख के नाम पत्र'' लूट और संहार के विस्तारवादी प्रयत्नों के खिलाफ इस कविता में आदि धर्मनिष्ठ कवि की वेदना रूपायित करती है— धर्म के मूल को, मूल धर्म को भी उसने लिखा—

"गोरे राज्य के प्रमुख ने कहलवाया है कि— वे हमारी जमीन खरीदना चाहते हैं/ हम जानते हैं कि उन्हें हमारी दोस्ती की जरूरत नहीं... यह भी जानते हैं कि यदि जमीन नहीं बेची तो /तोपों सहित आ सकते हैं ये गोरे लोग''।

प्रसंगवश कवि आदि धर्म से प्रेरित क्रियाएँ व्यक्त करता है। वह सवाल करता है कि **''किस तरह तुम बेच या खरीद सकते हो आकाश को/या पृथ्वी के स्नेह को ?/ये बात हमें समझ नहीं आती/जब हवा की ताजगी/और पानी की स्फूर्त्ति/हमारी मिल्कियत नहीं। तब कैसे बेच सकते हो उनको?''** वह याद करता है— **''इस जमीन का कण—कण हमें पूज्य है/पेड़ों का एक—एक पत्ता हरेक रेतीला तट शाम के कोहरे से ढंका हुआ जंगल/सपाट मैदान और भौंरों का गुजंन/ये सभी पवित्र हैं, पूज्य हैं।''** वह स्पष्ट करता है— **''हम आदिवासियों की यादों और जीवन से बंधे हैं/ ये पेड़ अपनी रगों में हमारे अतीत की यादें संजोए हुए हैं/गोरे भूल जाते हैं मरने के बाद अपनी जन्मभूमि/लेकिन, हम नहीं भूलते अपनी मिट्टी, मरने पर भी/ ''** सिएथंल बताता है— **''यहाँ के सुगंधित फूल हमारे भाई—बहन हैं/ ये हिरण, ये घोड़े, ये विशाल पक्षी—/सब हमारे भाई हैं/पहाड़ों की चोटियाँ, मैदानों की हरियाली,/घोड़े और सवार के शरीर का पसीना/सब एक ही परिवार का हिस्सा हैं।''** तभी कवि कहता है— **''जब वाशिंगटन का बड़ा सरदार/जान से भी प्यारी हमारी जमीन मांगता है— तो वो बहुत कुछ मांग लेता है।''**

इस भाव को समझिए और आदि धर्म को समझ जाइए। सरकार की मांग पर सिएंथल अवाक—हतप्रभ है। क्योंकि, **''जमीन हमारे लिए पवित्र है, पूज्य है/नदियों और झरनों में बहता निर्मल जल/केवल जल नहीं हमारे पूर्वजों का लहू है''**। धर्म दर्शन समझिए— **''झील में झलकती हरेक परछाई में छिपी है/आदिवासियों के जीवन की यादें और गाथाएँ/पानी के कल—कल में सुनाई देती हैं/हमारे पूर्वजों की आवाज, नदियाँ हमारी दोस्त हैं, प्यास बुझाती है...''**। वह आगे कहता है— **"यहाँ बिखरी है हमारे पूर्वजों की राख/और ये पेड़, ये पर्वत और धरती का यह भाग पवित्र है, जिन पर टिकी हैं पूर्वजों की समाधियाँ।''** उसे मालूम है कि गोरे ऐसी बातें नहीं समझते जो जमीन को जीतना चाहते हैं। जिसे अपने पितरों की समाधि की कोई परवाह नहीं : **''माँ समान धरती और पिता समान आकाश/उसके लिए बेजान, बाजारू चीजें हैं/जिसे वह भेड़ों या चमकते मोतियों की तरह/खरीदता—लूटता और बेच देता है''**। आदिवासी और गैर आदिवासी धर्म यानी, स्वभाव को स्पष्टत: अभिव्यक्त किया है सिएंथल ने।

उसने यह भी बताया कि आदि धर्म ही मूल और सही है। धर्मच्युत होकर सृष्टि को सिर्फ रेगिस्तान बनाया जा सकेगा। आदि धर्म से विमुख जीवन की विसंगतियों को उसने खूब उकेरा है और, आदिवासी धर्म की मौलिकता और प्रयोजन बताया है। उसने लिखा, **''लेकिन, गोरे लोग इस हवा की परवाह नहीं करते/वैसे ही जैसे शय्या पर पड़ा आदमी/शून्य हो जाता है दुर्गंध के प्रति।''** कवि हवा की बात करता हुआ याद करता है कि **''यही जीवों का पोषण करती है/और इसी हवा में पुरखों की पहली और आखिरी सांसें हैं।''**

सरदार के जमीन मांगने पर कवि एक शर्त्त रखता है—**''इस धरती पर बसने वाले पशुओं को समझोगे तुम अपना बंधु/मैं जंगली हूँ और शायद नहीं जानता/कोई और जीने का तरीका।''** उसका सवाल सुनिए— **'' मैंने मैदानों पर हजारों भैंसों के सड़े—गले शरीर देखे है/जिन्हें गोरों ने बेवजह चलती गाड़ियों से मार दिया था/मैं सभ्य नहीं और नहीं समझ पाता/कि कैसे धुआँ उड़ाती बेजान लोहे की गाड़ी/ उस पशु की जिन्दगी से ज्यादा जरूरी है?''** यह सवाल आदि धर्म का मूल समझिए। सिएंथल चेतावनी देता है कि वही मनुष्य भोगेगा एक दिन। क्योंकि वह कहता है **''अपने बच्चों को जरूर सिखाना/कि जिस जमीन पर चलते हैं/वह हमारे पुरखों की राख से बनी है।''** और यह भी **''कि यह मिट्टी हमारे पुरखों की गाथा से समृद्ध है; कि धरती हमारी माँ है—** यह हमने बच्चों को बताया और तुम भी यही बताना।''

सिएंथल आदिवासी कबीलों पर आए संकट और उसकी वजह भी बताता है। वह चेतावनी भी देता है कि गोरे भी एक दिन जरूर समझेंगे। एक दिन गोरे लोगों का अंत आएगा। उसने बहुत सारी बातें बताई। अपने पूज्य पहाड़ों, वृक्षों और जानवरों के साथ होने वाले व्यवहार तथा सामने बन गए हालात की बातें करता हुआ वह खूब चिंतित है। वह विश्वास करता है कि जब धरती पर से अंतिम आदिवासी भी मिट जाएगा तब यह समुद्रतट और बीहड़ वन मेरे लोगों की आत्मा संजो कर रखेंगे। वह आखीर में कहता है **''अगर हम तुम्हें जमीन बेचते हैं तो उसे तुम वैसे ही प्यार करना जैसा हमने किया।''** सिएंथल आदिधर्म का विस्तार चाहता है।

''प्रमुख के नाम पत्र'' आदि धर्म का पुनर्स्मरण है। यह एक द्वार खोलती है जिसके द्वारा आदि धर्म का मूल तत्व झलकता है। वह धर्म जो विश्वजनीन है। इस धर्म में प्रकृति के अवयव पूज्य, अभिभावक, सखा और रक्षक होतें हैं। मरांग बुरु सिर्फ बड़ा पहाड़ नहीं होता वह बड़ा देवता और महादेव होता है। ऐसी ही, वह भगवत् शक्ति नदी, जंगल, जीव—जतुंओं में वास करती है। इसे आप प्रकृति पूजा कहिए। निश्चित रूप से यह सर्वव्यापी, सर्वसुलभ, प्रत्येक रूप—रंग—आकार—भाव में उपस्थित ''निराकार'' की उपासना है। यह धारणा अमरत्व का

*सहायक प्राध्यापक : बंगला विभाग, घाटशिला कॉलेज, झारखण्ड, संपर्क : 09835776927

स्वीकार है। जब कोई आदिवासी स्वजन की मृत्यु के बाद मृतक की आत्मा को छाया रूप में घर वापस आने और हमेशा रहने का आमंत्रण अनुष्ठान करता है तब आत्मा की अमरता, सृष्टि की अनवरतता और सृजन की अनश्वरता पर अपना विश्वास दुहराता है। एक ऐसा भाव जो आदि धर्म का आधार है। इस धर्म में पितरों पूर्वजों का महत्त्व है। सृजन के प्रति कृतज्ञता है। उसकी हितैषणा का स्वीकार है। इसमें पितर घर में वास कर, आगामी संततियों को सदैव मार्गनिर्देश करते हैं। पूर्वज सिर्फ कल्याण करता है कभी अहित नहीं कर सकता है।

यहाँ पाप और पुण्य के स्पष्ट भाव हैं। स्वर्ग और नरक का लोभ या भय इस धर्म में नहीं है। समाज सम्मत काम पुण्य और समाज विरोधी कर्म पाप। इस धर्म में व्यक्तिगत हित की आकांक्षा वर्जित है। समाज हित–कर्म ही धर्म है। सामाजिकता ही स्वर्ग और असामाजिकता ही नरक है। इस धर्म में परमेश्वर से संयुक्त होने के लिए किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं। इस समाज में सिर्फ मनुष्य नहीं रहता पशु–पक्षी, पहाड़ नदी धरती आकाश–सब–के–सब होते हैं। परमेश्वर अगर परमकृपालु, परमपिता और परम कल्याणमय है तो उसके लिए किसी पेशेवर व्यक्ति की जरूरत क्यों ? वह धार्मिक से अधिक आनुष्ठानिक और व्यावसायिक बात दिखती है। आदि धर्म में अनुष्ठान है किंतु अत्यल्प और आडम्बर, प्रदर्शन, पाखण्ड की जगह लगभग नहीं है। सृष्टि के सभी जीव–निर्जीव, चर और अचर के साथ उनका रिश्ता समानता, समंजन, समन्वय और परस्पर सम्मान के गंभीर बोध के आधार पर होता है। आदि धर्म में यह अहंकार भी नहीं कि सृष्टि मनुष्य के सुख और उपभोग के लिए बनाई गई। यह भी नहीं कि मनुष्य ही प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ है। आदि धर्म इस विनाशकारी भाव को अस्वीकार करता है कि प्रकृति का अधिकतम दोहन मनुष्य का अधिकार है। सिएंथल की कविता में यह सत्य उद्घाटित किया गया। चेतावनी दी गई कि चराचर से आत्मीयता और परस्पर निर्भरता का रिश्ता टूट जाए तो विनाश अवश्यम्भावी है। आज इस आदि धर्म को अधिक से अधिक, प्रचारित करने का स्पष्ट प्रयोजन है। पिछली शताब्दियों में जिस प्रकार आदि धर्म को विस्मृत किया गया उसके फल स्वरूप उत्पन्न हुई विभीषिका को हमें दिखाई पड़ने लगी है। वही आशंका सिएंथल ने बताई और आखीर में कहा ''यह समय ही बताएगा।''

पृथ्वी को रौंदने की चल रही व्यक्तिवादी–विस्तारवादी आकांक्षाएँ सिर्फ विभीषिका का सृजन करेगी, ऐसा स्वयं – सिद्ध है। आदि धर्म मेधावी मानव के जन्म के पहले पैदा हुआ, सृष्टि के साथ ही यह अविनाशी सत्य चलता रहा।

धर्म के दो पक्ष हैं। एक में यह स्वभाव और कर्त्तव्य है– जैसे पेड़ का धर्म है फल–फूल–छाया देना। धर्म का दूसरा पक्ष वे आचार और दायित्व हैं जो हम ''ग्रहण'' करते हैं। एक पक्ष व्यक्ति में स्वतः रहता है, अंतस्थनिहित दूसरा पक्ष वह स्वेच्छा से ग्रहण करता या छोड़ता है। धर्म के स्वाभाविक रूप में भूगोल मनोविज्ञान और अनुवांशिकी का खास हाथ होता है। इतिहास, अर्थनीति और अन्य समस्याएँ–दशाएँ उसे कर्त्तव्य पक्ष वाले धर्म से जोड़ता है। आदिम युग से मनुष्य के साथ ही उसका धर्म भी रूप ग्रहण करने लगा। इस धर्म का प्रवर्त्तक या पैगम्बर नहीं। वह समूहों का निर्माण था। इसके बाद कई इतर कारणों से देश–देशांतरों में विचारकों–दार्शनिकों ने अपनी व्याख्याओं और आचार शास्त्रों का निर्माण किया– सम्प्रदाय

गठित होने लगे। बुद्ध और महावीर, जरथुस्त्र और ईसा, लाओ–जे और कंफ्यूसियस जैसे अगणित धर्म प्रवर्त्तक सारी दुनिया में आए, संगठन बनाए, प्रचार किया। इसके विपरीत आदिधर्म का प्रचारक नहीं था। नदी घाटी सभ्यताओं के विनाश के साथ आदि धर्म लुप्त हो गए। जिन समुदायों ने आदि धर्म को संरक्षित रखा वे आदिवासी रहे और उन समूहों में ही आदि धर्म सुरक्षित रहा। आदिवासी और आदि धर्म परस्पर अनिवार्य है– एक का अस्तित्व दूसरे पर आश्रित।

आदि धर्म से धर्म का मूल तात्पर्य ''धार्मिक आस्थाओं के उस मूल स्वभाव से है जिसे एनिमिज्म, जीवसत्तावाद, आदिम धर्म, एबोरिजनल रिलिजन, आदिवासी धर्म, जनजातीय धर्म, सरना धर्म, बोंगावाद आदि नामों से पुकारा जाता है।'' यह दिलचस्प तथ्य है कि आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में रहनेवाले आदिवासी समुदायों के धर्मों में मौलिक कोई भेद नहीं; प्रकृति के साथ बनाए गए रिश्ते समान रूप–गुण वाले हैं। आज धर्म का अर्थ सामान्यतः किसी पैगम्बर, अवतार या गुरू द्वारा प्रतिष्ठित धार्मिक संगठन से समझा जाता है। ऐसे सभी संगठन खुद प्रचार करते हैं। प्रचार और संगठनों के कारण कटुता भी आती है। इसके ही दबाव में आदि धर्म भी प्रभावित हुआ। पूंजी की सार्वभौमिकता ने मानव धर्म के मूल स्वभाव को स्खलित कर दिया है। सिएंथल का इशारा उसी विभीषिका की ओर है। वह चाहता है कि सारी दुनिया आदिवासी स्वभाव यानी धर्म यानी आदर्श और कर्त्तव्य को यथाशीघ्र मान ले। वह आदि धर्म जिसमें एक परमेश्वर है जो सबका स्रष्टा है। सृष्टि करना उसका कर्त्तव्य है। सृष्टि का समाजीकृत–मानवकृत देश–कालातीत विस्तार है। सृष्टि उसके कर्म और कामना का प्रतिफल है, मानव का सहयोगी और मित्र है। आदि धर्म में पृथ्वी–सूर्य–चांद, तारे, मिट्टी, पानी, हवा, ताप, शीत प्राथमिक तत्व हैं। विभिन्न जनपदों में सृष्टि–सृजन की कथाएँ प्रचलित हैं। मनुष्य के सृजन की कथाएँ भी हैं और अन्य जीव जन्तुओं की रचना की भी। इन कथाओं में आदि धर्म का मूल भाव परिलक्षित है। इनमें जंगल और कृषि की भूमिका जीवन के मूल प्राणाधार की तरह है। जमीन से जुड़ाव उसकी मूल प्रवृत्ति है। बाध्यताएँ उसे विस्थापित कर सकती हैं मगर, उसकी स्मृतियों से लुप्त नहीं हो सकतीं। आदि धर्म में प्रतीकों की पूजा भी है। वस्तुतः उनके उत्सवों में इन प्रतीकों की झलक मिल जाएगी। 'सरना' एक मिनी जंगल की तरह होता है। एक ही जगह पर अस्त्र और बीज भी विभिन्न अनुष्ठानों में उनके प्रतीक दिखते हैं। अधिकतर प्रतीक सृष्टि और जीवन से सम्बंधित भी। पूरे साल भर चलनेवाले सभी उत्सव प्रतीक हैं जो जीवन के व्यवहार में प्रतिपादित हुए। उत्सवों में मवेशियों की खास भूमिका रहती है। पशुपालन से सम्बंधित आचार सिएंथल के आदर्श सम्पुष्ट करते है। आज आवश्यकता है आदि धर्म को विश्वव्यापी बनाने की।

धर्म के लिए अंग्रेजी में शब्द है 'रीलिजन'। यह शब्द 'रेलिगेट' से बना। अर्थ है– बांधना। मनुष्य को स्रष्टा से, मनुष्य से, परिवेश से, जड़ और चेतन से अर्थात् ऐसा बांधना जैसे एक अन्योन्याश्रिता हो। यही मूल धर्म है। इसमे कथाएं ऐसी कि जिसमे सूर्य–चन्द्रमा सहित प्रकृति का अंग–अंग मुखर और जीवंत है। प्रकृति की विशालता के समक्ष मनुष्य नतमस्तक और कृतज्ञ है। इस धर्म ने समूह शक्ति और नैतिकता के मानदण्ड समझें, सामाजिक मूल्यों को खास महत्व दिया। अनुष्ठानो और उत्सवों मे सामूहिकता और एकता सुनिश्चित की। कर्तव्यबोध बनाया। पवित्र–अपवित्र, सामाजिक और समाजविरोधी मानक निर्धारित किए। यह आदि धर्म व्यक्तिगत

अनुभव विश्वास, आदर और प्रेम पर स्थापित हुआ।

सिएंथल कहता है **"तुम्हारे शहरों मे कोई गली शान्त नहीं/ कोई ऐसी जगह नहीं सुनाई दे वसंत मे कोपलों का खिलना / या किसी कीट के पंखो की सरसराहट/ लेकिन मैं तो असभ्य हूँ/ और इसलिए शायद नहीं समझता तुम्हारी बातें/यहाँ का शोर कानों को चोट पहुँचाता है/ऐसे जीवन का क्या अर्थ जहाँ इंसान नहीं सुन सकता एक जानवर के अकेलेपन का रुदन/ या रात को किसी पोखर में मेढ़कों का वाद—विवाद।''**

सिएंथल अपना धर्म घोषित करते हुए कहता है, **"मै एक आदिवासी हूँ इसलिए तुम्हारी बातें नहीं समझता। ''हमें तो सुहाती है हवा की वह मीठी धुन/जो तालाब की सतह को छूते हुए निकल जाती है/और/बारिश में मिट्टी की भीनी—भीनी खुशबू/या फिर/पेड़ों की महक से भरी हुई बयार।''** आप भी मानेंगे, सिएंथल के धर्म को विश्वधर्म घोषित करने का वक्त आ गया है।

'जंगल के दावेदार : प्रतिरोध और संघर्ष की अन्तहीन महागाथा'

*प्रभाकर सिंह

''बिहार के अनेक जिलों के घनें जंगलों में रहने वाली आदिम जातियों की अनुभूतियां पुराकथाओं और सनातन विश्वासों में सिझी सजीव, सचेत आस्था का चित्रण! जंगलों की माँ की तरह पूजा करने वाले, अमावस की रात के अंधेरे से भी काले—और प्रकृति जैसे निष्पाप—मुंडा, हो, संथाल, कोल और अन्य बर्बर (?) असभ्य (?) जातियों द्वारा शोषण के विरूद्ध और जंगल की मिल्कियत के छीन लिये गये अधिकारों को वापस लेने के उद्देश्य से की गयी सशस्त्र क्रान्ति की महागाथा! २५ वर्ष का अनपढ़—अनगढ़ बीरसा उन्नीसवीं शती के अन्त में हुए इस विद्रोह में संघर्षरत लोगों के लिए 'भगवान' बन गया था— लेकिन भगवान का यह सम्बोधन उसने स्वीकार किया था उनके जीवन में व्यवहार में चिन्तन में और आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में आमूल क्रान्ति लाने के लिए। कोड़ों की मार से उघड़े काले जिस्म पर लाल लहू ज्यादा लाल ज्यादा गाढ़ा दीखता है न! इस विद्रोह की रोमांचकारी, मार्मिक, प्रेरक सत्यकथा है— जंगल के दावेदार।''

(जंगल के दावेदार—महाश्वेता देवी, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली संस्करण—२०१०, फ्लैप से उद्धृत)

भारतीय समाज में आदिवासी जीवन सदा से शोषण का शिकार रहा है। जल, जंगल, जमीन के लिए उनका साहसिक संघर्ष अनवतर जारी है। आजादी के बाद औपनिवेशिक सत्ता से तो मुक्ति मिल गयी लेकिन शोषण का खेल फिर भी जारी रहा। सिर्फ सत्ता का रूप बदल गया। पहले अंग्रेजों ने किया अब सत्ता और राजनीति पर काबिज अपने देश के ही लोग शोषण कर रहे हैं। आदिवासी जो अपने जीवन के मूलभूत अधिकारों से वंचित हैं आज भी अपनी अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। अभी भी उन्हें मुक्ति की तलाश है। आदिवासियों के मुक्ति—संघर्ष से जुड़ा आख्यान है 'जंगल के दावेदार' जिसमें तेजस्वी नायक 'बीरसामुंडा' की कहानी है। १८९५ से १९०० के बीच अंग्रेजों के विरोध में किये गये उसके संघर्ष को कथारूप में जब महाश्वेता देवी उपन्यास 'जंगज के दावेदार' में दर्ज करती हैं तो यह शोषण और सत्ता के प्रतिरोध का ऐतिहासिक और कालजयी दस्तावेज बन जाता है। उपन्यास को लेखिका १९७५ में लिखना आरम्भ करती हैं, प्रकाशन १९७७ ई० में होता है। लेखन वर्ष का परिवेश उपन्यास को और भी

*वरीय सहायक प्राध्यापक : हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो० 9450623078

मौजू बना देता है। उपन्यास का मुख्य पात्र 'बीरसा' अंग्रेजों और उनके सहयोगी जमींदारों के विरूद्ध मुंडा जाति की अस्मिता और अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए २६वर्ष की अल्पायु में अपना बलिदान कर देता है। यों कि १८९५ और १९७५ में कई समानतायें ढूँढ़ी जा सकती हैं। दमन, शोषण, मूल अधिकारों का हनन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबंदी दोनों समयों को एक कर देता है। रचना की यह एकसूत्रता उसे प्रासंगिक बनाती है। शोषण के विरूद्ध संघर्ष और चिरन्तन सत्य को उद्घाटित करता यह उपन्यास यथार्थ और कल्पना के रंग में घुल—मिलकर साहसिक संघर्षों और प्रतिरोध की चेतना की अन्तहीन महागाथा बन जाता है।

उपन्यास की लेखिका महाश्वेता देवी की कथा—यात्रा में आने वाले पड़ावों की पहचान करने पर पता चलता है कि 'जंगल के दावेदार' के पहले की पृष्ठभूमि में 'हजार चौरासी की माँ' और उसके बाद का रचनाकर्म हैं। 'हजार चौरासी की माँ' से उनकी रचना का नया रूप देखा जा सकता है। नक्सलबाड़ी आंदोलन की असफलता की पृष्ठभूमि में यह उपन्यास रचा गया है। आंदोलन में अपने बच्चों के खो जाने की यन्त्रणा का व्रती की माँ 'सुजाता' के तईं लेखिका ने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। बेटी की मृत्यु के बाद सुजाता आंदोलन के मर्म को जानने के लिए अपने परिवेश और सुविधा से अलग होती है। महाश्वेता खुद जैसे अपनी रचना यात्रा में यह खोज करती हैं और उनकी रचना यात्रा 'ऑपरेशन बसाई टुडू' तक आ पहुँचती हैं। 'बसाई टुडू' नक्सलपंथी नहीं हैं किन्तु उनसे जुड़ते हुए भी वह भूल नहीं करता जो नक्सल आंदोलन से जुड़े आंदोलनकर्ता करते आए थे। 'एम डब्लू और लखिन्द' उपन्यास में भूमिहीन कृषक, खेतिहर—मजदूर की समस्या का वर्णन है। इसी का अगला पड़ाव आदिवासी जीवन की समस्या से जुड़ा उपन्यास है 'जंगल के दावेदार'। महाश्वेता का यह उपन्यास १९७५ में 'बेतार जगत' नामक पत्रिका में 'आरण्येर अधिकार' (जंगल के दावेदार) के नाम से धारावाहिक प्रकाशित हुआ। पुस्तक के रूप में प्रकाशन १९७७ में हुआ। १९७५ का समय हमारे भारतीय राजनीति और समाज के लिए ऐतिहासिक है। २५ जून १९७५ रात्रि को आपातकाल की घोषणा, जिसके फलस्वरूप 'मिसा' कानून के १६ (क) धारा के अन्तर्गत हजारों लोगों को गिरफ्तार किया गया, पश्चिम बंगाल के लोग उसमें अधिक प्रभावित हुए। लेखिका का सरोकार पं० बंगाल से ही है। 'आपात काल' के समय में लिखे जा रहे उपन्यास में उस समय की कथा है जब अंग्रेजी उत्पीड़न के विरोध में 'बीरसा मुंडा' के नेतृत्व में चलने वाले जन आंदोलन, विद्रोह और दमन का दौर था। यूं तो उपन्यास ७६ वर्ष पहले (१८९९—१९००) की कहानी कह रहा था लेकिन समकालीन परिस्थितियों में होने वाली घटनाओं के आइने में पढ़ने पर उपन्यास और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है। राजनीतिक और समाज की सामयिक विसंगति के बीच इतिहास की रचनात्मक परिक्रमा, उसी में प्रतिरोध की चेतना की तलाश करना उनके इस उपन्यास का उद्देश्य है। उपन्यास का नायम 'बीरसा' का संघर्ष साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरूद्ध मुंडा जनजाति की मुक्ति और अपने अधिकारों की लड़ाई थी जिसमें वह अपना बलिदान कर देता है। मुक्ति और अधिकार का यह संघर्ष अभी जारी है। इन्हीं मायनों में यह उपन्यास और भी अधिक विशिष्ट है। आज जब आदिवासी जीवन से जुड़े लोग अपने जल, जंगल, जमीन के लिए संघर्ष कर रहे हैं तो उपन्यास का नायक 'बीरसा' उनको अपने संघर्ष के लिए बार—बार प्रेरणा देता है।

'जंगल के दावेदार' एक जीवनी परक उपन्यास है। 'बीरसा मुंडा' के जीवन संघर्ष और बलिदान पर आधारित यथार्थ घटनाओं को दर्ज करता यह उपन्यास प्रतिरोध का ऐतिहासिक आख्यान है। इसकी कहानी आज भी संघर्ष करने वालों को शक्ति देती है। उपन्यास के नायक को अपने शक्ति और साहस पर यकीन है तभी तो वह अपने को 'आबा' कहता है। आदिवासी उसे आज भी भगवान की तरह मानते हैं जो उनके 'उलगुलान' का प्रेरणा पुरुष है। उपन्यास में जब शिवन मेहता यह कहता है कि, 'उलगुलान' का अंत नहीं है, भगवान का मरण नहीं होता।'' बिल्कुल सच लगता है। उलगुलान अभी चल रहा है। संघर्ष का रास्ता दिखाने वाला, आदिवासी अस्मिता के लिए उत्सर्ग करने वाला भगवान का दर्जा पा चुका 'बीरसा' कभी मरता नहीं। जहाँ संघर्ष और प्रतिरोध है वहीं 'बीरसा' है। आदिवासियों के इस संघर्ष को आदिवासी युवतम् कवि 'अनुज लुगुन' 'अघोषित उलगुलान' कहता है तो यह 'बीरसा मुंडा' के संघर्ष से सीधे जुड़ना है।

''लड़ रहे हैं आदिवासी
अघोषित उलगुलान
कट रहे हैं वृक्ष
माफियाओं की कुल्हाड़ी से और
बढ़ रहे हैं
कंकरीटों के जंगल।'' (प्रगतिशील वसुधा—८५, पृ० १८४)

'जंगल के दावेदार' का आरम्भ नायक 'बीरसा' की मृत्यु के चित्रण के साथ होता है। उपन्यास में १८९५ से १९०० तक 'बीरसा मुंडा' के बहाने मुंडा जाति के संघर्ष की महागाथा है। राँची जेल में साजिशन विष देकर 'बीरसा' के जीवन को समाप्त किया जाता है। उपन्यास में इसी गुत्थी को सुलझाते हुए लेखिका नायक की मृत्यु से उपन्यास का आरम्भ करती है और उसे कारणों की पड़ताल भी करती हैं। 'बीरसा' के चिता की आग का वर्णन करते हुए लेखिका उदात्त दृश्य उपस्थित करती हैं, बीरसा को घेरकर आग लपककर आकाश की ओर उछल पड़ी आग की ओर देखकर धरमू मेहता बोला ''उलगुलान में बहुत आग जलाई थी— आग उसे पहचानती है। देख कैसी तो जल रही है।'' (जंगल के दावेदार पृ० २२) मानों यह आग क्रान्ति की ज्वाला बनकर सम्पूर्ण आकाश में फैलकर चारों तरफ क्रान्तिकारियों के लिए रोशनी का काम करती है। उपन्यास में 'बीरसा' की मृत्यु के बाद कथा पीछे फ्लैश बैक में चलती है। ३ फरवरी १९०० को जब 'बीरसा' को पुलिस ने पकड़ा और उसको जेल में रखा गया इसके बाद बीरसा का संघर्ष जारी रहा और अन्तत: ३० मई से ९ जून १९०० का जेल कारावास बीरसा के जीवन की अन्तिम यात्रा साबित हुई। ९ जून को उनकी मृत्यु हुई। इस समय तक 'बीरसा' मरा नहीं, वह उनके साथ है, संघर्ष करने की शक्ति देता है, नेतृत्व करता है। वह अब भी उनके अस्तित्व की पहचान करने के लिए उनको प्रेरणा देता है और उतना ही उनसे प्यार भी करता है। हालांकि बीरसा की इस ईश्वरीय नायकत्व की छवि को धूमिल करने का भरसक प्रयास जेल अधीक्षक एण्डरसन करता है। वह जेल में 'मुंडा' कैदियों को बीरसा की लाश के नजदीक से होकर गुजरने का आदेश भी देता है लेकिन बीरसा की लाश देखकर मुंडा और भी विह्वल और भावुक होकर करुण गीत गाने लगता हैं। 'बीरसा' उनके लिए 'जीवन प्राण' बन चुका था। अस्तित्व और मुक्ति की इस लड़ाई में बीरसा का

आत्मोत्सर्ग मुंडाओं को संगठित होने, प्रतिरोध करने एवं क्रान्ति करने का जबरदस्त साहस देता है।

उपन्यास में 'सवताल' और 'मुंडा' दो आदिवासी जातियों का वर्णन है, जिनके जीवन का आधार जंगल है। जंगल जिसे 'दामिन–ई–कोह' कहा गया एवं १८९५–१९०० के बीच मुंडा जातियों के विद्रोह को 'हुल'। दोनों ही शोषण, अत्याचार, और जल, जंगल, जमीन को बचाने की जद्दोजहद करते हैं। १८५५ और १८९५ के बीच की लड़ाई, जो मुल्क की लड़ाई है। इस क्रान्ति के समय बीरसा का शैशव काल था लेकिन धानी मुंडा बीरसा में भविष्य के क्रान्तिकारी नेता के लक्षण देख लेता है और कहता है, ''अब दु:ख किस बात का? बीस वर्ष का हो जाने दो, भगवान को पाओगे। यह भगवान मानुष को भूलता नहीं, गोद में झूमता नहीं। इसके हाथों में बलोया (अस्त्र) रहेंगे, तीर, धनुष रहेंगे।'' (वही, पृ० ३६) बीरसा मुंडा के शैशव में ही उसके भविष्य के नेता और भगवान का दर्जा देने में आदिवासी जीवन का वह 'उलगुलान' भी छिपा है जिसे लेखिका बड़े सलीके से इसके साथ जोड़ती है। कथा का परिवेश, वातावरण और द्वन्द्व कथानायक के चरित्र की बुनावट करता है जो उसके भगवान का दर्जा पा जाने को सहज बना देता है। अभाव को झेलते हुए, अपनी अस्मिता की लड़ाई करते हुए 'बीरसा' सिर्फ अपने मुंडा समाज के लिए ही नहीं लड़ता उसका प्रतिरोध और संघर्ष अपने समाज की मुक्ति के साथ राष्ट्र की मुक्ति का भी आख्यान बन जाता है। नायक की छवि 'मुंडा' जाति को अतिक्रमित कर राष्ट्रीय रूप धारण कर लेती है। एक आदिवासी नायक अपनी जीवंतता और प्रतिरोधी चेतना से राष्ट्र के संदर्भ में महानायक में रूपान्तरित हो जाता है। 'बीरसा' के चरित्र की इस निर्मिति में लेखिका कई बार इतिहास के सत्य का अतिक्रमण करती हैं। कहीं–कहीं तो लगता है कि लेखिका द्वारा 'बीरसा' के व्यक्तित्व को अलौकिक बनाने के चक्कर में विशेषण और कल्पना का तत्व अधिक हो जाता है। बीरसा के बंशी बजाने का यही चित्रण देख लिया जाय। जहाँ अखाड़े में बीरसा गया है। वहाँ मुण्डा माताएं करमी से कहती हैं, ''ओ री करमी, वह अढ़तिया, दिकू नन्द जो ठाकुर पूजता है उसी किरन की तरह तेरा बेटा बंसी बजाता है।... लड़का जब बंशी बजाता है सब मुंडा लोगों के घरों में उसकी वंशी को सुनकर भागते खरगोश, भयानक सुअर, वन के हिरण सब शांत होकर दो दंड रूक जाते हैं। ऐसा कभी कहीं देखा हैं।'' (वही, पृ० ४४) दरअसल यह अतिशय वर्णन होने पर भी, कथा में परिवेश और कथ्य के साथ सहजता से विकसित होता है। चरित्र के इसी विकासक्रम में लेखिका बीरसा के दार्शनिक और भावुक व्यक्तित्व को सहजता से विकसित करती हैं। उसकी दार्शनिकता और भावुकता व्यक्तिगत नहीं मुंडा जाति के उत्थान और उनके जीवन की समस्याओं से बारहा जुड़ी हुई है। बीरसा के यही सरोकार उसके व्यक्तित्व को वास्तविक और उदात्त बनाते हैं। बीरसा मुंडा जाति की परम्परा, जीवनबोध और उनके रीति–रिवाजों के प्रति उनमें गर्व उत्पन्न करता है। अपने अस्मिता और अस्तित्वबोध के लिए उनमें चेतना का संचार करता है। 'मुंडा' का मतलब जंगली या असभ्य नहीं वीर, संघर्षशील और बलिदानी जाति है। जातीय गौरव और समृद्ध परम्परा के आइने से ही बीरसा मुंडाओं में आत्मविश्वास और गौरवबोध भर देता है जिसका उसे गर्व भी है। लेखिका उपन्यास में इसका उल्लेख भी करती है कि बीरसा किस तरह अपने साथी जंगलवासियों के मन में एक आत्मविश्वास पैदा करता है और उसे मुंडा होने पर गर्व है।

उपन्यास में लेखिका ने कई ऐसे दृश्यों की कल्पना की है जिससे बीरसा के जीवन को प्रेरणा मिलती है और वह आदिवासी जीवन के केन्द्र जंगल को और जंगल के लोगों को बचाने वाला नायक बन जाता है। जंगल में वन देवी के साथ बीरसा की मुलाकात और संवाद इसी का प्रतिफलन है। यहाँ अस्तित्वबोध और परिवर्तन का नया आयाम आता है। वनदेवी बीरसा को मूर्त नहीं, अमूर्त होकर उसके व्यक्तित्व में प्रवाहित हो उससे संवाद करती है, बीरसा के तईं वन देवी आदिवासी जीवन की समस्याओं, उनके पथच्युत होने, अपने अपवित्र होने का जिक्र करती है, ''ओ देख दिकू लोगों ने साहबों से मिलकर मुझे बार–बार अपवित्र किया है... मेरे बेटों को बेघर कर दिया है।'' (वही, पृ० ८७)।

यहाँ इतिहास, आख्यान और कल्पना का संश्लिष्ट रूप मौजूद है। वनदेवी के साक्षात्कार के बाद बीरसा अपने को प्रतिबद्ध और प्रतिष्ठित करता है। मुंडा जाति के उत्थान और जंगल की रक्षा के लिए संकल्प लेता है। उसे पता है कि अपने चाहने वालों के सुख और उनकी मुक्ति के लिए ही तो ईसा और कृष्ण ने जन्म लिया और अपना आत्मोत्सर्ग किया। वह भी अपनों की रक्षा करेगा उन्हें सुख देगा, क्योंकि वह मुंडाओं का 'आबा' है। उपन्यास में 'बीरसा' अपने इस संकल्प को कुछ ऐसे व्यक्त करता है– ''सबको सुख दूँगा। हाँ मैं भगवान बनूँगा, 'बीरसा' भगवान। तब धरती का 'आबा' बन जाऊँगा। हाँ मुझमें इन चुटिया और नागू वंश का रक्त है। मेरे लिए मुंडा जीवन रहेंगे। मेरे कलेजे पर चोट करके, हाँ मैं अपने खून से जानता हूँ सब मेरा है। मैं धरती का 'आबा' हूँ।'' (वही, पृ० ८९)

'बीरसा' मुंडाओं का नया इतिहास लिखता है। उसे अपने शक्ति और नेतृत्व पर विश्वास है तभी तो वह अपने को 'आबा' घोषित करता है। अपने अन्दर जब वह भगवान की शक्ति का आरोपण करता है तो दरअसल वह अपने को स्वाधीन और मुक्त करने के लिए और दूसरे की मुक्ति के लिए किया गया संकल्प है। देखा जा सकता है कि उपन्यास में इस घोषणा के बाद उसका व्यक्तित्व 'मुंडा' जाति के उत्थान और राष्ट्रीयता के विकास का प्रतिनिधि चरित्र बन जाता है। महाश्वेता जी लोक और इतिहास में प्रचलित बीरसा का जो चरित्र दर्ज है, उसके आगे अपने सामयिक परिदृश्य और अपनी सृजनात्मकता से उसके चरित्र का निर्माण करती हैं। इसमें लेखिका 'बीरसा' को एक ऐसे नायक के रूप में सृजित करती हैं जो मुंडा लोगों के लिए अपना बलिदान ही नहीं करता उनको सही दिशा दिखाने, क्रान्तिधर्मी बनाने और अपने देश और समाज के लिए मर मिटने वाला जीवंत चरित्र बना देता है। मुंडा 'उलगुलान' की घोषणा करता है तो उसमें सिर्फ जोश नहीं है। एक समझदार और राजनीतिक मस्तिष्क भी है जो किसी आन्दोलन एवं क्रान्ति को सफल बनाती है। मुंडा 'उलगुलान' के लक्ष्यों की घोषणा करते हुए तभी तो 'बीरसा' कहता है, ''हमारा युग आ गया है, तुम लोगों को मैं देश लौटा दूंगा। हमारे राज में खेत के बीच में मेड़े नहीं होंगी। पूरी धरती सबकी है। पूरी खेती एक साथ होगी। सारी खेती सबकी होगी। अगर उठाकर हाथ में फसल दे भी दो भी मेरे राज में कोई मुंडा अकेले मालिक न होगा। मेरे राज में लड़ाई न रहेगी। धर्म का राज होगा। हमारे पुरखों ने जिस तरह धर्म के अनुसार राज किया अपने राज में हम वैसे ही राज करेंगें। लाठियों और हथियारों से राज नहीं चलायेंगे।...मुंडा लोगों को दुश्मनों का सामना करना होगा, नहीं तो सैकड़ों बरसों में भी देश को वापस नहीं पा सकेंगे।

भयंकर लड़ाई होगी, तभी दुश्मनों का राज खतम होगा। नहीं तो नहीं। आज तमाम लोग हँसते है, हजारों मुंडा लोगों के दिन रोने में बीत जाते हैं। अपना राज हो जाने पर ही मुंडा हँस सकेंगे।'' (वही, पृ० १५९–१६०)।

'बीरसा' का जीवन मुंडाओं के मुक्ति का पर्याय बन गया। जेल में बंद होने के बाद जीवन का एक लक्ष्य बन गया था मुंडाओं की मुक्ति। वह बार–बार अपने को 'आबा' या भगवान घोषित कर यही जताना चाहता था कि 'आबा' वही है जो अपने चाहने वालों की मुक्ति के लिए ही जन्म लेता है। वह उनकी मुक्ति के लिए बार–बार जन्म लेने की घोषणा करता है। उन्हें क्रान्ति करने के लिए प्रेरित ही नहीं करता वही अपनी धरती और अपने लोगों की मुक्ति के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार है। मुंडाओं की स्वतन्त्रता और मुक्ति की घोषणा करते हुए 'बीरसा' का कहना है कि, ''बड़ा शुभ दिन है। मेरा युग शुरू हो रहा है। आज जमींदार लोग मुण्डा लोगों को देखकर हँसते है। लेकिन उनका समय खतम हो रहा है। हमारा समय आ गया है।'' (वही पृ० १५९)

इस आख्यान को समझने के लिए उपन्यास के अन्त का जिक्र करना मानीखेज होगा। लेखिका 'अमूल्य' के नोटबुक के दर्ज घटना का वर्णन करती है, जिसमें वर्ष १९०१ के अन्तिम दिन की कहानी है। 'नोटबुक' में 'अमूल्य' जो कुछ लिखता है वह 'बीरसा' की लोकप्रियता का ही प्रमाण है। अनाथ बंगाली बालक 'अमूल्य' अनाथालय में रहते हुए बीरसा से इतना प्रभावित होता है कि वह 'बीरसा' के उद्देश्य के साथ एकमेव हो जाता है। 'नोटबुक' में 'बीरसा' के प्रति अपने अनन्य लगाव को वह कुछ यूँ व्यक्त करता है, ''सुनते–सुनते में शुद्ध पवित्र हो जाता–बीरसा! बीरसा! अपने अनाथाश्रम के जीवन में किसी को प्यार नहीं किया था। तुम मेरे पहले और अन्तिम प्यार के अधिकारी मनुष्य थे। तुम मेरे मित्र, भाई, साथी थे!....तुम्हारी मृत्यु को लेकर प्रश्न उठेंगे, विरोध–प्रतिवाद होंगे, उसी का पूर्वाभास पाकर मैंने पत्थरों की दीवारों से बहुत बार सिर टकराया है।'' (वही, पृ० २५८–५९)।

कहना न होगा कि 'बीरसा' मुंडाओं में और अन्य चाहने वालों में देश प्रेमी और बलिदानी योद्धा के रूप में कालजयी चरित्र बन गया। 'जंगल के इस दावेदार' के पास कोई आधुनिक हथियार या अस्त्र नहीं थे। फिर भी अपने अदम्य साहस और संघर्ष चेतना से औपनिवेशिक एवं सामंती व्यवस्था के शोषण का सक्रिय विरोध करता है। क्रान्ति के इस नायक को नष्ट करने के लिए अंग्रेजों द्वारा किए गये हल ने उसके चरित्र को और भी अधिक ऐतिहासिक और महान बना दिया। आदिवासी चेतना से जुड़े क्रान्तिधर्मी युवतम् कवि अनुज–लुगुन की कविता में 'बीरसा–मुंडा' आदिवासियों के स्वाधीनता संघर्ष और क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में याद आते हैं यह प्रेरणा पुरुष इस कवि की कविता में कैसे आता है देखना सार्थक होगा, साथ ही यह 'बीरसा' की प्रासंगिकता ही है।

''ऐसा ही हुनर था
जब डुम्बारी बुरू से
सैकड़ों तीरों ने आग उगले थे
और हाड़–माँस का छरहरा बदन 'बीरसा'

अपने अद्भूत हुनर से
भगवान कहलाया।
ऐसा ही हुनर था
जब मुण्डाओं ने
बुरू इटगी के पहाड़ पर
अपने स्वशासन का झंडा
लहराया था।'' (प्रतिशील वसुधा–८५, पृ० १८२)।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त समय के इतिहास में 'बीरसा' के संघर्ष की यह महान गाथा, उस समय के स्वाधीनता संघर्ष की दास्तान तो है ही, अपने रचना समय १९७५ के इमरजेन्सी में सरकर के शोषण और दमनचक्र का प्रतीकात्मक विरोध भी व्यक्त करती है। आज भी यह कृति शोषण के किसी भी रूप का विशेष रूप से आदिवासी जीवन के संघर्ष और प्रतिरोध के लिए प्रेरणा स्रोत है। महाश्वेता ने अपनी सृजनात्मकता से इस ऐतिहासिक आख्यान को जिस अनोखे रंग में सृजित किया है वह प्रतिरोध और संघर्ष की कालजयी कृति बन गयी है जिसे बार–बार पढ़ने का मन करता है।

भाषा–साहित्य

नगाड़े की तरह बजते शब्द

*राहुल सिंह

आमतौर पर किसी रचना या रचनाकार पर बात करते हुए बुनियादी रुप से दो पक्षों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है; एक भाव और दूसरा शिल्प। इस भाव और शिल्प के योग से रचना का परिवेश निर्मित होता है। रचना का परिवेश कोई स्वायत्त और वायवी निर्मिति नहीं है बल्कि रचनाकार के परिवेश से उनका अभिन्न संबंध होता है। चाहे वह हिन्दी साहित्य का इतिहास हो, हिन्दी समाज का या फिर भारत का, एक लम्बे समय तक वंचितों के परिवेशगत अनुभवों से मुख्य धारा का साहित्य अनभिज्ञ रहा है। इन वंचितों के साहित्य में व्यक्त परिवेश दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है एक तो अब तक 'अननोटिस्ड' रहने के कारण और दूसरे उसी परिवेश से रचना और रचनाकार के संवेदना पक्ष का निर्माण होने के कारण। रही बात शिल्प की तो शिल्प का सम्बन्ध अभ्यास से भी है। बिना अभ्यास के शिल्प की अनगढ़ता या एक किस्म की आदिमता उसमें देखी जा सकती है।

इसे चलन कह लें या सहूलियत कि यदि कोई रचनाकार आदिवासी, दलित, स्त्री और अल्पसंख्यक समुदाय से हुआ तो उसकी रचना को अस्मिताओं के आइने में देखने का एक रिवाज–सा चल पड़ा है। अब सवाल यह है कि निर्मला पुतुल की कविता आदिवासी अस्मिता से जुड़े सवालों से इतर भी कुछ कहती है या आदिवासी अस्मिता के प्रचलित खांचों में ही सिमटकर रह जाती है? निर्मला पुतुल की कविताओं से गुजरने पर उनकी कविताओं के बारे में जो बात फौरी तौर पर कही जा सकती है वह यह कि निर्मला पुतुल की कविताओं के तीन प्रमुख आधार हैं। स्त्री होने के कारण लैंगिक आधार, आदिवासी होने के कारण जातीय आधार और संथाल परगना का होने के कारण उनकी कविताओं का एक देशगत आधार भी है। इन लैंगिक, जातीय और देशगत आधारों से न सिर्फ निर्मला पुतुल की बल्कि उनकी कविताओं की संवेदना भी निर्मित हुई है। तो सबसे पहले लैंगिक आधार।

एक स्त्री की दृष्टि से लिखी गई कविताएँ अन्तर्वस्तु के धरातल पर बहुत कुछ नया नहीं जोड़ पाती हैं क्योंकि वे चाहे सवर्ण हों या अवर्ण, पितृसत्ताजन्य स्त्री अनुभूतियाँ एक–सी रही हैं। जैसे अपने काव्य संग्रह की बिलकुल पहली पंक्ति में ही जब वे पूछती हैं कि – 'क्या तुम जानते हो, पुरुष से भिन्न, एक स्त्री का एकान्त?' तो अनायास ही वे वर्जिनिया वुल्फ के 'अपना कमरा' की याद दिला देती है। ऐसा नहीं है कि निर्मला पुतुल इन नारीवादी चिंतकों के विचारों का उल्था अपनी कविताओं में करती हैं, बल्कि सच तो यह है कि पूरे संसार में स्त्री को उसके बंधन का बोध ही स्त्री आंदोलन की मुक्तिकामी परम्परा से जोड़ने के लिए पर्याप्त है। इसके लिए उन्हें विश्व के नारीवादियों के विचारों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। सिर्फ औरतपने को गढ़नेवाली शक्तियों को जानकर ही कोई स्त्री विश्व के कई नारीवादी चिंतकों के समकक्ष खड़ा हो सकती है।

स्त्री संवेदना को धरातल पर निर्मला पुतुल की कविताएं 'अपनी जमीन, अपना घर, अपने होने का अर्थ तलाशती बेचैन स्त्री की दास्तान हैं। अपनी अस्मिता की तलाश में निर्मला पुतुल जिस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं, वहाँ अन्य देश–काल की स्त्रियां भी आत्मानुभूत सत्य के आधार पर पहुँचती आई हैं और वह यह कि– 'हम सहज अभ्यस्त हैं, एक मानक पुरुष दृष्टि से देखने, स्वयं की दुनिया।' यह दुखदायी सत्य स्त्री मानस को मथता आया है। निर्मला पुतुल इसे दो टूक अंदाज में पूछती हैं कि, 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए, एक तकिया, कि कहीं से थका–माँदा आया और सिर टिका दिया। कोई खूँटी कि ऊब उदासी थकान से भरी कमीज उतारकर टाँग दी या आँगन में तनी अरगनी कि घर–भर के कपड़े लाद दिये। खामोश खड़ी दीवार कि जब जहाँ चाहा कील ठोक दी। या कोई चादर कि जब जहाँ जैसे–तैसे ओढ़ बिछा ली ?' अपनी लाख कोशिशों के बावजूद 'रसोई और बिस्तर के गणित से परे एक स्त्री के बारे में' कोई खास मालूमात वह हासिल नहीं कर पाती हैं। और यह प्राप्त जानकारी भी कोई ऐसी नहीं है कि जिससे अब तक का हिन्दी साहित्य अपरिचित रहा हो। निर्मला पुतुल की कविताएँ वहाँ विषिष्टता को प्राप्त करती हैं जहाँ वे अपनी लैंगिक असमानता वाले अनुभवों के साथ जातिगत भेदभाव और देशगत सीमाओं को मिलाती हैं। जैसे 'बाहामुनी' में–

तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर भरते हैं पेट हजारों
पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते पेट तुम्हारा
क्या तुम्हें पता है कि जब कर रही होती हो तुम दातुन
तब तक कर चुके होते हैं सैंकड़ों भोजन–पानी
तुम्हारे ही दातुन से मुँह–हाथ धोकर?
जिन घरों के लिए बनाती हो झाड़ू
उन्हीं से आते हैं कचरे तुम्हारी बस्तियों में!
तुम्हारी चीजें पहुँच जाती हैं दिल्ली
जबकि तुम्हारी दुनिया से बहुत दूर है अभी दुमका भी।

बाहामुनी के अलावा कई कविताओं में, जैसे 'आदिवासी स्त्रियाँ', 'बिटिया मुर्मू के लिए', 'आदिवासी लड़कियों के बारे में', 'चुड़का सोरेन से', 'कुछ मत कहो सजोनी किंस्कू', 'पहाड़ी स्त्री', 'पहाड़ी बच्चा', 'पहाड़ी पुरुष' आदि कविताओं में एक स्त्री अनुभूति से इतर जब जातीय और देश–काल से जुड़ी कई अनुभूतियों का मेल होता है, तब निपट स्त्री संवेदना से जुड़ी कविताओं की तुलना में ज्यादा प्रभावशाली और उल्लेखनीय जान पड़ती हैं। इसी संदर्भ में दो कविता; 'माँ के लिए ससुराल जाने से पहले' और 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' का स्मरण विशेष रुप से आवश्यक है। ऊपरी तौर पर देखने से यह दोनों कवितायें स्त्री संवेदना की जान पड़ती हैं लेकिन गहराई में उतरने पर निर्मला पुतुल का आदिवासी समाज, उसकी संस्कृति और

*सहायक प्राध्यापक : हिन्दी विभाग, ए. एस. कॉलेज, देवघर, झारखण्ड, संपर्क : 09308990184

उसका दर्शन इन कविताओं में दिखता है।

'बाबा!

मुझे उतनी दूर मत ब्याहना, जहाँ मुझसे मिलने जाने खातिर घर की बकरियाँ बेचनी पड़ी
तुम्हें, मत ब्याहना उस देश में, जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर बसते हों
जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हो जहाँ, वहाँ मत कर आना मेरा लगन
वहाँ तो कतई नहीं जहाँ की सड़कों पर मन से भी ज्यादा तेज दौड़ती हो मोटरगाड़ियाँ..
और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ, जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाये
फसलें नहीं उगायीं जिन हाथों ने, जिन हाथों ने दिया नहीं कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नहीं उठाया,
और तो और!
जो हाथ लिखना नहीं जानता हो 'ह' से हाथ/उसके हाथ में मत देना कभी मेरा हाथ!'

अपनी सम्वेदनशीलता का विस्तार करते हुए प्रकृति को भी एक स्त्री के तौर पर देखते हुए निर्मला पुतुल उसके दुःखों की कहानी भी कहती है। 'बूढ़ी पृथ्वी का दुख' एक ऐसी ही असाधारण कविता है जिसमें वे बेहद सहजता से हमसे पूछती हैं कि **'क्या तुमने कभी सुना है, सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से, पेड़ों की चीत्कार?, सुना है कभी, रात के सन्नाटे में अँधेरे से मुँह ढाँप किस कदर रोती हैं नदियाँ? थोड़ा—सा वक्त चुराकर बतियाया है कभी, कभी शिकायत न करनेवाली, गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुख?'** तो यह कोरी संवेदनशीलता न होकर आदिवासी समाज के उस जातीय संस्कारों की ओर भी संकेत करता है जिसमें सभ्यता के निचले पायदान पर रहता आया यह समुदाय प्रकृति को अपना सहचर मानता आया है। प्रकृति इस समुदाय के अस्तित्व से जुड़ी है। इसलिए प्रकृति का दुख उनका अपना दुख है।

दरअसल, निर्मला पुतुल की कविता का मानचित्र उसके देश—काल के भूगोल—इतिहास— राजनीति—अर्थनीति से मिल कर बना है। इसलिए स्त्री संवेदना के इतर भी उनकी कविताओं का एक व्यापक फलक है जो उनको आज के संदर्भ में विचारणीय बनाता है। आजादी के चौंसठ सालों के बाद भी भारतीय गणतंत्र और उसके विकास के नारों को निर्मला पुतुल बिना लाग—लपेट के कटघरे में खड़ा करते हुए लिखती हैं कि —

दिल्ली की गणतंत्र की झांकियों में
अपनी टोली के साथ नुमाइश बन कर कई—कई बार
पेश किये गये तुम
पर गणतन्त्र नाम की कोई चिड़िया
कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुंडेर पर ?

इस दौर के प्रत्येक विधा की उल्लेखनीय रचना की एक सामान्य प्रवृत्ति है, लोकतंत्र की आलोचना। निर्मला पुतुल की कविताएँ भी इससे अछूती नहीं है। लोकतंत्र के विकास के सरकारी दावों को आत्मानुभूत सत्य को सामने रखकर वे प्रश्नांकित करती हैं।

बड़ी मुश्किल से लाल कार्ड बनवाया था, पर कोई फायदा नहीं दिखता उसका कभी—कभार गर कुछ आता भी है, तो उधर प्रधान ही छाँक लेता है/ऊपर—ऊपर/इन्दिरा आवास

के बहुत दौड़—भाग की/पंचायत सेवक को मुर्गा भी दिया, प्रधान को भी दिया पचास टका/पर अभी तक कुछ नहीं हुआ, पूरा डेढ़ साल हो गया।

उपरोक्त पंक्तियाँ 'ढेपचा के बाबू' से है। इस कविता को पढ़ कर सहज ही तुलसी राम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' में वर्णित किसनु भौजी की लिखाई गई चिट्ठी की याद हो आती है जिसके बारे में स्वयं तुलसी राम का मानना था कि उसके अंदर दुखड़ा सुनाने की अद्‌भुत वर्णनात्मक शैली का समावेश था। जब वह चिट्ठी लिखवाती थी तो लगता था कि दुखड़ा स्वयं अपना आत्मविवेचन कर रहा है। यदि वह पढ़ती तो दुखांत साहित्य में बहुत कुछ गढ़ती। अकाल में लिखवायी गयी किसनु भौजी की चिट्ठी और 'ढेपचा के बाबू' को लिखी गई इस चिट्ठी में दु:खों की प्रकृति की जो साम्यता है, वह विस्मयकारी है।

आजादी के चौंसठ सालों के बाद भी हाशिये के समाज को जीवन की आधारभूत सुविधायें नहीं मिल सकी हैं। दो जून की रोटी भी जब ठीक से मयस्सर न हो तो रोजगार के लिए पलायन के अलावा कोई दूसरा सहज विकल्प सामने नहीं रह जाता है। पलायन के उन अवसरों पर निर्मला पुतुल स्त्रियों के साथ होने वाली ज्यादतियों को ही रेखांकित करती हैं ('पिछले साल, धनकटनी में खाली पेट बंगाल गयी पड़ोस की बुधनी, किसका पेट सजाकर लौटी है गाँव?')। पलायन के इन अवसरों पर वे अपने समुदाय और जमात के लोगों को भी आरोपी बनाती हैं **('और हाँ पहचानो!, अपने ही बीच की उस कई—कई ऊँची सैण्डिल वाली, स्टेला कुजूर को भी, जो तुम्हारी भोली—भाली बहनों की आँखों में सुनहरी जिन्दगी का ख्वाब दिखाकर, दिल्ली की आया बनानेवाली फैक्टरियों में कर रही है कच्चे माल की तरह सप्लाई')**। इतना ही नहीं दूर से आदिवासी समाज में स्त्री—पुरुष की दिखनेवाली समानता के आवरण में निहित 'जातीय टोटमों' के नाम पर आदिवासी स्त्री को मिलनेवाली प्रताड़ना, डायन के नाम पर उनके साथ किये जाने वाले अमानवीय और पाशविक आचरण को भी वे अपनी कविताओं में रेखांकित करना नहीं भूलती हैं **('जब तुमने चलाया था हल, तब डोल उठा था, बस्ती के माँझी—थान में बैठे देवता का सिंहासन, गिर गयी थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठे, मगजहीन माँझी हड़ाम की पगड़ी..., छप्पर छाने मत चढ़ना, जातीय टोटम के बहाने, पहाड़पुर के प्यारी हेम्ब्रम की तरह, तुम्हारा मरद भी करेगा तुमसे जानवराना बलात्कार..., मिहिजाम की गोआकोला की, सुबोधिनी मराण्डी की तरह तुम भी, अपने मगजहीन पति द्वारा, भरी पंचायत में डायन करार कर दण्डित की जाओगी')**। अपने समुदाय की बुराइयों के लिए वे बाहरी कारणों को पूर्णतया जिम्मेदार नहीं मानती हैं, बल्कि 'आंतरिक शत्रु' की भी पहचान करती हैं। वे शराब से बचने का आह्वान करती हैं। १५ नवंबर २००० को जिस दिन झारखंड तथाकथित 'आंतरिक औपनिवेशन' से मुक्त होकर एक स्वतन्त्र राज्य के तौर पर अस्तित्व में आया था। ऐन उसी तारीख को निर्मला पुतुल ने 'भाई मंगल बेसरा' नाम से एक कविता लिखी थी। इस कविता का मूल स्वर बिलकुल वैसा ही है जैसा कि गिरिजाकुमार माथुर की 'आज जीत की रात पहरुए सावधान रहना' कविता का। गिरिजाकुमार माथुर की उन पंक्तियों में व्यक्त आशंका को सच साबित होने में फिर भी कुछ समय लगे थे लेकिन निर्मला पुतुल की आशंकाये तो इतनी जल्दी साबित हुईं कि उनकी राजनीतिक चेतना की जितनी सराहना की जाये कम है।

निर्मला पुतुल की कविताओं में लगातार एक हिंसा का आह्वान देखने को मिलता है। यह आह्वान परिस्थितिजन्य है जो बाद में हिंसात्मक विचारधारा को अपना सहयोगी बना लेती है। इतना तय है कि निर्मला पुतुल जिस परिवेश से आती हैं, वहाँ के संरचनात्मक विकास और आधारभूत सुविधाओं को उपलब्ध कराने के सरकारी योजनाओं की वास्तविकता, वैकल्पिक विचारधारा के तौर पर इनका आश्रय ग्रहण करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प सहजता से प्रस्तावित नहीं करती हैं। विकास के नाम पर लगातार विस्थापित होती आबादी के पास अब एकजुट होने के अलावा कोई चारा नहीं है। उस एकजुटता के आह्वान के लिए निर्मला पुतुल चाहती हैं– **'मेरे शब्दों की जमीन से, उगें कई–कई बिरसा मुण्डा, अपने आसपास तनकर खड़े, ताड़–खजूर के पेड़ों को सिदो–कान्हू में बदलते देखना चाहती हूँ मैं, कुल्हाड़ी की भोथरी धार को पिजाते, देखना चाहती हूँ मैं अपने शब्दों को, और धनुष की तनी डोर पर तीर की तरह तना देखना चाहती हूँ अपना कोई वाक्य, नगाड़े की तरह बजें मेरे शब्द, और निकल पड़ें लोग अपने–अपने घरों से सड़कों पर।'** जिस युद्ध के लिए वे एकजुटता की आवाज लगा रहीं हैं उसमें असफल होने की स्थिति में उनकी दुर्दमनीय आकांक्षा का यह रुप भी ध्यान देने योग्य है कि 'और अगर किसी तरह हारी इस बार भी, तो कर लो नोट दिमाग की डायरी में, आज की तारीख के साथ, कि गिरेंगी जितनी बूंदें लहू की धरती पर, उतनी ही जनमेंगीं निर्मला पुतुल, हवा में मुट्ठी–बँधे हाथ लहराते हुए!' निर्मला पुतुल पूछती हैं कि 'किसके शिकार में रोज जाते हो जंगल?' जबकि शाम घिरते ही खतरनाक शहरी जानवर तुम्हारी बस्तियों में दाखिल हो जाते हैं। और चुड़का सोरेन तुम चिड़िया–चिरगुन के पीछे पड़े हो। निर्मला पुतुल 'मृगया' की याद दिलाती हैं। संथाल परगना का एक प्रसिद्ध जनजातीय मेला है, हिजला मेला। इसमें ग्रीस लगे एक खंभे की चोटी पर मिठाइयों से भरे पितराही घड़े और हजार पाँच सौ रुपये के नोट की खातिर सन्थाल परगना की जनजातियाँ बंदरों की तरह चढ़ती–उतरती हैं। इस हिजला मेला पर निर्मला पुतुल लिखती हैं कि – 'अब बन्द करो यह तमाशा, और कह दो तमाशाइयों से, कर दो एलान कि अब नहीं होगा यह तमाशा, अगर कुछ होगा तो खुले मैदान में तीरन्दाजी होगी, उन मदारियों की मानसिकता के खिलाफ, जो संस्कृति का जामा पहन लगाते आ रहे हैं वर्षों से, हमारे जंगलीपन का तमाशा।' निर्मला पुतुल असमर्थ बना दी गई नगाड़ों की आवाज को अपनी कविता के मार्फत् फिर से सार्थक बनाना चाहती हैं। एकजुटता, जागरुकता और बदलाव के लिए लगाई गई गुहार से इतर निर्मला पुतुल की कविताएँ नितांत व्यक्तिगत धरातल पर कुछ और भी कहती हैं। **'यह कविता नहीं, मेरे एकान्त का प्रवेश द्वार है, यहाँ आकर सुस्ताती हूँ मैं, टिकाती हूँ यहीं अपना सिर जिन्दगी की भाग–दौड़ से थक–हारकर, यहीं वह होती हूँ जिसे होने के लिए मुझे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, पूरी दुनिया से छिटककर अपनी नाभि से जुड़ती हूँ यहीं।'**

इन विशेषताओं से इतर निर्मला पुतुल की कविताओं में उनकी भाषा और माटी की महक भी मौजूद है। संथाल परगना के बारे में बड़े दर्द के साथ वे लिखती हैं कि **'सन्थाल परगना, अब नहीं रह गया सन्थाल परगना!, बहुत कम बचे रह गये हैं, अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग..., कायापलट हो रही है इसकी, तीर–धनुष–माँदल–नगाड़ा–बाँसुरी, सब बटोर लिये जा रहे हैं लोक संग्रहालय, समय की मुर्दागाड़ी में लादकर।'** ऊपर लगायी गयी एकजुटता की गुहार का एक लक्ष्य सन्थाल परगना को बचाये रखने की भी है। 'आओ, मिलकर बचायें' शीर्षक कविता में निर्मला पुतुल साफ–साफ कहती हैं कि 'अपनी बस्तियों को नंगी होने से, शहर की आबो–हवा से बचायें उसे, अपने चेहरे पर, सन्थाल परगना की माटी का रंग, भाषा में झारखण्डीपन, आओ मिलकर बचायें, कि इस दौर में भी बचाने को, बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास।' इस तरह जल, जंगल, जमीन, भाषा, राजनीतिक अधिकार और स्त्री की अस्मत की गलियारों से गुजरकर निर्मला पुतुल की कविताओं का एक चेहरा बनता है।

इन बातों के अलावा भी निर्मला पुतुल को पढ़ते हुए कुछ बातों का खयाल जरुरी है। एक तो निर्मला पुतुल की कविताओं को उनके जातीय और देशगत संदर्भों से काट कर समझा नहीं जा सकता है। यह दोनों उनकी कविताओं के लिए अनिवार्य संदर्भ की तरह हैं। दूसरा, इस लेख में उनका मूल्यांकन उनके काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' (२००४) में संकलित कविताओं के आधार पर किया गया है। इन कविताओं में रोजगार के लिए पलायन का स्वर तो है पर विस्थापन का दर्द नहीं है। संभव है कि २००४ के बाद लिखी गई कविताओं में इस दिशा में भी उनकी चिंता का विस्तार हुआ हो। तीसरा, यह संकलन निर्मला पुतुल की कविताओं का अनुवाद नहीं है बल्कि रुपांतरण है। आदिवासियों के जीवन में लय की जो उपस्थिति है, रुपांतरित कविताओं में उसकी गुमशुदगी खटकती है। संभव है कि संथाली में पहली बार मुक्त छंद में लिखी कविताएँ मूल रुप में भी लयविहीन हों। लेकिन आदिवासियों के यहाँ लोक इतना समृद्ध है कि ऐसा विश्वास करने को जी नहीं चाहता। कविताओं के अनुवाद के साथ एक बड़ी समस्या यह है कि उसके शब्दों या भावों का अनुवाद तो किया जा सकता है लेकिन उसके लय को भी किसी अन्य भाषा में अनूदित कर सकना, लगभग नये सृजन की तरह है। निर्मला पुतुल के काव्य–संग्रह के बारे में यह तथ्य रेखांकित करने योग्य इसलिए है कि 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' संताली से उनकी कविताओं का अनुवाद न होकर रुपांतरण है। अपनी मूल कविताओं और इस रुपान्तरित कविता के मसले पर निर्णायक तौर पर तो निर्मला पुतुल ही बोल सकती हैं। निर्मला पुतुल की कविताएँ उन स्थलों पर बेहद कमजोर हो जाती हैं, जहाँ वे संबोधित करने लगती हैं। वहाँ कविता नारेबाजी में बदल जाती है। अपनी कविताओं में 'वे', 'तुम' से हटकर जब वे सीधे नाम लेकर संबोधित करती हैं तो कविताएँ ज्यादा सटीक लगती हैं। उनकी कविताओं में विचार जब भावों को रिप्लेस करने लगते हैं तो कविता कमजोर होने लगती है। सपाटबयानी एक गद्याभास कराने लगता है। बहरहाल, निर्मला पुतुल की कविताओं को मूल संथाली में पढ़े बिना इन कमजोरियों पर मुकम्मल तौर पर कोई बात नहीं की जा सकती है कि यह सीमायें निर्मला पुतुल की हैं या उसके रुपांतरण की। वैसे यह भी उतना ही बड़ा सच है कि यदि मूल संथाली में लिखी यह कवितायें अशोक सिंह द्वारा हिन्दी में रुपांतरित नहीं होंती तो हिन्दी समाज इससे अनभिज्ञ ही रहता।

जनजातीय समाज का तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

(संदर्भ : ग्लोबल गाँव के देवता और अमृत संतान)

*नवनीत आचार्य

सन् २००९ में प्रकाशित 'ग्लोबल गाँव के देवता', प्रसिद्ध हिन्दी लेखक, श्री रणेन्द्र का महत्वपूर्ण उपन्यास है। रणेन्द्र जी स्वयं भी जन जातीय समाज को करीब से देख सकने के कारण उनके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक पक्षों के साथ–साथ उनकी मानसिक एवं भावनात्मक स्थितियों से वाकिफ़ हैं। शायद, यही कारण है कि इस आदिवासी समाज की वस्तुस्थिति को इतने संजीदा एवं सहज ढंग से आपने वर्णित किया है। इनके लिए अंग्रेजी में 'शीड्युल्ड ट्राइब्स' शब्द रूढ़ हो गया है। ओड़िसा और झारखंड में इनकी एक बड़ी आबादी का निवास है। इस उपन्यास में क्रमश: झारखण्ड राज्य के असुर जनजातीय समाज का विस्तृत विवेचन है।

भारत में आदिवासियों को सदैव समाज के सब–ऑल्टर्न हाशिए पर ही रखा गया। यहाँ कुल ४६१ आदिवासी समूहों की विद्यमानता के बावजूद इन्हें 'अन्य' और 'अपंग' की श्रेणी में रखा गया। उल्लेखनीय है कि दिसंबर, १९८६ में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 'विकास के अधिकार का घोषणापत्र' स्वीकारा। इसके तहत यह अधिकार मान्य हुआ। जिसके तहत किसी भी व्यक्ति या समूह को वंचित नहीं किया जा सकता। यही बात व्यक्तियों के विशिष्ट समूहों पर भी लागू होती है, जिस का सीधा तात्पर्य यह है कि किसी भी समूह की क़ीमत पर किसी भी दूसरे समूह का विकास वास्तविक अर्थात् ऐसा विकास नहीं कहा जा सकता जिसका केंद्रीय विषय मानव है।[१]

इस तरह प्रस्तुत उपन्यास में जनजातीय जीवन की संघर्ष भावना, अदम्य जिजीविषा, धार्मिक रूढ़िवाद, अंधविश्वास और अत्याचार ही केंद्र में है। लेखक का उद्देश्य जनजातीय जीवन के सूक्ष्म विवेचन के साथ–साथ उन पर निरंतर हो रहे अन्याय, अत्याचार एवं अनीतियों की सार्वकालिक स्थिति का पर्दाफाश करना है। उन्हें न्याय दिलाना है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' आज़ादी के इतने वर्षों बाद उनके विकास के सफर, मुख्यधारा समाज से उनके संपर्क एवं उनके तनावपूर्ण नतीजों की दास्तान है।

उल्लेखनीय है कि 'ग्लोबल गाँव के देवता' के केंद्रीय बिंदु क्रमश: जनजातीय जीवन संघर्ष तथा उन पर हो रहे अत्याचारों की करुण त्रासदी है। कहना न होगा कि इसी केंद्रीय मुद्दे के आधार पर इसका कथाक्रम निर्मित एवं विकसित हुआ है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, ''ग्लोबल गाँव के देवता एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भारत के, विशेष रूप से झारखंड के एक

*शोध छात्र, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, संपर्क : 09718124375

आदिवासी समुदाय का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है।... इस उपन्यास के माध्यम से असुर आदिवासियों का जो इतिहास पाठकों के सामने आता है, वह अपने जंगल, जमीन और जीवन को आक्रमणकारियों से बचाने के लिए आदिवासियों के कठिन, घातक और कई हज़ार वर्ष लंबे संघर्ष का इतिहास है।"[२]

'ग्लोबल गाँव के देवता' में झारखंड में निवास कर रही असुर जनजाति के जीवन का दिलचस्प चित्रांकन है। आग और धातु की खोज करने वाली असुर जनजाति का प्रमुख पेशा धातु के विभिन्न औजारों का निर्माण करना है। आज भी असुर जनजाति इनके उत्पादन हेतु कमर तोड़ परिश्रम में रत है। साथ ही उपन्यास में कृषि एवं वन प्रदेश पर भी इनकी निर्भरता दृष्टिगत होती है। असुरों द्वारा देह पर सिर्फ कौपिनें धारण करते फिरने से लेकर वर्तमान आधुनिक समाज में शनै: शनै: 'सुसंस्कृत' होते जाने के विभिन्न छाया चित्र भी यहाँ उपस्थित होते हैं। 'असुरों' से संबद्ध सभी पौराणिक मान्यताओं एवं वर्णनों को भी यहाँ उद्धृत करके उन्हें स्पष्ट किया गया है। बताया गया है कि ऋग्वेद से ही असुरों का वर्णन मिलने लगता है जो कालांतर में आते–आते अन्तत: 'दानव' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इतना ही नहीं, आज़ादी एवं सभ्यता विकास के इतने वर्ष बाद भी, असुरों को लेकर हमारे समाज में जो मिथ्या–धारणाएँ एवं दुराग्रह व्याप्त हैं, यहाँ उन सभी भ्रमों को भी दूर किया गया है। लेखक के ही शब्दों में ''...असुर सुनते दो ही बातें ध्यान में आती है। एक तो बचपन में सुनी कहानियों वाले असुर, दैत्य, दानव और न जाने क्या–क्या! वर्णन भी खूब भयंकर। दस–बारह फीट लम्बे। दांत–वांत बाहर। हाथों में तरह–तरह के हथियार। नरभक्षी, शिवभक्त–शक्तिशाली।"[३] साथ ही मुख्यधारा समाज एवं सरकार के कटु रूख से क्षत–विक्षत इस समाज की आपबीती उपन्यासकार ने बखूबी बयाँ की है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' के जिन घरों में मेहनत मज़दूरी करने वाले हाथ रहते वे लोग खानों–खदानों में खटकर ही पेट पालते। परंतु, जिनके यहाँ यह सुविधा भी न होती वे तो पूर्णतया जंगल पर ही आश्रित रहते। इस क्रम में वे कन्द, कटहल, कई तरह के साग, महुआ आदि का प्रयोग करते। इतना ही नहीं, इन असुर भाइयों का तो मानना है कि ''पानी और जलावन जुटाने में ही हमारी औरतों की आधी ज़िंदगी गुज़र जाती है। बरसात के गिजन की तो मत पूछियो बन्द खदान के सैकड़ों गड्ढे विशाल पोखरों में बदल जाते हैं।''[४]

यहाँ कुछ ऐसे हाट–बाजारों का जिक्र है जो इन आदिवासियों के साप्ताहिक खरीद–फरोख़्त के प्रमुख केंद्र हैं। यहाँ 'सखुआपाट हाट' आसपास के अन्य सभी हाटों में बड़ा तथा महत्वपूर्ण है। लेखक की मानें तो ''आदिवासी जीवन में हाट केवल खरीद–बिक्री की जगह नहीं थी बल्कि वह सामाजिक सम्मेलन की भी जगह थी। दस–पन्द्रह मील तक के सगे–संबंधियों से भेंट होती। बहुएँ अपने नैहर के लोगों से मिलती तो उनकी छलकती खुशी को देखकर कोई भी अंदाज़ा लगा लेता कि ढेर दिन बाद मुलाकात हुई है। यहीं शादियाँ तय होतीं तो गिले–शिकवे भी कहे सुने जाते। अपनों का सर–समाचार, मरनी–जीनी, सबकी खबरें हाट में ही मिलतीं।''[५]

उल्लेखनीय है कि यहाँ के जीवन में भी हाट में लगी 'दारु' की विभिन्न दुकानों का

अपना खासा महत्व है। कई लेखकों का तो मत है कि, ''नई सभ्यता उनके मनोविनोद के साधनों को प्रभावित कर रही है। उदाहरण के लिए आदिवासियों के लिए शिकार मुख्य मनोरंजन है, किंतु प्रशासकीय नियमों और जंगलों के काटे जाने के कारण उनके इस मनोरंजन में बाधा पहुंच रही है। आदिवासी विशेष पर्वों के अवसर पर विशेष प्रकार की सुरा का उपयोग करते थे; किंतु अब इसका स्थान कारखानों की बनी शराब ले रही है, जो आनंद देने के बजाय उनको शराबी बनाती हैं।''[६]

गोपीनाथ महंती कृत उड़िया उपन्यास 'अमृत संतान' में भी ऐसे कई छोटे—मोटे हाट आसपास लगते हैं। 'डंगरिया' हाट सप्ताह में एक बार लगता है, कुल मिलाकर दो घंटों के लिए। हाट का दिन होने पर घर—गृहस्थी की सामान्य चीजों की खरीद होती है। यह मनोरंजन का भी अपार साधन है, जहाँ औरतें, बच्चे आदि सज—धजकर आते, घूमते हैं। कहीं रंगीन कांच की हार—मालाएँ, कहीं खाद्यान्न तो कहीं सस्ती दारु की दुकानें होती हैं।

आदिवासी समाज सदियों से विविध रस्म—ओ—रिवाज़ का पालन करता आया है। ये विविध रिवाज़ इनके जीवन में उत्साह एवं उल्लास का भी स्रोत है, जो इनमें जीवन शक्ति का संचार करते हैं। उक्त उपन्यास में यह दिखाया गया है कि आदिवासी जीवन किस कदर विभिन्न रस्म—ओ—रिवाजों से बेतरह से गुंथा हुआ है। जीवन के विविध अवसरों पर घटित होने वाले ये रिवाज तथा संस्कार असुरों के जनजातीय जीवन के इनसाइट दृश्यों से हमें सहज ही अवगत करवाते हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' की रस्मों को देखने पर ऐसा लगता है कि धरती माँ की 'अमृत संतान' ने अब तक अपनी प्राचीन परिपाटी एवं सांस्कृतिक धरोहर को बड़ी हिफ़ाजत से सहेज कर रखा है। यहाँ ऐसी ही एक प्रथा है— 'सहिया जोड़ना'। इसका तात्पर्य है— 'दोस्ती की विधिवत घोषणा।'[७] उक्त रस्म की अदायगी के दौरान एक दूसरे की प्रिय वस्तुओं के दिए—लिए जाने का दस्तूर है। बालक के नामकरण से संबद्ध यहाँ भी कई रस्में हैं। हर रस्म की तरह इसमें भी पितर—पूर्वजों को बदस्तूर याद किया जाता है। जिसमें वे सदा हाजिर—नाजिर रहते हैं। 'दोनों के पानी' में ये लोग पूर्वजों का नाम ले—लेकर चावल के दो—दो दाने छोड़ते जाते। ध्यातव्य है कि जो दाने पानी में डूब जाते हैं उनके बारे में यह मान लिया जाता है कि 'वे' बच्चे को अपना नाम देने के इच्छुक नहीं। यही नहीं, जो दाने दोने में तैरते हुए तले से चिपक जाते वही नाम बच्चे के साथ चस्पाँ कर दिया जाता।

आदिम जनजाति में विवाह की विभिन्न प्रथाएँ व्याप्त हैं। विवाह के दरम्यान भी यहाँ बहुतेरी रस्म अदायगी होती है। 'असुर' जनजाति में विवाह की विभिन्न प्रथाएँ हमें विवेच्य उपन्यास के पूरे गलियारे में दृष्टिगत होती है। ध्यातव्य है कि लेखक के अनुसार 'लिविंग टुगेदर' जैसी अत्याधुनिक लगने वाली प्रणाली भी आदिवासी समाज में नयी नहीं है। यह वहाँ तो सदियों से चलन में है। कई बार आर्थिक कठिनाई से तो कई बार किन्हीं अन्य वजहों से वहाँ लोग एक साथ रहने लगते हैं। परंतु, अपने बच्चों के विवाह के पूर्व उन्हें अनिर्वायत: वैवाहिक रस्में निभानी ही पड़ती हैं। रणेन्द्र की मानें तो, ''यह लिविंग टुगेदर का फ़ैशन यहीं से उतरकर वहाँ गया है।''[८]

जनजातीय समाज तथा प्रकृति आपस में एकमेक हैं। वे एक दूसरे पर आश्रित ही नहीं, पूरक भी हैं। रणेन्द्र ने यह स्पष्ट तौर पर बताया कि इतने वर्षों के अंतराल के उपरांत भी जनजातियाँ प्रकृति से बेतरह से जुड़ी हैं। चाहे वह कहीं की कोई भी जनजाति हो, प्रकृति उन्हें प्राणप्रिय है। यही कारण है कि झारखण्ड की 'असुर' जनजाति का अद्यतन चित्रण करते हुए भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि वहाँ प्रमुखता से उभरी है। प्रकृति इन्हें नाना रूपाकारों में अपना चिर सानिध्य प्रदान करती है। 'सखुआ' 'पलाश', 'कनेर', 'अमलतास' आदि की गोद में ही ये बड़े होते हैं। यही नहीं, 'सूरज की लाली चांदनी की शीतलता, नदियों की गति, धरती का सोंधापन, कोंपलों का गुलाबी रंग, पत्तों की हरियाली'[९] आदि तत्त्वों के साथ अनुस्युत होकर ही इनका संपूर्ण जीवन अपनी अर्थवत्ता को प्राप्त करता है।

आदिवासी जीवन संबंधी अध्ययन में एक और बात साफ तौर पर जाहिर होती है। वह है— 'धर्म' से जनजातियों का अनिवार्यत: जुड़ाव। इनका संपूर्ण जीवन विभिन्न देव—देवियों एवं उनसे संबंधित विभिन्न मान्यताओं से गुँथा होता है। धार्मिक प्रथाओं का अम्बार सा इस समाज को घेरे हुए है। उल्लेखनीय है कि 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'पाट देवता', 'सरना माई', 'महादनिया महादेव' 'सिंगबोंगा' सदा हाज़िर—नाज़िर हैं। पितर—पूर्वज' को भी ये लोग देव तुल्य ही पूजते हैं। कहते हैं कि ये जनजाति अपने देवता 'सिंगबोंगा' से ही संघर्ष और अदम्य जिजीविषा की प्रेरणा ग्रहण करती है। 'अमृत संतान' में भी इन धार्मिक प्रथाओं की अदायगी में 'बेंजुणी' के साथ—साथ 'डिसारी' (पुरोहित) की उपस्थिति भी अनिवार्य है। प्रत्येक कार्य तयशुदा 'मुहुर्त' तथा निश्चित 'योग' में ही यहाँ संपन्न होता है। बात—बात की इन रस्मों के अधिष्ठाता असंख्य देवी—देवता होते हैं। इनके प्रमुख देवता, होरु पेनु (वन देवता), झाकड़ पेनु (खेती के देवता), 'बांदुणु पेनु' (पोडु खेती के देवता) हैं। साथ ही दरमू (आकाश), दरतनी (धरती) एवं अपने पुरखों के 'डुमा' (आत्मा) को ये देवता सदृश ही पूजते हैं।

धर्म की इन्हीं अतिवादी मान्यताओं एवं धारणाओं की जकड़बंदी के कारण ही जनजातीय समाज अंधविश्वासों में अपनी आस्थाओं से मुक्त नहीं हो पाता। इनके यहाँ तब से लेकर अब तक तरह—तरह के हैरतंगेज अंधविश्वास प्रचलित हैं। इतनी तरह की पूजाएँ, टोने—टोटके, तंत्र—मंत्र आदि से यह तो होना ही था। जनजातीय समाज में व्याप्त इन अंधविश्वासों का ज़िक्र करते हुए श्यामाचरण दुबे ने बताया है कि, ''अदृश्य, अव्यक्त, अभौतिक तथा आत्मिक — इस प्रकार की आत्मिक शक्तियों में अधिकांश भारतीय आदिवासी समूह विश्वास रखते हैं।''[१०]

ध्यातव्य है कि इन प्रथाओं में जनजातियों को अंध श्रद्धा है। एकदम ऐसी ही अंधश्रद्धा इस उपन्यास में 'कोयल' नदी से प्रकटे 'बाबा शिवदास' ने फैलाई थी। ऐसे में काले वस्त्र, काले गाय—गरु, सूअर आदि का अस्तित्व ही खतरे में आ गया। ऐसा ही एक और अंधविश्वास यहाँ था कि यदि नर रक्त से सिंचाई की जाए तो फसल अच्छी होती है। इसी कारण इस सीज़न के दौरान यहाँ 'मुड़ी कटवा' लोग घूमते दिखते हैं, जो नर मुण्ड को तुरंत विलगाकर मानव रक्त की नदियाँ बहा डालते हैं। पशु बलि की प्रथा भी यहाँ तक भी आदिवासियों ने छोड़ी नहीं। संजीव की एक कहानी 'महामारी' में भी एक ऐसे ही अंधविश्वास का वर्णन है जहाँ गाँव में महामारी के यथोचित इलाज की अपेक्षा झाड़—फूंक को प्राधान्य मिलता है। परंतु, 'इस पूजा—अर्चना के

बावजूद महामारी बढ़ती ही चली जाती और पचरा के गीतों और पण्डितजी के पाठ की तरंगों पर डूबता—उतरता रहता... गाँव।''[११]

ध्यातव्य है कि आदिम जनजातियों ने जमीन एवं परंपराओं से अपने जुड़ाव के कारण अपने खानपान के तौर—तरीकों का 'ग्लोबल गाँव के देवता' तक आते—आते भी अधिकांशत: नहीं बदला। यहाँ भी लोग प्रकृति प्रदत्त कंद—मूल—फल पर गुज़र बसर करते हैं। जिनमें महुआ, कटहल, भांति—भांति के कंद, साग आदि प्रमुख हैं। लेखक का विचार है कि 'असुरों' के रोजमर्रा के खान—पान में 'प्रोटीन' की मात्रा न के बराबर होती है। 'सरगुज्जा' तथा 'उड़द' की 'बड़ियाँ' यहाँ चुनिंदा अवसरों पर ही पकाई जाती हैं,जिन्हें भात (चावल) के साथ खाया जाता है। सामान्य दिनों में तो यहाँ 'घट्टा' या 'भात' ही चलता है। कभी—कभार थोड़ा बहुत मांस या नदी—झरने से पकड़ी गई मछलियाँ भी इनके लिए प्रोटीन ग्रहण करने का माध्यम बन जाती हैं। ऐन इन्हीं के शब्दों में, ''यहाँ मकई का घट्टा खा—खाकर जीभ पर घट्टा पड़ जाता है। हमारे ज्यादातर घरों में भात—दाल सब्ज़ी भी पर्व—त्यौहार का भोजन है।''[१२]

ध्यातव्य है कि उपन्यास के भाषा—प्रयोग में भी उनका आँचलिक जीवन बखूबी खिल उठा है। एकदम से जैसे हम उनकी ही बोली बानी में उनका हाल—ए—बयाँ सुन रहे हों। इसके भाषा प्रयोग द्वारा भी 'असुर' जनजाति के भाषा—व्यवहार की जानकारी मुहैया होती है। इनका भाषा प्रयोग देशी लय—ताल में ढला अपनी माटी का सोंधापन लिए हुए है। गीत—नृत्य इनके यहाँ भी अभिव्यक्ति का सर्व—प्रचलित माध्यम है। इसी के द्वारा इनकी अभिव्यक्ति अपने संपूर्ण रूपाकार में दृष्टिगोचर होती है। ऐसा ही एक गीत है—

''फुलझर पहाड़े, गुड़ मीठा चुआं,
रसा रसा पझराय पानी,
रसा रसा पझराय
पानी गे पझराय, निरमला पानी,
सैंया संगे भरब पानी
सैंया संगे भरब पानी
सोना संगे भरब
रसा रसा पानी
रसा रसा
फुलझर पहाड़े....।''[१३]

ठीक रेणु के मैला—आंचल की ही तरह जब जहाँ चाहे 'ढाक ढिन्ना', 'ढाक ढिन्ना' शुरू हो जाता है। और ये लोग उसकी ताल में नाच नाच उठते हैं।

ग़ौरतलब है कि साहित्य के क्षेत्र में भी इन आदिम जनजातियों द्वारा प्रयुक्त एवं संरक्षित भाषाओं एवं लोकगीतों का विस्तृत शोध एवं अध्ययन आवश्यक है। 'मुख्यधारा' समाज के अपने विभिन्न दुराग्रहों एवं जनजातियों के सामाजिक मार्जिनलाइजेशन से हम उन असंख्य शब्द भण्डारों एवं अभिव्यक्ति माध्यमों को जानने से तो वंचित रहेंगे ही, साथ ही भारत के एक महत्वपूर्ण अंग से भी शनै: शनै: अपरिचित होते जाएँगे, इसमें संदेह नहीं।

इन सबके रहते भी आदिवासियों के जीवन क्षरण की कटु दास्तान भी उक्त उपन्यास से साफ जाहिर है। 'अमृत संतान' में वन—अधिकारियों, रेवेन्यु अधिकारियों, कारिंदों, दरोगाओं, साहुकारों आदि का दमन चक्र बखूबी जारी रहता है। समाज के ये तमाम महाप्रभु इन लोगों की भलमनसाहत का जी भरकर लाभ उठाते हैं। उनकी गिद्ध दृष्टि इस उर्वर भूमि पर लगातार टिकी है। इन्हें बहला—फुसला कर कभी तो ये अधिकारीगण इनसे कोरे कागज़ पर खेती के पूर्व ही अंगूठा टिकवा लेते हैं, और कभी इनकी स्त्रियों तक से दुराचार करते हैं।

यही नहीं 'क्रिमिनल ट्राइब' तक घोषित कर दिए गए इन लोगों की समस्याएँ हाल हाल तक वैसी ही हैं। 'ग्लोबल गाँव के देवता' तक भी सुलझने की जगह ये समस्याएँ फैलती ही चली हैं। 'मुख्यधारा' समाज की तथाकथित 'सभ्य जातियों' ने मिलकर जनजातियों के जीवन पर एक खतरा सा डाल रखा है। सुप्रसिद्ध चिंतक नंदकिशोर आचार्य का विचार है कि— ''हमारे यहां — और हमारे यहां ही क्यों, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी— विकास के नाम पर आदिवासी समूहों के साथ अन्याय ही होता रहा है। ...हमारे यहां भी बड़े बाँधों और जंगलों की अंधाधुंध कटाई और वनोपज पर राज्य के अधिकार की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण जब आदिवासियों का जीना—रहना दूभर होने लगा... यद्यपि अभी राज्य अथवा राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग आदिवासियों के सामूहिक अधिकारों के प्रति लगभग उदासीन हैं— बल्कि यह राज्य ही है जो उन के अधिकारों का अतिक्रमण करता जा रहा है।''[१४]

'असुर' जनजाति के द्वारा लौह यंत्रों के उत्पादन में इतनी बड़ी भागीदारी तक को नज़रअंदाज करके उन्हें खदेड़ने का कार्य बदस्तूर जारी है। लेखक ने बताया है कि मिथकों में देवराज इन्द्र से लेकर वन के तमाम अधिकारियों, कारिंदों, व्यापारियों, माइंस मालिकों, आदि तक असुरों के प्रति शोषण की नीति अख्तियार किए हुए हैं। ऐसा लगता है कि धरती मां की 'अमृत संतान' पर जो इनकी शोषणकारी गिद्ध दृष्टि गड़ी थी, वह 'ग्लोबल गाँव के देवता' बनकर ही तृप्त हो सकी है, इन्हें पूर्णत: लूट सकी है। अब भी इनकी 'जमीन और बेटियाँ चुप—चुप, शान्त—शान्त, किंतु रोज़ छीनी जा रही'[१५] है। सरकारी तंत्र नाममात्र के लिए आदिम जनजातियों के विकास हेतु जो शिक्षा आदि की नीतियाँ पेश करता है, उपन्यास में उनकी छीछालेदर साफ द्रष्टव्य हैं। प्रो. मैनेजर पाण्डेय की मानें तो, ''इस उपन्यास में ग्लोबल गाँव के दो देवताओं का उल्लेख है। पहला है विदेशी वेदांग, ग्लोबल गाँव का बड़ा देवता। कम्पनी है विदेशी पर नाम देशी। दूसरा देवता है टाटा, जिसने असुरों के लोहा गलाने और औजार बनाने के हुनर का अंत कर दिया है। इसलिए असुर मानते हैं कि टाटा कंपनी ने उसका जो विनाश किया है वह असुर जाति के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी हार है।''[१६]

विवेच्य उपन्यास का मूल भाव जीवन के प्रति उनकी गहरी आस्था ही है। 'अमृत संतान' में प्रतिपद नई—नई समस्याओं से रूबरू होते हुए भी जीवन के प्रति कहीं भी इनमें विरक्ति का भाव नहीं है, बल्कि एक सकारात्मक बोध है।

संघर्ष का यही जज़्बा 'असुर' जनजाति को जीवन जीने को प्रेरित करता है। संघर्ष में इनकी आस्था और विश्वास ही दोनों उपन्यासों के भौगोलिक विभेद को भी धूमिल कर देता है। यहाँ 'असुर' जनजाति के जीवन का अणु—अणु संघर्ष भावना के नाम ही न्यौछावर है। उपन्यास

में हम पाते हैं कि ''अपने देवता सिंगबोंगा की तरह असुर आदिम जाति भी कभी थकती नहीं। आग से उत्पन्न, कभी लोहा पिघलाने और पिघला लोहा खाने वाले इतना खट सकते हैं, यह विश्वास नहीं होता।.... इसी श्रम–रस में डूबते–उमगते, सरहुल, हरिअरी, सोहराय, सडसी–कूटासी पर्व–त्यौहारों में, अखड़ा में, जदुरा, झूमर, करम नाचते, अपने बैगा–पूजार–पाहन के साथ सामुदायिक जीवन जीते, वे ज़िंदगी का घोड़ा दौड़ते रहते।''[१७]

इस तरह अपने तमाम दु:खों व समस्याओं के बावजूद इन आदिम जनजातियों के जीवन का मूल उत्स है– जिजीविषा और उल्लास। इन्हीं मनोभावों को अत्यंत कवित्वपूर्ण ढंग से वर्णित करने में दोनों ही लेखकों को अनूठी सफलता अर्जित हुई है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी जन–जीवन अपने पूर्ण स्वरूप में उभरा है। उनके रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि सूक्ष्मतम अनुभूतियों के रेखांकन द्वारा लेखक ने आदिवासी जीवन की रंगारंग झांकियाँ प्रस्तुत की हैं।

सन्दर्भ:

१. संस्कृति की सभ्यता, नंदकिशोर आचार्य, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, २००७, पृ. ५५
२. 'यथार्थ से मिथक बनते हुए एक समुदाय की व्यथा कथा' (लेख)– प्रो. मैनेजर पाण्डेय, नया ज्ञानोदय, मार्च २०१०, पृ.१३
३. 'ग्लोबल गाँव के देवता', रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २०१०, पृ.१७
४. वही, पृ.१७
५. वही, पृ.८५
६. जनजातीय जीवन और संस्कृति, लेख– भारतीय जनजातियों की समस्याएँ और उनका समाधान, राजीवलोचन शर्मा, सहचारी प्रकाशन प्रसारण, कानपुर, मार्च, १९६७ ई. पृ. २७३
७. 'ग्लोबल गाँव के देवता', पृ. ७७
८. वही, पृ. ७६
९. वही, पृ. ७७
१०. 'मानव और संस्कृति', श्यामाचरण दूबे, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९९३, पृ. २६१
११. 'संजीव की कथा–यात्रा', पहला पड़ाव, कहानी – 'महामारी', संजीव वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००८, पृ. २३६
१२. 'ग्लोबल गाँव के देवता', १७
१३. वही, पृ. ४६.४७
१४. संस्कृति की सभ्यता, नंदकिशोर आचार्य, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, २००७, पृ. ५६
१५. 'ग्लोबल गाँव के देवता', ३४
१६. 'नया ज्ञानोदय', प्रो. मैनेजर पाण्डेय, मार्च, २०१०, पृ.१४
१७. 'ग्लोबल गाँव के देवता', पृ. २८

भाषा–साहित्य

आदिवासी जनजीवन और उपन्यासकार गोपीनाथ महान्ती

*बालकृष्ण बेहेरा

उपन्यासकार गोपीनाथ महान्ती के आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों में मनुष्य का निशर्त जीवन जीना ही वर्णित है। इस दृष्टिकोण से **अमृतसंतान** और **परजा** उपन्यास द्वय महाकाव्यात्मक उपन्यास हैं। नारी और माटी के स्वप्न और स्वरूप को उन्होंने गहन आत्मीयताबोध से चित्रित किया है। स्थूल जागतिक ऐश्वर्य हो या फिर रोटी, कपड़ा, मकान जैसे बुनियादी जीवन संदर्भ हों, श्री महांती ने इनसे परे मानव जीवन की अनुपमता को अपने उपन्यासों में प्रमुखता दी है। आदिवासी जीवन की प्रकृतिनिष्ठता और अकृत्रिमता को उन्होंने उत्थापित किया है।

गोपाल बल्लभ दास के उपन्यास **भीमा भुईयाँ,** गोपीनाथ महान्ती के **दादीबूढा** और **अपहन्व,** ऋषिकेश पण्डा के **सुनापुटर लोके**, प्रतिभाराय की **आदिभूमि** प्रभृति उपन्यास आदिवासी जीवन पर आधारित हैं। किन्तु गोपीनाथ के **परजा** और **अमृतसंतान** दोनों का मर्मस्पर्शी भावावेदन वहाँ नहीं है। प्रकृति तो निश्चित रूप से सुंदर ही है लेकिन इस प्रकृति के क्रोड में उन्मुक्त जीवन जीने की अवस्था उससे भी सुंदर है, इस तथ्य को महांती ने आत्मिक उपलब्धि का विषय माना है। घने जंगल के गांभीर्य और उत्तुंग पर्वतों की प्रस्तरीय स्थितप्रज्ञता और वनपाखी के गीतों की कोमलता, सूर्योदय और सूर्यास्त का रंग, नीले आकाश के हृदय की विशालता उस आदिवासी मनुष्य के भीतर है जिसका स्रष्टा ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है। आदिवासी जन की जीवनानुराग और जिजीविषा ही इनके उपन्यासों का प्रतिपाद्य है। अस्तित्ववादी दार्शनिक अल्बेयर कामू ने ज्यां पॉल सार्त्र के उपन्यास **नसियां** की समीक्षा करते हुये कहा : 'असल में जीवन महान हो सकता है और मनुष्य अभिभूत कर सकता है।'[१] फिर कामू और फ्रेडरिक नीत्से के अनुसार : 'मनुष्य किस प्रकार जी रहा है और कितना जी रहा है यह इस सवाल के बरक्स ज्यादा महत्वपूर्ण है कि मनुष्य क्यों जी रहा है!'[२] तात्पर्य यह है कि गोपीनाथ के आदिवासी जीवन चित्रण में उक्त बातें शतश: फलित होती दिखाई पड़ती हैं। महान्ती के पात्र जीवन का तत्वदर्शन नहीं ढूंढते बल्कि इनके लिये जीवन जीना ही बड़ी बात है। डी.एच. लॉरेंस भी अपने जीवन के विषय में यही कहते हैं कि वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे एक 'जिंदा इंसान' हैं।[३]

*सहायक प्राध्यापक : ओड़िआ विभाग, जमशेदपुर को-ऑपरेटिव कॉलेज, झारखण्ड, मो० : 09470352676

सभ्य और शिक्षित मनुष्य अपने जीवन का अध्ययन ही करता रहता है जो एक अंतहीन प्रयास है। इनके द्वारा जीवन का तात्विक अन्वेषण होता रहता है परंतु इंसान का जीवन इस उपक्रम से परे एक अशेष ग्रंथ है जिसका पाठ कभी पूरा नहीं हो सकता। इसलिये बेहतर यह है कि जीवन के रहस्य खोजने की बजाय जीवन जिया जाय। महान्ती के सभी आदिवासी चरित्र यह अच्छी तरह जानते हैं इससे अधिक कुछ नहीं।

परजा की जिली और बिली पूर्णयौवन को प्राप्त कर चुकी हैं और उनके प्रति साहूकार लोलुप दृष्टि से देखता है। शुक्रुजानी और मांडियाजानी की निजी सरलता के चलते उनके पैतृक जमीन पर साहूकार कब्जा कर लेता है। **अमृत संतान** का सरबू सावंता वृद्ध हो चुका है। लेंजु कंध उसका छोटा भाई है फिर भी जीवन में कुछ प्राप्त नहीं कर पाता। पुयु को उसका सावंता दिउडू अलग कर देता है। वह एक नन्हीं संतान के साथ अलग ही जीवन बसर करती है। इतनी विद्रूपताओं के अतिरिक्त साहूकर किसी तरह अपनी क्रूर साहूकरी के माध्यम से कंधों का सर्वस्व समाप्त करने का उपक्रम करता है, इसका भी जीवंत चित्रण मिलता है। परंतु इन आदिवासियों का जीवन अजेय है, सुख अजेय है। इनका दिसारी (पुरोहित) कहता है : 'हमारा जन्म आनंद हेतु हुआ है। हमारी इच्छा न होने पर किसकी हिम्मत है कि हमारे प्राणों को पीड़ा पहुँचा सके। संसार में दु:ख नहीं है।'[४] दिसारी उपन्यास में अन्य प्रसंगों में भी इसी जीवनानुभव का दार्शनिक वक्ता सा दिखता है : 'जीवन में दु:ख नहीं है। मृत्यु नहीं है।'[५] पुयु के जीवन में यह जीवनदर्शन सघन रूप से मूर्त हो उठता है। पुयु का पति उससे कह चुका है कि मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई राग नहीं है। ऐसे में वह और किससे, क्या उम्मीद करे! बड़े–बुजुर्ग उसे सांत्वना देते हैं लेकिन उसका मन मानता नहीं है। जब उसके मन के मनुष्य को ही उससे दूर कर दिया गया है तब, उसे सुख कहाँ है। पुयु घर छोड़ देती है। किसी का आश्रय भी नहीं लेती। दु:ख उससे संघर्ष के लिये मानसिक दृढ़ता प्रदान करता है। पौ फटते ही वह अपने बच्चे के साथ घर छोड़ने को उद्धत होती है और सोचती है : 'यदि छोटी सी चिड़िया के लिए बसेरा है, चीटियों के लिए आहार है तो मेरा बसर क्यों न होगा!'[६] वह मन को आश्वस्त करती है कि दर्तनी (प्रकृति माता) की गोंद में सबके लिए जगह है। फिर यह जन्म तो दो दिनों का है। उसके बाद तो परिवर्तन है। सिर्फ इतना सा समय वह अकेले नहीं गुजार सकती! इस संकल्पभाव का सुंदर दृश्य उपन्यासकार के शब्दों में देखें : 'वह नीचे उतर गई। थोड़ी तेजी से चलने लगी। पर ये क्या! क्या हो रहा है— नया युग, नई दुनिया, जितना भी वह अपने को सँभालने की कोशिश करती है उसके प्राण काँप—काँप उठते हैं— होंठ थरथरा उठते हैं— आँसुओं की झड़ी उमड़ पडती है और उसके मुँह में भर जाती है। उदीयमान सूरज को देखकर अपने मन में कह उठती है— जीवन में स्वाद है। मृत्यु नहीं, दु:ख भी नहीं।'[७]

मृत्यु के प्रति निर्भयता इस सरल और आशावादी आदिवासी जीवन की बड़ी सम्पत्ति है। पुयु, सरबू सावंता, दिसारी इन सभी की बेलौस मान्यता है कि मृत्यु शरीर के परिवर्तन का महज एक माध्यम है। वे मानते हैं कि नये जन्म में एक नये शरीर और रूप के साथ फिर लौटेंगे। इसका उल्लास उनके मन में घनीभूत रहता है। सरबू सावंता कहता है : 'जायेगा तो जायेगा। यह पुराना हो चुका है, अनुपयोगी शरीर, इसको फेंक कर एक और बार जन्म लेना ही है।'[८] पुन: इस

समय भी सरबू जीवन के प्रति विमुख नहीं है। सुंदर मालभूमि (ऊँची पर्वतीय भूमि), रंगे–बिरंगे पहाड़, सफेद झरने, फूलों भरी चारों दिशायें, मधुछत्ते की मधुरता, ये सब सुंदर है— ऐसा बोलकर उसकी आत्मा तृप्त और संतुष्ट रहती है। महुआ की मदहोश करने वाली गंध और उसके नशे का स्वाद, तीखी धूप का स्वाद, रणभूमि का स्वाद, बलि का स्वाद— सबके सब उसे आकर्षित करते हैं। वह इतने अनुभवों के साथ जीवित है। यही उसके जीवन का परम ऐश्वर्य है।

गोपीनाथ की रचनाओं में एक महाकाव्यात्मक उपस्थापन शैली दिखती है। **अमृत संतान** के प्रारंभ में मृत्यु का चित्र वर्णित है। जैसे सरबू सावंता की मृत्यु। बहुवर्णी सूर्यास्त, पार्श्व में आत्मीय श्वान, जीवन के सभी साथी, बाँसुरी— उसे मृत्यु का कोई भय नहीं है। वह बाँसुरी बजा रहा है और साथ ही जीवन की यात्रा भी पूरी कर रहा है। जीवन के आखिरी क्षणों को भी स्वरमयी कर देने की सरबू आदिवासी की यह मार्मिक शैली है। इस प्रकार प्रारंभ से ही महांती की शिल्पी आत्मा का निदर्शन होता है। कामू कहता है : 'जीवन में इतनी सारी अग्निपरीक्षा और यातना भोगने के बाद वह सबकुछ अच्छा है, ऐसा मेरी बुजुर्गियत और महानुभवी अंतरात्मा मानने को प्रेरित करती है।'[९]

आदिवासियों की वैवाहिक रीति के अनुसार कुछ गीत गाये जाते हैं। कुछ पुराने लोगों के गीत उद्धरणीय हैं :

जीवन मन्ने माल/ पराना मन्ने माल।

इंची रे सोडागा माल/ इंची रे वैडैका माल।[१०]

अर्थात जीवन है, प्राण है ऐसा मान कर आनंद हुआ, श्रद्धा हुई। बुढ़ापा यानि जीवन का कुछ समय अभी भी शेष है। जितना है उतने में ही खुशी–खुशी जीवन बसर करना अच्छी बात है। यह इन आदिवासियों का जीवनानुभव है।

उन्मुक्त चित्रण करने वाले एक अहले दर्जे के चित्रकार की तरह महान्ती ने **परजा** की जिली और बिली के यौवनपूरित होने की घटना को शब्दश: उत्सवमय कर दिया है जब वे झरने के साफ और ठंडे जल में स्वच्छंद स्नान कर रही होती हैं। यहाँ निष्पाप और निष्कलुष वनकन्याएं अपने जीवन के सुमधुर सौन्दर्य के साथ रचना में पर्याप्त 'स्पेस' पाती हैं।

इसी तरह आदिवासी युवक–युवती प्रेम करते हैं। प्रगाढ़ता बढ़ने पर वे विवाह भी करते हैं। ये सभी धाँगड़ा–धाँगड़ियाँ (युवक–युवतियाँ) धाँगड़ावास–धाँगड़ीवास में रात्रि–यापन करते हैं। दोनों वासस्थलों से गीतों के माध्यम से परस्पर प्रेम–निवेदन होते हैं। महांती लिखते हैं : 'माँ–बाप से दूर रहते हुए ये लोग रात व्यतीत करते हैं। बाधा नहीं, बंधन नहीं, नियंत्रण नहीं। इन दोनों वासों को केन्द्र में रखकर परजा जाति का इतिहास युगों–युगों से चलता चला आ रहा है। ...केवल गीतों–गीतों में बातचीत, इस घर से उस घर, यदि कुछ अपेक्षित घटित होता है तो सुबह गाँव की सभा होती है। थोड़े दाम की मदिरा उन पर जुर्माना होती है। सब मिलकर पीते हैं, नाचते हैं। गाते हैं। इतनी मात्र ही उन युवक–युवती की सजा है।'[११]

सरल लेकिन समृद्ध संस्कृति–संपन्न आदिवासी अपने दरमू (सूर्य), दर्तनी की पूजा करते हैं। डूमा (आत्मा) को शान्त करते हैं। दीसारी भविष्यवाचन करता है। उसके बेजुड़ी (भगत) को दैवी शक्ति आच्छादित कर लेती है। इस तरह का जीवन ये आदिवासी जीते हैं। साथ ही

साहूकार द्वारा इनकी माटी और बहू–बेटियों के शोषण का वे विरोध करते हैं– सशस्त्र विरोध। माँडियाजानी शोषक साहूकार का सिर अपनी टाँगी से काट देता है। ध्यातव्य यह कि इस हत्या के लिए उनके मन में कोई पछतावा नहीं बल्कि इसे वे विजयोल्लास के रूप में देखते हैं और अपना जातीय गौरव समझते हैं। शोषण और अन्याय के विरूद्ध लिखने की जो लेखकीय आस्था और प्रतिबद्ध सामर्थ्य अपेक्षित होती है, वह महान्ती में मौजूद है। वे सुंदर और प्राणवान मनुष्य का वर्णन करते हैं इसीलिए उनके उपन्यास अधिक भावनाप्रधान हैं। **परजा** और **अमृत संतान** की शैली भी गद्य–पद्यात्मक है जो उक्त कथन की पुष्टि करती है। इस शैली के द्वारा पाठक को एक चित्तउल्लासक संगीत सुनाई पड़ता है। हर एक अच्छा शिल्प संगीत होता है– यह कथन इन उपन्यासों में चरितार्थ होता है। माटी को लेकर सपना देखने वाले आदिवासियों को महान्ती ने भी एक स्रष्टा के रूप में देखा है। मिट्‌टी शस्यश्यामला होती है। उसमें जीवन का आधार जन्म लेता है। उस पर आधारित त्यौहार आते हैं। वे मदिरा पीते हैं, नाचते और गाते हैं। इस तरह की एक स्वप्नमयी एवं अकुण्ठ जीवनशैली के पक्ष में महान्ती खड़े दिखाई देते हैं। आदिवासी औरत की आशाएँ, आनंद, नृत्य–गीत, स्नेह–प्रेम और उसकी करूणा भी महान्ती के यहाँ रूपायित होते हैं। एक अच्छे इंसान के अंदर भी कुछ दुर्गुण होते हैं। अमृत संतान का दिउडू सावंता इसका सशक्त उदाहरण है। इस तरह के चरित्र किसी आदर्श को लेकर नहीं जीते। परंतु जीवनप्रिय जांतवता (animality) के साथ जीते हैं। उनमें मानवीय दोष और दुर्गुण के साथ प्रेम और संवेदना का सायुज्य भी रहता है। उनके बाहरी जीवन में शोषण है, संघर्ष है फिर भी जीवन में एक गहरी करूणा है। ऐसे चरित्र पाठक को अपने से लगते हैं। गोपीनाथ प्रकृतिप्राण हैं। माटी, पानी, पवन, वन, पहाड़, धूप, बारिश, सूर्य, चन्द्र जैसे चिरंतन स्नेह–प्रेम के प्रतिदर्शों को वे आत्मीयता से चित्रित करते हैं। चिरंतनता ही आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यासों का प्राणतत्त्व है। हिन्दी के आलोचक मधुरेश के अनुसार भारतीय साहित्य में प्रथम आँचलिक उपन्यास **अमृत संतान** है।[१२] इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि यदि पहला आँचलिक उपन्यास **अमृत संतान** है तो इसकी विषय वस्तु आदिवासी जनजीवन पर आधारित है। यहाँ एक जीने लायक धूल–धूसरित गाँव नहीं है बल्कि घने और बीहड़ जंगलों के बीच रहने वालों का प्रकृत परिवेश है।

सन्दर्भ :

१. नसियां : ज्याँ पॉल सार्त्र, पृ. ३१७
२. वही, पृ. ३०६
३. अस्तित्ववादर मर्मकथा : शरत महान्ती, अग्रदूत प्रकाशन, कटक, १९९२ ई. संस्करण, पृ. १०
४. अमृत संतान : गोपीनाथ महान्ती, विद्यापुरी प्रकाशन, कटक, १९४९ ई., छठाँ पुनर्मुद्रण, १९९७, पृ. ५३९
५. वही, पृ. ५४०
६. वही
७. वही
८. वही
९. अस्तित्ववादर मर्मकथा : शरत महान्ती, अग्रदूत प्रकाशन, कटक, १९९२ ई. संस्करण, पृ. ३१९
१०. अमृत संतान, पृ. ३१७
११. परजा : गोपीनाथ महान्ती, विद्यापुरी प्रकाशन, कटक, १९४६ ई., नवाँ पुनर्मुद्रण, २००१ पृ. ९.१०
१२. हिन्दी उपन्यास का विकास : मधुरेश, सुमित प्रकाशन, ००४ ई., पृ. १४०

राजस्थानी लोकसाहित्य में अभिव्यक्त आदिवासी विद्रोह के स्वर

*अशोक कुमार मीणा

वर्तमान अस्मितावादी साहित्यिक परिवेश में आदिवासी साहित्य को परंपरागत साहित्यिक प्रतिमानों एवं सौंदर्यशास्त्र के आधार पर महज लोकगीतों या लोकगाथाओं का वाचिक प्रतिरूप बताकर खारिज करने का प्रयास बहुत से आलोचकों ने किया है। कुछ आलोचक मानते हैं कि आदिवासी बिना किसी आदर्शवाद से प्रेरित हुए महज अपने दैनिक जीवनयापन की प्रक्रियाओं को ही लोकसाहित्य में अभिव्यक्त करते हैं। उनका साहित्य 'स्वांत: सुखाय' है और इस रूप में लोककल्याणकारी नहीं है। वस्तुत: हिन्दी साहित्य के तथाकथित सभ्य या नागर स्वरूप के आधार पर आदिवासी साहित्य को एक सिरे से खारिज करने का आलोचकों का प्रयास स्वाभाविक है क्योंकि, उन्होंने कभी भी साहित्य की मुख्यधारा से निकलकर हाशिए के लोगों के संघर्ष को नहीं देखा। या फिर बंद आँखों से देखा भी तो महज सहानुभूतिपूर्वक। उनकी नजर में आदिवासी नायक धीरललित, धीरोदात्त या धीरप्रशांत नहीं है। अत: उनका साहित्य भी उनके अनुसार 'आदर्श' से विमुख है। इतना ही नहीं राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में कुछ अन्ग्रेज विद्वानों ने 'इतिहासबोध के अभाव' का आरोप लगाकर यहाँ के लोक साहित्य को खारिज करने का प्रयास किया है। जबकि राजस्थानी लोक साहित्य पर दृष्टिपात करें तो आलोचकों द्वारा आदिवासी साहित्य पर इतिहासबोध के अभाव और आदर्शहीनता का आरोप स्वत: निर्मूल साबित हो जाता है। राजस्थान का लिखित साहित्य या इतिहास तो राज्याश्रय या फिर सामन्तों की झूठी प्रशंसा से भरा पड़ा है। क्योंकि रीतिकालीन विलासिता के पंक में डूबे राजस्थान के राजा और सामंत आत्मप्रशंसा से ही अपने पुराने वैभव को याद करते थे। अंग्रेजों के आगमन के बाद यहाँ के साहित्य और इतिहास को यहाँ के वैश्यों ने सहारा देने का प्रयास किया, लेकिन उन्होंने भी इसे व्यापारिक सिद्धान्तों के आधार पर लाभहीन समझकर 'पूरब की चाकरी (बंगाल व्यापार गमन)' करना ही बेहतर समझा। वैश्य युग में अन्ग्रेजी शासन की स्थापना एवं क्षत्रिय युग के अंत से नये राज्य की स्थापना, शत्रु आक्रमण का डर, हार–जीत से परे, जौहर की संभावना से रहित एक ऐसे युग का आगमन हुआ जिसमें साहित्य या इतिहासलेखन का कार्य रूक सा गया। इस युग में वीर साहित्य या विरहणी के उद्‌गारों का साहित्यिक रूपान्तरण लगभग समाप्त हो गया। वस्तुत: इस युग के चारण–भाटों को मजबूर होकर कहना पड़ा कि :

कविराजा खेती करो, हल सूं राखों हेत।

*शोध छात्र : भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, संपर्क : 09891639251

गीत जमीं में गाड़ दो, ऊपर रालो रेत।।

वस्तुतः राजस्थानी लोकसाहित्य ही सही अर्थों में यहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का सहज प्रकाशन है, जिसमें बिना युग परिवर्तन की चिंता किये तथा बिना किसी राज्याश्रय के, यहाँ के हर वर्ग, हर जाति, हर धर्म के लोगों की भावनाओं को लंबे समय तक जीवित रखा। अन्ग्रेजों के आगमन से वैश्य या पूंजीवादी युग के कारण जौहर एवं प्रेम की इस धरती पर भी अर्थप्रधान मानसिकता का मकड़जाल फैलने लगा। पैसा कमाने विदेश गमन (चाकरी) का चित्रण यहाँ के लोक साहित्य में विरहणी द्वारा बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है :

साजन चाल्या चाकरी जी, धर कांधे बंदूक।
के तो सागै ले चलौ जी, के करह्यों दो टूक।
दोय टकां की भंवर थारी चाकरी जी।
हां जी ढोला लाख टकां थारी नार।

वस्तुतः राजस्थान के लोक साहित्य की समृद्ध परंपरा इस व्यापारी युग में आकर महज विवाहगीतों या सत्यनारायण या भागवत कथा जैसे ब्राह्मणी साहित्य तक सीमित हो गई। लोक की आत्मा का वास्तविक प्रतिबिम्ब या प्रतीक लोक साहित्य प्रश्रय के अभाव में ब्राह्मणों और व्यापारियों के हाथ की कठपुतली मात्र रह गया। यह तो हुई समाज की मुख्यधारा के लिखित एवं मौखिक साहित्य की बात लेकिन राजस्थान में एक वर्ग ऐसा भी था जो बिना किसी परिवर्तनों से प्रभावित हुए अपने जंगल, जल और जमीन को बचाते हुए अपने सहज और नैसर्गिक जीवन में मस्त था। राजस्थान का आदिवासी समाज ऐसा ही वर्ग है, जो अपने अस्तित्व पर खतरा होने पर ही आक्रामक हुआ अन्यथा निर्बाध गति से अपने अस्तित्व को सहेज कर रखा। इनका लोकसाहित्य मुख्यतः इन्ही के जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। अरावली पर्वत श्रृंखला में आबाद यहाँ के आदिवासियों में मुख्यतया भील, मीणा, सहरिया, गिरासिया आदि आते हैं। जो वर्षों से अपने सांस्कृतिक मूल्यों, रीति—रिवाजों, परंपराओं को अपने बल पर सहेजे हुए हैं। अन्ग्रेजों से पहले तक ये आदिवासी समुदाय बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के कारण एवं स्थानीय शासकों द्वारा इनकी सत्ता को स्वीकार करने के कारण शांत थे। वे अपने क्षेत्रीय शासकों को सम्मान देते थे तथा कुछ विशेष करों द्वारा अपनी पृथक पहचान बनाए हुए थे। ये लोग अपने क्षेत्र से गुजरने वाले काफिलों, व्यापारियों या यात्रियों से 'बोलाई' तथा आसपास के निवासियों से 'रखवाली' नामक लाग (कर) वसूल करते थे। महाराणा प्रताप को मुगलों के विरूद्ध सहायता प्रदान करने के बदले मेवाड़ राजघराने के ध्वज पर एक ओर भगवान एक लिंग जी का चित्र है तो दूसरी ओर तीर—कमान लिए एक भील योद्धा का चित्र है। राजगद्दी पर बैठने वाले नये राजा का भील सरदार अपना अँगूठा काटकर तिलक करता था। कुल मिलाकर अन्ग्रेजों के राजस्थान आगमन से पूर्व तक यहाँ का आदिवासी समुदाय अपने को सुरक्षित एवं स्वतंत्र महसूस करता था।

स्थानीय सामंतवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गठबंधन ने अरावली की गोद में बसे इन आदिवासी समुदायों की जंगल के प्रति सामूहिक सम्पत्ति की अवधारणा पर आघात किया। इस अपवित्र गठबंधन का सर्वप्रथम विरोध यहाँ के आदिवासी समुदायों ने ही किया। अन्ग्रेज आदिवासी क्षेत्र को विद्रोहियों की सुरक्षित शरणगाह मानते थे। ये क्षेत्र उनकी निजी सम्पत्ति की

धारणा के विपरीत पड़ता था। स्थानीय सामंतों और अन्ग्रेजों के पिछलग्गू महाजनों को भी आदिवासी समाज सूदखोरी तथा आर्थिक शोषण का जरिया महसूस हो रहा था। इसी कारण अन्ग्रेजों द्वारा किये जा रहे शोषण के विरूद्ध १८१८ ई. में यहाँ के मेरों एवं भीलों ने विद्रोह कर दिया। मेरवाड़ा प्रदेश के विद्रोह को लंबे समय बाद १८१२ ई. के लगभग दबाया जा सका। १८२० ई. के आसपास अन्ग्रेजी सेना और भील विद्रोहियों के बीच संघर्ष हुआ। १८२६ ई. में दौलत सिंह एवं गोविंद राय के नेतृत्व में गिरासियों ने बगावत की। १८५१ ई. में उदयपुर राज्य के जहाजपुर परगने के आदिवासी मीणाओं ने अन्ग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। इन विद्रोहों से अन्ग्रेज १९४७ ई. तक जूझते रहे। वस्तुतः उन्होंने अपने स्वभाव से स्वतंत्र ऐसे समुदाय को गुलाम बनाने का दुष्प्रयास किया जो जन्मजात स्वतंत्रता का पक्षधर है। इन आदिवासियों के विद्रोहों से निपटने के लिए अन्ग्रेजों को 'मेवाड़ भील कार्पस', 'जोधपुर लीजॅन', 'खानदेश भील कार्पस', 'मीणा बटालियन' नाम से अलग सैनिक टुकड़ियों का गठन करना पड़ा। इसमें अन्ग्रेजों को काफी समय और धन की हानि हुई। वर्तमान अमरीकी सेना की तरह बिना जीत की घोषणा के ही उन्हें भी वापस लौटना पड़ा। १८५७ के विद्रोह से पहले ही राजस्थान के आदिवासियों के ये सतत् विद्रोह उनके मातृभूमि प्रेम के आदर्श को दर्शाते हैं। भले ही ये विद्रोह समाज की मुख्यधारा के इतिहास में दर्ज न हो लेकिन लोक साहित्य के विस्तृत फलक पर गहरे आदर्शवाद के साथ मौजूद है। इतिहासकारों एवं साहित्यकारों द्वारा इनके महत्व की उपेक्षा चिंता का विषय है क्योंकि जंगल के इन दावेदारों ने बिना किसी बाहरी सहायता के अपनी स्वतंत्र अस्मिता और अस्तित्व के लिये सीमित संसाधनों से तात्कालिक विश्व की सबसे बड़ी सत्ता के खिलाफ विद्रोह किया था, और यह मामूली बात नहीं थी। आदिवासी साहित्य में आदर्श की पड़ताल करने वाले आलोचकों को यह आदर्श भले ही न लगे, लेकिन अपनी मातृभूमि और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना आदर्शहीनता तो कम से कम नहीं है।

इसी प्रकार नारी को सहगामी या सहकर्मिणी बने हुए आदिवासी समाज में ही सहज देखा जा सकता है। जिस विधवा विवाह का श्रेय हमारा भद्र प्रदेश (बंगाल) ले रहा है, वह यहाँ के आदिवासी समुदायों में बहुत पहले से ही 'नाता' या 'नतरा' प्रथा के रूप में प्रचलित है। इसमें कुछ रीति—रिवाजों के तहत विधवा को पुनर्विवाह का अवसर प्रदान किया जाता है। यही नहीं वर्तमान खाप पंचायतों की परिपाटी से अलग महज पसंद की स्त्री पर हाथ रखने और विवाह की स्वीकृति हो जाने का लोकतांत्रिक मूल्य 'आदर्श' कहलाने का हकदार तो है ही। अतः वर्तमान प्रगतिशीलता के चश्मे से अनपढ़, अभाव एवं अंधविश्वासग्रस्त और मुख्यधारा से दूर आदिवासी समाज में बाल विवाह, डायन प्रथा, माँस—मदिरा का सेवन तो आलोचकों को दिख जाता है लेकिन उनकी आदर्श और स्वस्थ परंपराओं को कृत्रिम आदर्शवादिता की कसौटी पर कुर्बान कर दिया जाता है।

आदिवासी साहित्य को उनके जीवन परिप्रेक्ष्य से जोड़कर देखने एवं साहित्यिक मापदण्डों से परे उनके लोक साहित्य के अर्थ में समझने की आवश्यकता है। ताकि इन हाशिए के लोगों में भी 'आदर्श' के नये परीक्षाशास्त्र निर्मित किये जा सकें। इनके विद्रोहों को 'नक्सलवाद' समझने वाले तथाकथित बुद्धिजीवी समाज को इनकी वस्तु स्थितिसे अवगत कराने की जरूरत है

Does Indigeneity Matter?

Sanjay Nath

This book, *In the Shadows of the State,* is a result of a decade of ethnographic research in Jharkhand. The actual site is a small village pseudo named 'Tapu' in Bero block near Ranchi, where the author explores the everyday lives and experiences of some of the poorest adivasi villagers. Although she based her research in Tapu, she also rented rooms at Bero and Ranchi so that 'she could situate Tapu in the broader context of what was happening in the state and the national arena'.

The author Alpa Shah, who is a Senior Lecturer in the Department of Anthropology at Goldsmiths, University of London, focuses on the 'dark side of indigeneity' which asserts that the project of indigeneity is flawed and misdirected. The discourse of indigeneity maintains that there is a primitive relationship between adivasis and their land. It also says that for adivasis land, forests and animals are not mere resources for subsistence and development, but they are integral parts of nature - sacred and therefore to be treated with respect. Also, adivasi life is communitarian, egalitarian and redistributive. Based on these beliefs, indigenous rights activists attempt to reassert adivasi's cultural traditions and religious practices so that their land and the community itself could be protected from the greedy practices of developmental processes. However, the author suggests that well-meaning indigenous rights and development claims and interventions may misrepresent and hurt the very people they intend to help. Their efforts may further marganalise them and reinforce a class system that harms the poorest adivasi people. She suggests that if 'an alternative radical politics' is to emerge in the area, it must avoid the indigenous rights activists and work directly with poor adivasis, taking into account their realistic worldview. The book thus is a powerful critique of indigeneity and indigenous rights groups' activities in Jharkhand and is based on years of extensive research which brings together ethnographic and theoretical analyses.

Each chapter of *the book* critiques a separate aspect of the discourse of indigeneity. The method adopted by the author is that each aspect of the discourse of indigeneity is contrasted with the actual practices of poor adivasi villagers, showing how that aspect is inadequate and unreal and not doing any good to the adivasis. The chapter on polity (Chapter 2, 'Not Just Ghosts') shows how the indigenous rights activists try to promote a secular system of self-governance as an alternative to corrupt electoral processes. But the chapter also shows the wide gulf between the vision of indigenous activists and what the traditional system of indigenous governance actually is. For example, the activists think that *Pahans* and *Shamans* are useless and undesirable elements in the village affairs and seek to eliminate their role as key intermediaries in village affairs. But Shah argues that the legitimacy of village institutions rests precisely upon the presence of village authorities such as the *Pahans* who can summon the powers of ancestral spirits and the intervillage entities such as the *Parha*. By trying to purge adivasi self-government institutions of their sacral elements, indigenous activists end up creating a secular structure which fails to take on either the corrupt state or the concerns of adivasi villagers. The author takes the viewpoint that we should take seriously Adivasi vision of democracy through a sacral polity as the foundation for an alternative political order. It should not be mistaken as the domain of religion but a cosmology of a sacral polity.

Chapter 3, 'Shadowy Practices: Development as Corruption' has focused on how state resources for the development of poor rural areas get appropriated by historically dominant higher caste rural elites. The chapter has historically contexualised the poor Adivasi's desire to keep away from the state, as well as the importance they place on the idea of the alternative sacral polity. The author also shows how participatory development efforts enable the reproduction of a local class structure that keeps the poorest firmly at the bottom.

Chapter 4, 'Dangerous Silhouettes: Elephants, Sacrifice and Alcohol' shows that although the indigenous rights groups promote 'the nature-loving, nature worshipping' image of the poor adivasi villagers, these adivasi villagers, if given a chance, would prefer to clear the forests because they harbour herds of elephants that destroy their crops and homes. Similarly, indigenous rights activists have tried to revive *Sarna,* which is said to be adivasi's traditional set of religious practices. However, this revived *Sarna* ends up being parody of the original form of *Sarna* because rituals of blood sacrifices and liquor offerings are censored from the rituals. Shah argues that this new *Sarna,* where nature is worshipped with flowers and coconuts, is incompatible with the adivasi notion of *Sarna* where blood sacrifices and liquor offerings cannot be done away with. Also, nature has yet another meaning for the poor adivasis who have to encounter elephants in the middle of the night, trying to prevent them from wreaking havoc in their villages. Says the author:

> 'In Jharkhand, it seems that the image of the celebrated eco savage is costing lives. Neither the government nor indigenous rights activists seem to care at all about the poor adivasis in villages like Tapu, who despair as by day they try to repair the damage wrought by the wild

* Assistant Professor, Department of History, Jamshedpur Co-operative College, Jamshedpur, Mb. 09771843562

> elephants, and by night they try to chase away the dangerous silhouettes. They are not allowed to kill the elephants or cut down the forests which have brought the elephants there. But nobody wants to hear their fears today, when indigenous people are supposed to be nature lovers and nature worshippers.'

Chapter 5, 'Night Escape' focuses on the eco-incarceration of poor adivasis that results from the depiction of indigenous cultures as rooted in their land. Seasonal migration of poor adivasis out of Jharkhand as casual labourers to brick factories and farms in other states is a threat to the notion that adivasis have an innate attachment to their land and that severing this connection renders them vulnerable to predatory capitalism. The most vehement critic of this seasonal brick kiln migration are the middle class urban indigenous rights activists who say that seasonal migration is compulsory because of extreme poverty and that the migrants are exploited and oppressed at every stage starting from the labour contractors at home through the managers and bosses at the kilns. Against this, Alpa Shah describes how working away from home is, in fact, a liberating experience for poor adivasis who are freed from the social constraints of the village. Adivasis seasonal labourers see it as a way to escape domestic problems, explore a new country, and embark upon love affairs frowned upon at home. Such migrants are mostly youths of the villages. However, there are several other types of migrants who are not youths and they are not migrating just for fun. There are people who wanted to be free from the restrictions of joint households, some quarreled with their relatives and left the village in protest, some wanted to get away from relatives to save some cash, some are women whose husbands had left them and who are ostracized in their villages; and so on. Although Shah admits that in several cases economic imperatives may be more salient than many other factors, in many other cases complex stories that lie behind them suggests that economic motivations are eclipsed by the space that migration to the brick kilns provides for both social and cultural autonomy from the village. In a scathing criticism of the indigenous rights activists' stance on the seasonal migration issue, Shah says:

> '… there is a pressing need to pay attention to improved wages, better living conditions for workers, with clean water, proper sanitation, and health facilities and better housing; and better representation through labor unions for adivasi seasonal labour migrants. But in Jharkhand, the current performance of indigenous rights activism does not allow for sustained discussions, let alone policies and practices, on these subjects to emerge. It is the poorest adivasis who ultimately suffer the cost of the purificatory middle-class performance of indigenous rights activism.'

Chapter 6, 'The Terror Within' explores an alternative movement that may hold greater hope for the adivasi poor - a class based struggle through the revolutionary guerilla Naxalite movement, the MCC. This, according to Shah, is partly due to the fact that indigenous rights activists are inadequate to the task of representing adivasi aspirations because they are unable to grasp the complexities of poor adivasi life. The Maoists, who are projected today as the political formation most likely to secure adivasi rights, their initial alliances were not with poor adivasis, but with rural elites to whom they offered protection while capturing a large share of state resources. Shah shows how it is rural, usually higher-caste, elites who corner the benefits of state development works while the poor adivasis strive to keep their distance from the state, thereby reproducing an unequal class structure. The Maoist intervention into local political economy has only served to cement this inequality. Shah shows the symmetry between the State and the Maoists, with both profitably engaged in the business of providing protection. These insights are a useful corrective to the popular view that they are polar opposites. She writes:

> 'As the MCC expands in rural Jharkhand, one is left wondering out the nature of the Indian government. It appears that the monopoly of sate protection in the Jharkhand rural landscape is beginning to disintegrate. The MCC's visible and invisible qualities seem more pervasive than those of the government in producing the myth of its power and authority, and in creating fear among its grass-roots targets. There is indeed a great deal of continuity between the activities of the state and the MCC in rural Jharkhand, not only did the state remain the major source of resources, but both rural elites and state officials who once supported local politicians had come to support the MCC. The people who represented the MCC are the same as those who previously represented the state. Indeed, local politicians too are now seeking the protection of the MCC. Looking at these continuities raises the suspicion that, at the grass-roots level, the MCC and the state have begun to look very similar. In many ways in rural Jharkhand, what the state is, the MCC is too. While at one level, the state and the MCC work in tandem, at another, they are at war with each other.'

While putting a question-mark on the discourse of indigeneity, the book shows how the dominant religious folds like Hinduism and Christianity, indigenous rights activists and Maoists- all of them- regard adivasi practices of drinking liquor, premarital sexual relations and spirit worship as signs of backwardness. By consistently presenting the worldview of poor adivasi villagers among whom the author lived for several years, the author is able to show how it is at odds with those who claim to speak for them.

The book is a carefully observed account which provides enough details so that the reader can co-relate the evidences with the author's arguments. This method has its advantages over such accounts where facts are chosen primarily to substantiate the author's thesis. However, this method also opens up the

possibility of alternative interpretations that cast doubt on the author's arguments. Take for instance, Alpa Shah's assertion that state wildlife conservation policies adversely affect adivasis who have to cope with increased elephant populations and who would rather cut down the forests to get rid of the elephants. While it may indeed be the situation confronting adivasi villagers, the herds of elephants that raid adivasi villages may not necessarily be the result of a wildlife conservation policy, but may be due to the fact that the great Saranda Sal forests are being destroyed by mining and other human encroachments that has made elephants homeless, forcing them to invade adjacent territories.

The book is beautifully written and has extensive endnotes and a very long and useful bibliography. It must be considered an important contribution to the issue of state-society relationship in Jharkhand. This work is likely to generate discussion and debate among the academicians and the policy makers and stimulate further research in the area. The book will interest scholars and students of various disciplines, especially Sociology, Anthropology, Politics, Development Studies and Environmental Studies. It is invaluable for those working on Jharkhand.

Alpa Shah,
In the Shadows of the State: Indigenous Politics, Environmentalism, and Insurgency in Jharkhand, *India,*
Oxford University Press, New Delhi,
2011, pp. xii+273, HB, Price: 695.00

पुस्तक समीक्षा

आदमखोर पशुता के खिलाफ कविता

*उदय प्रताप 'हयात'

मित्रेश्वर के पास एक भरी–पूरी विरासत है। कहीं अंदर एक अग्निमित्र है जो थोड़ा अलग–अलग रहता है, लेकिन निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष होने के हर संभावित खतरे उठाते हुये भी वह समय और समाज के भीतर तक पोशीदा है। उसे सारी भौतिक चीजें, सारे ओहदे बीमारी लगती है। वह इतिहास का प्रोफेसर होकर भी इतिहास विद्यार्थी कहलाना पसंद करता है। उसे फरियाद करने नहीं आता। कुर्सी वाला आदमी नहीं भाता। ओहदे वाली दुनिया अच्छी नहीं लगती। उसे अच्छे लगते हैं– माटी सने पांव, काम करते हाथ। उसे कोरी भावुकता जैसे लफ़्ज दया, करुणा, भीख... आदि साम्राज्यवादियों द्वारा दिये गये नकली बैसाखी मालूम होते हैं। समीक्ष्य काव्य संग्रह 'फरियाद नहीं' उसी बेबाक, आम जुबान, बातूनी, लाउड, नंगे पांव खड़े रहने वाले 'लगभग' एक्टिविस्ट कवि मित्रेश्वर अग्निमित्र का बयान है। यह काव्य संकलन आज की आदमखोर पशुता के खिलाफ संघर्षरत परंतु बार–बार अभिशप्त मनुष्य की कहानी है जो संस्कृति की सीढ़ियां चढ़ते–चढ़ते उल्टे जटिलतम हो गया है। इसी सांस्कृतिक उन्नति ने फ्रायड को अवचेतन की समझ दी। इसी ने दूसरी तरफ मार्क्स जैसे चिन्तक को यह समझ दी कि इन्सान की भूख कोरे आदर्शों से नहीं मिटती। पेट भरने के लिए रोटी सबसे बड़ी सच्चाई है। जिसे पाने के लिए जागते रहना जरूरी है। हो सकता है मुठ्ठियां भींचनी पड़े। अग्निमित्र द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पनपा एक दरख़्त है जो तेजी से हो रहे शहरीकरण, उदारीकरण, औद्योगीकरण की बदबू से परेशान है :

आसमान टंगा है/ चिमनियों के धुएं पर/
बादल बरसाते हैं रेडियोधर्मी धूल/
ओजोन की परतें लांघ/ सूरज बरसाने लगा है कहर...

अग्निमित्र के अनुसार मंत्र नहीं है कविता। जुगाली नहीं है कविता। कविता आलमारी में सजी किताबें भी नहीं है। यह तो समूहगीत है। सड़क पर हाथों में हाथ डालकर गाया जाने वाला गीत है। किसी तवायफ़ के कोठे पर आंख मूंदकर गाई जाने वाली ग़ज़ल नहीं है कविता। अग्निमित्र को कबीर भाता है। उसे सूरदास की सांस्कृतिकता सुहाती है। स्त्री–पुरूष का कदम से कदम का साहचर्य आकर्षित करता है। मीरा, महादेवी का रहस्यवाद उसमें झल्लाहट पैदा करता है। उसे पौराणिक कथाओं से ऊबकाई आती है :

अब नहीं सुनाओ अपनी गाथाएं/ तुम्हारे नायक शस्त्रधारी रक्तपिपासु हैं
देव या असुर, दोनों ही/ दरकिनार कर दिल–औ–दिमाग/
बड़े लड़ाकू/ फैसला करते हैं तलवारों से

*अहिंसा मार्ग, जुगसलाई, जमशेदपुर , झारखण्ड, संपर्क : 09430137762

उसने फ्रांस की क्रांति को जाना है। सर्फो के लिये वह एक और निर्णायक इतिहास रचना चाहता है। कलम की मदद से एक गुरिल्ला युद्ध करना चाहता है। बड़े स्पष्ट शब्दों में वह कहता है :

उंगली कटते वक्त/ प्रतिवाद नहीं किया/ हथेली ने
एड़ी की पिटाई के समय/ खामोश रहा घुटना/
एक–एक कर बोटी–बोटी कट जाने का राज/
यही चुप्पी है

अतिक्रमण हटाओ संदर्भ की एक कविता में कवि मजदूरों को जागृत करना चाहता है क्योंकि वह बेचैन है कि इतने बड़े देश में सड़क बनाने वाले, बहुमंजिली इमारत बनाने वाले खुद जमीन से, घर से महरूम हैं :

मेरे हमवतन!/ एक एहसान और कर/ यह बता कि/
बत्तीस लाख सत्तासी हजार/ दो सौ तिरसठ वर्ग किलोमीटर फैले/
मादरेवतन में/ मेरी ठौर कहाँ है?/
कहाँ है मेरी बेटी का आँगन?

कवि चूँकि पेशे से एक शिक्षक है लिहाजा बखूबी जानता है कि एक विषय में Ninty Nine और एक विषय में Twenty Nine पाने वाले छात्र को उत्तीर्णता का तमगा नहीं मिलता। सभी की उन्नति में ही देश, समाज की उन्नति है।१० प्रतिशत पूंजीपति, ९० प्रतिशत मेहनतकश पर भारी हैं। मेहनतकशों की बदहाली के लिए सीधे तौर पर ये पूंजीपति जिमेंदार हैं। कवि राजनीतिक कवितायें लिखते हुए भी सांस्कृतिक पुटों को पैबस्त करता चलता है। भगवान कृष्ण उसे भाते हैं। विदुर नीति उसका मुँह चिढ़ाती है। स्त्रियों के लिये वह विशेष रूप से संवेदित होता है। वह कहता है औरत अब पहले जैसी कदम–कदम पर अग्निपरीक्षा देने वाली नहीं रहेगी। पर यह तय होना बाकी है कि वह फैशन परेडों से, लेस्बियन जुलूसों से, साबुन के विज्ञापनों से कब बाहर आयेगी। वह आजाद होकर मां–बहन–भाभी–नानी–ताई होगी या आजाद होकर महज रह जाएगी एक प्रत्ययात्मक औरत।

अग्निमित्र वाचिक है। एक संदर्भ या प्रसंग के अन्तर्गत इतनी कवितायें लिखने वाला वह समय का अकेला कवि है। कभी महाप्राण निराला ने 'बादल–राग' शीर्षक से श्रृंखलाबद्ध छः कविताएं लिखीं हैं। 'अतिक्रमण' और 'कुर्सी' शीर्षक के बहाने कवि ने शोषण के कई खौफनाक दृश्य रखे हैं। वह चिल्लाना चाहता है, जगाना चाहता है, पूरे समूह को, कस्बे को, गांव को, जिनके खिलाफ सामंती ताकतों ने कुछ मीर जाफरों को साथ लेकर, पश्चिमी चकाचौंध का सब्जबाग दिखाकर जल–जंगल–जमीन हड़पने की जुगत बिठाई है। कवि आगाह करते हुए कहता है :

एकाकी शोकगीत/ पुरूषार्थ विहीन/ ऊबाऊ/ ये बन जाए कोरस/ तो बन जाए प्रयाण गीत...

कवि पहचान चुका है उस आदमखोर भेड़िये को जिसे मनुष्यों ने कभी अपनी बस्ती में पनाह दी थी, जो कभी उसके ही टुकड़ों पर पला, आज मनुष्य का ही छोटा घाव चाटकर

आदमखोर बन गया है। खून का स्वाद लग गया है उसे। सत्ता, धन लिप्सा उसकी मंजिल बन चुकी है:

'कुर्सी पर बैठे आदमी/ उसके पहले ही/ आदमी पर कुर्सी/ फुर्ती से बैठ जाती है'
'यह चेतन नहीं/ जड़ है/ इससे डरो/ यह आदमी नहीं/ कुर्सी है/ इससे बचो'

कवि बार–बार इस जड़ता से हमें आगाह करता है। दूर रहने को कहता है :

जब कभी/ तुम्हारे सामने/ खड़ा होता है वह परजीवी/ हाथ जोड़ता, घिघियाता...
क्यों लगाते हो मुहर/ अपनी घुटन पर, मरण पर?

वह पाश, गोरख पांडे, नागार्जुन, त्रिलोचन, धूमिल, महाश्वेता आदि कलमकारों का हमराही है। नगरों की संवेदनहीनता उसे कचोटती है :

मैं इस शहर में हूँ/ इसका नागरिक नहीं हूँ/ इस बेदर्द/
अंधे–बहरे/ शहर की/
नागरिकता/
मैंने लौटा दी है

कवि अपने उन ऊर्जावान नौनिहालों की चिंता करता है जिनके हाथों में हॉकी स्टीक सुंदर लग सकती थी। जंगल–पहाड़ के बेटों से एक मजबूत फुटबाल टीम खड़ी हो सकती थी। कबड्डी, खो–खो में स्वर्ण पदक बटोरा जा सकता था। इन नौनिहालों में खेल और राष्ट्र की उदात्त भावना विद्यमान है। इनके सपने क्रिकेटरों के स्वीमिंग पुल वाले फाईव स्टार होटलों से जुदा हैं। खिलाड़ी बनने का मतलब है सर उठाकर देश के लिए खेलना। अगर ये नौनिहाल खिलाड़ी बनने का ख्वाब बीच यात्रा में ही छोड़ देते हैं तो इसका कारण जीवन जीने की दुश्वारियां और संलग्न सरकारी उदासीनता है। कवि कहता है :

एशियाड में मिले तमगे/ काम आते हैं सब्जी की दुकान खोलने में/
ताइकांडों का चैंपियन/ मजबूरी में बनता है/
सरगना डकैतों का यहाँ

इस आसुरी व्यवस्था का साम्राज्य असुरक्षा बोध से ही जन्म लेता है। इसके तार कई बुशों, कई मित्तलों, अंबानियों, टाटाओं से जुड़े हैं। इन्हीं लोगों ने नवनाजीवाद और नवफासीवाद को हवा दी है। जीवन में हर प्रसंग को प्रसंगहीन बनाया है। भ्रष्टाचार भी इन्हीं के यज्ञकुण्ड से उपजा भस्मासुर है :

वह कृपापूर्वक/ देता है दावत/ बैठो टेबिल पर/
ले जाओ पुल–सड़क–बांध के ठीके/
ठीकेदारी के लिए राजी होते ही/ पक्की होगी तुम्हारी–हमारी/
यानी देश की तरक्की/ बहाल हो जाएगा/ अमन–चैन/
चारो ओर

ये कविताएं नदी की रेत पर उकेरी गई कलात्मक तस्वीरें नहीं है। ये तो हमारे हालात की अक्कासी करती तहरीरें हैं जिन्हे जोर–जोर से अज़ान और आरती के वक़्त सुनाया जाना चाहिए ताकि उनका काला चिठ्ठा खोला जा सके जिन्हें जनता अपना दीनबन्धु समझ बैठी है। इन

तहरीरों के श्रोता सभी वर्ग के हैं। सिर्फ रसिक पाठक नहीं बल्कि शिक्षक, वकील, दुकानदार, औरतें और दूसरे संघर्षरत आम आदमी हैं। इनमें कवि का आक्रोश स्वतः दिखाई देता है। इन मामूली प्रसंगों से भी जिसे अखबार कभी आत्महत्या, चोरी, बलात्कार, धोका, भुखमरी आदि की संज्ञा देता है, कवि बेइंतहा मुहब्बत करता है। इस इक्कीसवीं सदी में एक राजा बेटे को अपनी बूढ़ी माँ को दवा पिलाने की फुरसत नहीं है। सात समन्दर पार से ओल्ड एज होम की अवधारणा यह पीढ़ी आयातित कर चुकी है। आज मोटी चमड़ी वालों की कमी नहीं है जो 'हंस' की जगह 'उल्लू' को तरजीह दे रहे हैं। साहित्य को बुद्धि विलास से जोड़ कर देख रहे हैं।

कवि को फिक्र है कि कबीर, नज़ीर, मीरा, रामानन्द की तरह उसका बयान भी निरर्थक न हो जाय। कवि की आशंका निराधार नहीं है पर शत–प्रतिशत सच भी नहीं। अंधा युग का अंत आखिर हुआ। लिंकन आदि के प्रयास से गुलामी प्रथा समाप्त हुई। गांधी, लूथर किंग ने नस्लवाद पर नकेल कसी। आज पूरी दुनियां लोकतंत्र के तानाशाहों से निबट रही है, विशेषकर मुस्लिम बहुल देशों में।

मित्रेश्वर अग्निमित्र की कविताओं को पढ़ना मेहनतकश आदमी को नजदीक जाकर देखना है। इसकी यथार्थपरकता की यह एक बड़ी वजह है तो दूसरी तरफ इसकी कविताई को थोड़ी लाउड भी कर जाती है। फिर भी आज की बहुप्रचारित युवा रचनाशीलता के प्रवंचक भाषाई खिलवाड़ के बरक्स सेवानिवृत्ति की उम्र जितना फासला तय कर चुके कवि की यह बेलौस भाषा कविता के भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है।

समीक्ष्य पुस्तक : फरियाद नहीं (काव्य संग्रह) : मित्रेश्वर अग्निमित्र
पारिजात प्रकाशन, पटना
प्रथम संस्करण, २०११ई.
मूल्य : १७५रू.

पुस्तक समीक्षा

खुदाई से इंसा बेखबर है

उदय प्रताप 'हयात'

मनोज 'आजिज़' बड़ी तेजी से झारखण्ड के युवा गजलगो में अपनी जगह बना रहे हैं। उनका नवीनतम संग्रह तुम याद रहे एक युवा गजलगो के रचनात्मक विकास की परिपक्व शुरूआत के बतौर देखी जा सकती है। दरअस्ल दुष्यंत कुमार के बाद हिन्दी हल्के में ग़ज़ल लोकप्रियता में बेतहाशा वृद्धि हुई। आज ग़ज़ल माशूका के हुस्न से बाहर निकलकर जिंदगी के हर लम्हे की अक्काशी में मसरूफ है। मनोज की ग़ज़लों में भी आमफहम की खैरियत का खयाल है। उनके संघर्षों की ताकीद की गई है। एक शेर है :

जीते हैं लोग अब खुद में ही
खुदाई से इंसा बेखबर है

शायर आज के लोगों की आत्ममुग्धता की आलोचना करता है एवं कहता है कि लोग समाज से, देश से जुड़ें। एक शायर भावुक दिल का स्वामी होता है। वह दिमाग से नहीं बल्कि प्यार से सबको जीतना और सबकुछ जीना चाहता है और इसी के ज़ेरे–असर दुनिया में बदलाव भी देखना चाहता है। मनोज लिखते हैं:

ना जमीं ना फलक की जरूरत है
बस आपसे वफा की जरूरत है

ग़ज़ल एक बारीक विधा है। कम अल्फाज़ में ज्यादा बात कहने की एक अनोखी शैली है यह। शब्दों की बंदिश, कथ्य की समग्रता आदि धीरे–धीरे शायर को जवां बनाती है। बहर, मीटर आदि सीखना पड़ता है, अभ्यास करना पड़ता है। संगीत और साहित्य की सोहबत से भी लाभ मिलता है। मनोज के पास शब्द हैं लेकिन कई दफा पंक्तियां बहर से अलग होती दीख पड़ती हैं और शेर गलत हो जाता है। इस दिशा में काम करने की गुंजाईश है। आजिज़ का यह दूसरा संग्रह निश्चय ही तीसरे को देखने की ललक पैदा कर जाता है।

समीक्ष्य पुस्तक : तुम याद रहे (गज़ल़ संग्रह) : मनोज 'आजिज़'
प्रथम संस्करण, जमशेदपुर

Personality

BHOGLA SOREN

(SAHITYA AKADEMI AWARD WINNER- 2010 FOR **SANTHALI LITERATURE**)

*** Manoj Kumar Pathak**

Mr. Bhogla Soren was born on the 4th September 1958 at Haludbani, Jamshedpur, where he has been living since then. He started to pen down his thoughts and feelings at first through songs, a spontaneously liked genre of litterateurs. His first published literary work was a collection of Santhali songs in the year 1978. He didn't keep himself stuck to a single gene, and waved his magical hands of creation on drama, novel, easy and articles- being successful to cause mass attraction. He has now, nine published works in his bag in which there are five plays, two essays (Hindi), one novel, one song-collection. He has nine unpublished plays and one novel. The plays have been staged at varied places. He right from his college days, has involved himself in different literary activities. He has roamed a number of places to stage his plays. The tribal localities of West Bengal, Jharkhand and Odisha are well known to him and his creativity. His plays are his means to communicate to his fellowmen. He took his mode to make them sincere towards their social and moral obligations. He has tried much to wipe out the prejudices of superstitious beliefs from the minds of tribal community. The literary piece which bagged the Sahitya Akademi Award is a play entitled- RAHI RAWAK KANA written in 1987 but published in 2008. This particular play is a romantic tragic-comedy as told by the playwright. The story is based on the conflicts of two tribes-the Santhals and the Birhor. It reflects the culture and presumptions of Birhors and Santhals. The main characters (the hero and the heroine) belong to the Santhal and Birhor community respectively. It has been staged at nearly fifty places of Jharkhand, West Bengal and Odisha. Mr. Soren wants to get his works translated in different languages. In Quite cordial meeting he conveyed a message for the litterateurs to be optimistic over cultural issues and asserted that literature is a medium to connect and get connected to the mass and the litterateurs ought to be principle-bound for same.He emphasizes on the education of mother-tongue from elementary to higher education and to get it done the parents should come up. On the present trend of santhali literature, he informed that Santhali literature is not ancient and it is on its adolescence now. Its present trend can not be well-defined as the litterateurs are writing at random but works on superstitious beliefs, myths, traditions, ancestral sayings and revolts are being published in satisfied numbers. The writers, poets or dramatists are trying to educate the santhals and other tribes too. We hope to see him write ceaselessly and contribute to foster and co-ordinate literary activities in Indian languages and promote through them, the cultural unity of India.

*Editor : The Challenge, Jamshedpur, Jharkhand/ Mb. 09973680146

रपट है...

आदिवासी भाषाओं के नाम पर अब भी प्रभुत्व भारतीय भाषाओं का

*वासवी किड़ो

यह लेख बड़ौदा में हुए 'ग्लोबल भाषा समागम' पर आधारित है। भाषा समागम को लेकर लेख में आलोचनात्मक दृष्टि अपनाई गई है।

भाषा समागम का निष्कर्ष आह्वान राष्ट्रीय अस्मिता, मातृभाषा में शिक्षा का अधिकार और पारम्पारिक भाषा साहित्य के संरक्षण व सवंर्द्धन को लेकर रहा। कई मायनों में यह भाषा समागम जिसे 'भाषा वसुधा' का नाम दिया गया अत्यंत ही महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक रहा है। भाषा रिसर्च एंड पब्लिकेशन सेंटर के कर्त्ताधित्तां व भाषा वैज्ञानिक जी. एन. देवी ने कहा कि ऐसा सम्मेलन भारत में पहली बार हो रहा है। उन्होंने इसे ग्लोबल लैंग्वेज मीट नाम दिया। भाषा पर असाधारण व ऐतिहासक काम करनेवाले भाषा वैज्ञानिक ग्रिर्यसन के बाद भाषा पर इतने विशाल जमावड़े को उन्होंने ग्रिर्यसन के बाद का अनोखा काम बताया। श्री जी. एन. देवी के कथनानुसार ९०० भाषा के लोग वहाँ उपस्थित थे। सम्पूर्ण कार्यक्रम अंग्रेजी और हिन्दी में सम्पन्न हुआ। एक दो पंक्ति किस्वाहिली में कही गई। बांग्ला में एक व्यक्ति ने भाषण दिया। यह कार्यक्रम जनवरी के ७ और ८ तारीख २०१२ को सर सायाजी राव सभागार अकोटा, बड़ोदरा में आयोजित किया गया। श्री के.के. चक्रवर्त्ती, आई.ए.एस. व भाषा रिसर्च एण्ड पब्लिकेशन सेंटर के अध्यक्ष ने स्वागत भाषण दिया। उद्घाटन सत्र में साहित्य अकादमी के सचिव अगरहारा कृष्णामूर्ति ने अपना वक्तव्य रखा। उन्होंने अपने वक्तव्य में हिन्दी के विरोध की अपनी पृष्ठभूमि बताई और कहा कि साहित्य अकादमी में आने के बाद दिल्ली में हिन्दी की कीमत का ज्ञान हुआ। 'एडी एट एक्शन' के दक्षिण एशिया के समन्वयक रवि प्रताप सिंह और 'कंजोरटियम फॉर ट्रेनिंग इन लैंग्वेज डायवर्सिटी कंजरवेसन' की निदेशन मार्गरिट फलोरी ने अपना वक्तव्य रखा। उद्घाटन सत्र के दूसरे चरण में पंद्रह राज्यों के 'द पीपुलस लिंगविसटिक सर्वे ऑफ इंडिया' सिरिज का लोकापर्ण किया गया। इसके बाद लिंगिविस्टक वेबसाइट फॉर इंडियन लैंग्वेज' की भी शुरूआत की घोषणा की गई। पंद्रह राज्यों की भाषा पुस्तिका के लोकापर्ण समारोह के सत्र की अध्यक्षता मानव संसाधन विकास विभाग , भारत सरकार की सचिव विभा पुरी दास ने किया। महाश्वेता देवी जी को पश्चिम बंगाल का लोकापर्ण करना था। लेकिन वे नहीं आईं। के.के. चक्रवर्त्ती ने छत्तीसगढ़ का लोकापर्ण किया। डी. पी. पटनायक ने उत्तराखंड, राजेश सचदेवा ने हिमाचल प्रदेश, राजस्थान का एस. एन वर्मन ने, उड़ीसा और गुजरात का नारायणभाई देसाई ने, उदय नारायण सिंह ने मध्यप्रदेश, कुमार केतकर ने महाराष्ट्, अग्रहारा कृष्णामूर्त्ति ने झाड़खंड , सुदर्शन आयंगर ने चेन्नई और केरल, भारत चाटटो ने जम्मू काश्मीर, पंजाब और हरियाणा का लोकापर्ण किया। उद्घाटन सत्र में जिन वक्ताओं ने वक्तव्य दिया उनमें भालचंद्र नमाडे, एन्टोनी गिजिंगा के भाषण विशेष रूप से प्रभावित करने वाले थे। भालचंद्र नोमाडे ने अपने अकादमिक जीवन व निजी जीवन के उन अनुभवों को बांटा जिसके कारण उन्हें खासी परेशानी हुई और उनको भाषा अस्मिता के लिए संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने कहा कि उन्हें उनकी भाषा पर बात करने की वजह से बहुत देर से सम्मान मिला व पहचान भी। उन्होंने भाषा को महत्वपूर्ण बताते हुए कहा कि शिक्षा का आधार मातृभाषा ही होनी चाहिए। कांगो से आए एंटोनी गिजिंगा ने पहले तो किस्वाहिली में कहा पर तुरंत ही उसका अंग्रेजी अनुवाद किया। यह प्रभावकारी था। उन्होंने कहा कि ११ अफ्रीकन देशों में किस्वाहिली बोली जाती है। लोग अपनी भाषा में बात करते हैं और लिखते भी हैं। उन्होने कहा कि भाषा के कारण ही हमारी पहचान कायम है और हम ताकतवर बने हुए हैं। शेखर पाठक ने हिन्दी में वक्तव्य रखा और हिन्दी साहित्य के कुछ दिग्गजों नागार्जुन आदि का नाम लिया लेकिन किसी आदिवासी लेखक का जिक्र उन्होंने नहीं किया। हिन्दी साहित्य पर भाषण देना बहुत ही आसान है। लेकिन शेखर पाठक ने आदिवासी साहित्य के कुछ चुनिंदा रचनाओं को पढ़ा होता तो उनके लेखन के मर्म की भी वे चर्चा कर पाते। आदिवासी रचनाकारों में भी अनेक रचनाकार हैं जिनकी उदात्त रचनाएं साहित्य पर नई रोशनी डालती हैं। सम्पूर्ण कार्यक्रम में एक बात खलने वाली रही कि भारत की दो बड़ी आदिवासी भाषाओं का कोई प्रतिनिधि नहीं था और न ही वक्तव्य प्रस्तुत किया गया। भाषा वसुधा के इस कार्यक्रम में बोड़ो व संताली भाषा के विद्वानों के बिना कार्यक्रम तो अधूरा रहा।

*सदस्य, झारखण्ड राज्य महिला आयोग, संपर्क : 09431103047

*लक्ष्मण प्रसाद

रंगवार्ता : बाजार से बच निकलने का प्रयास

जहाँ बात मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरंभ होकर कुंठित मन से मवाद बहाने तक आ गई हो, वहाँ ''रंगवार्ता'' पढ़ना एक सुखद एहसास माना जाएगा। जयशंकर प्रसाद ने कहा है कि राजनीति जब हारती है तो उसके पैरों से छल–छद्म की धूल उड़ती है। उसी को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि कला जब हारती है तो 'देह' का सहारा लेती है, चाहे वह अभिनय कला हो अथवा लेखन कला ही क्यों न हो। यह सर्वविदित है कि कला अपना अनुभावक तैयार कर लेती है। उसे कहीं पर बेपर्द होने की आवश्यकता नहीं है, खासकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो और भी नहीं। कला साधना है, पूजा है। अगर बात ऐसी है तो उसकी मर्यादा भी रहनी ही चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम सच कहने से भी हिचके और कहें कि यह मर्यादा या संस्कृति का सवाल है। सच की सर्जरी करना बुरा नहीं है, लेकिन अस्पताल में डॉक्टर भी जब सर्जरी करते हैं तो पर्दे की ओट ले लेते हैं। आज के समय में जहाँ कुछ 'बोल्ड' होती/होते कलाकारों ने यथार्थ कथन के छद्म पर खुले में 'ओपेन सर्जरी' करने का मन बना लिया है वहीं ''रंगवार्ता'' साहित्य और कला की मर्यादा की तलाश कर रही है। इसमें भाषिक और दृश्य दोनों में शालीनता का ख्याल रखा गया है। अंक एक, वर्ष एक, नवम्बर–जनवरी २०११–१२ संग्रहणीय दस्तावेज की तरह है। इस अंक में रंगमंच पर स्त्री छवियों से संबंधित जो अनुसंधानपरक प्रयास हुआ है उसमें बहुत दूर तक सफलता मिली है। एक खास बात यह कि यह अंक क्षेत्रीयता से ग्रस्त नहीं है। इसमें देश–विदेश तक की स्त्री छवियों की पड़ताल की गई है। इस दृष्टि से यह अंक और अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। 'हिन्दी नाटकों में स्त्री' से लेकर गुरिल्ला स्त्रियों का छापामार थिएटर' तक अनेकानेक विषयों से जुड़े आलेख के साथ दृश्यों का संयोजन और यथोचित स्थान निर्धारण आदि सभी चीजें अपनी पहचान रखती हैं। बात तो 'रंगवार्ता' से आरंभ हुई है लेकिन उससे आगे बढ़कर यह 'रंगविचार' तक चली गई है। संवाद और विवाद के इस काल में 'रंगवार्ता' ने विचार आरंभ किया है, यही इसका सबसे सबल और सार्थक पक्ष है। 'रंगमंच पर स्त्री छवियाँ' देने में संपादक ने आज के उन संपादकों की तरह स्त्रियों को प्रभावित करने का प्रयास नहीं किया है, जो नारी विमर्श, नारी चेतना और नारी लेखन के नाम से शुरू होकर अपने कुंठित घावों का मवाद निकालने लगते हैं। कुछ चीजें अनुभावकों पर छोड़ी जाती हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी कलाकार हैं जिन्हें अपने और सिर्फ अपने पर ही भरोसा होता है, इसलिए वे अनुभावकों की मति–बुद्धि और विवेक को नजर अंदाज करते हुए सारी बातें 'खोल–खोल कर' रखते हैं, इस प्रयास में चाहे अंगवस्त्र ही क्यों न उतर जाय। वे यह समझ भी नहीं पाते है कि इस प्रयास में उनकी अपनी ही मति–बुद्धि और तथाकथित विवेक की पोल खुल रही है। 'रंगवार्ता' में ऐसा कुछ नहीं दिखता है। अगर यह अपनी प्रारंभिक अस्मिता को आगे भी बचा रखती है, तो बाजार से बच कर निकल जाने की बात होगी। अंक में छोटा–सा प्रक्षेपात्मक लेखन भी एक तरह का अनुसंधान ही बन गया है। मैं पुन: कहता हूँ कि अनाम और गुमनाम की पड़ताल करने में इसने जो अपनी भूमिका निर्धारित की है, वह पात्र से अधिक कला का अनुसंधान है। रंग–नेपथ्य में डॉ० रामदयाल मुंडा सहित अन्य की श्रद्धांजलि मन को छू गई। संपादक अश्विनी कुमार पंकज के अनुसार ''यह अंक स्त्री रंगकर्म और रंगमंच की भूमिका भर है'', तो मेरे अनुसार 'अगर यह भूमिका है तो पूरा ड्राफ्ट कैसा होगा !' हाँ, विषयवारिता के आलोक में क्रमवारिता निर्धारित की जाती तो और भी रोचक होती।

पर्यावरणविद : एक बेहतर दुनिया के लिए

आर्थिक प्रगति की अंधी और अमानवीय दौड़ में सभ्यताओं ने एक मुकाम तो हासिल किया लेकिन मनुष्य के रैन–बसेरे को ही दूषित और संकटग्रस्त बना दिया है। विकास के नाम पर कारखाने बनाये जा रहे हैं

*एसोशिएट प्रोफेसर : हिन्दी विभाग, जमशेदपुर को-आपरेटिव कॉलेज, जमशेदपुर, झारखण्ड
मो० 09661504673

लेकिन जल–जंगल–जमीन रोज–ब–रोज सिकुड़ते जा रहे हैं। इन सबका खतरनाक असर ग्लोबल वार्मिंग के रूप में सामने आ रहा है। इन्हीं सब चिंताओं और चुनौतियों के जेरे असर दिसंबर, २०१० में जमशेदपुर से मासिक पत्रिका 'पर्यावरणविद' का प्रकाशन शुरू हुआ। संपादक मदन मुरारी ओझा ने अत्यल्प संसाधनों का सामना करते हुए पत्रिका को अबाध रूप से प्रकाशित किया है। एक वर्ष की यात्रा तय करने के बाद दिसंबर, २०११ में 'पर्यावरणविद' के सौजन्य से जमशेदपुर में चार दिवसीय कार्यक्रम आयोजित किया गया था। रक्तदान, वृक्षारोपण, जलवायु परिवर्तन पर कार्यशाला और सबसे आखिरी परंतु अति महत्वपूर्ण कार्यक्रम निराला कृत 'राम की शक्तिपूजा' के ७५ वर्ष पूरे होने पर संगोष्ठी सह नृत्यनाटिका की प्रस्तुति। 'अति महत्वपूर्ण' इसलिए कह रहा हूँ कि जब साहित्य की आधिकारिक संस्थाओं और आधिकारिक विद्वानों ने इस महनीय कृति पर बात करने की जहमत और फुरसत नहीं जुटाई, उस समय पर्यावरण के सरोकारों से जुड़ी इस छत्तीस पृष्ठों और दस रूपये मूल्य वाली पत्रिका ने एक गंभीर एवं सार्थक पहल की। आज साहित्य के पारिस्थितिकी दर्शन पर अकादमिक संस्थाएं जरूर बहसों की गुंजाईश पैदा कर रहीं हैं लेकिन जमीनी स्तर पर ऐसी कोई गतिविधि इधर बीच नहीं दिखाई पड़ रही। ध्यातव्य है कि संपूर्ण भारतीय क्लासिक्स में प्रकृति एक अनिवार्य प्रत्यय के रूप में मौजूद रही है। कालिदास का 'मेघदूतम्' हो या जायसी की 'पद्मावत', कमोवेश प्रकृति और मानवीय भावों का सायुज्य साहित्य में आद्योपांत दिखता है। 'राम की शक्तिपूजा' भी इसकी अपवाद नहीं। छायावादी साहित्य की अधिकांश बिंब और प्रतीक योजना में प्रकृति कभी उपकरण के तौर पर, तो कभी केन्द्रीय सरोकार के रूप में मौजूद है। विद्वानों के विमर्श से उक्त बातें सामने आई। अत: 'पर्यावरणविद' ने पत्रकारिता के क्षेत्र में एक समावेशी दृष्टि की बुनियाद रखी है। साहित्य और संस्कृति के मुद्दे अलहदा नहीं बल्कि अंतत: एक बेहतर दुनिया के सपने को साकार करने के हमराही ही हैं। इतना ही नहीं 'पर्यावरणविद' के संपादक श्री मदन मुरारी ओझा ने वार्षिकांक को 'राम की शक्तिपूजा' पर ही केन्द्रित किया। नंदकिशोर नवल, रमेशकुंतल मेघ, प्रमोद कुमार सिंह प्रभृति विद्वानों के सारगर्भित आलेख, युवा कवि–आलोचक तथा 'इस्पातिका' के संपादक अविनाश कुमार सिंह द्वारा विशेषांक का संपादन इसे निस्संदेह एक स्तर प्रदान करता है। श्री मदन मुरारी ओझा की भविष्यदर्शिता और निष्ठा को आदर एवं शुभकामनाएं।

कविता : कल आज कल - रहिमन देख बड़ेन को, लघु न दीजै टारि

जमशेदपुर से दो लघु पत्रिकाओं का निकलना एक 'खबर' है। 'घटना' नहीं कहूँगा क्योंकि यह विशेषण दिल्ली जैसे नगरों के लिए तय कर दिया गया लगता है। खैर, दोनों पत्रिकाओं में जो महत्वपूर्ण बात है, वह है इसके संपादकों का युवा होना, २५ से ३५ की उम्र के बीच की उम्र का होना। यह महत्वपूर्ण इसलिए है कि जमशेदपुर जैसे औद्योगिक शहर में जहाँ किशोरों और युवाओं के लिए पूँजीवादी प्रतिष्ठानों में 'कमाऊं पूत' बनने के पर्याप्त अवसर हैं, वहाँ पत्रिका के माध्यम से वैचारिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन चला रहे युवा संपादक, भविष्य का आश्वस्तिपरक चेहरा सामने रखते हैं। मनोज कुमार पाठक के संपादन में करीब सोलह पृष्ठों की एक अंग्रेजी पत्रिका निकलती है **'द चैलेंज'** नाम से। अपने नाम के अनुकूल यह त्रैमासिक पत्रिका अपने कलेवर के विपरीत जाकर पत्रकारिता के क्षेत्र में पिछले बीस वर्षों से अबाध रूप से प्रकाशित हो रही है। झारखण्ड के गुमनाम आदिवासी रचनाकारों को सामने लाने का श्रेय निस्संदेह इसी पत्रिका को जाता है। युवा कवि मुकेश रंजन के संपादन में **'कविता : कल, आज, कल'** पूर्णत: कविता कर्म को समर्पित पत्रिका है। आचार्य शुक्ल ने कहा था कभी कि सभ्यता के आवरण कवि कर्म को कठिन कर देंगे। फिर भी यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह पत्रिका अपने बत्तीस पृष्ठों के प्रवेशांक से ही उक्त 'कठिनाई' से निकलने की रचनात्मक कोशिश कर रही है। आवरण पृष्ठ पर दिवंगत अदम गोंडवी की पंक्तियां इसके इरादे जाहिर कर देती है। संपादक की दृष्टि साफ होना और संरक्षक समूह में ख्यात कथाकार जयनंदन की मौजूदगी इसके भविष्य को विश्वसनीय बनाती है। पहले ही अंक में कवि मित्रेश्वर पर सामग्री है। गजलें हैं और कवयित्रियों की दमदार साहित्यिक उपस्थिति है। अगला अंक जमशेदपुर की लेखिकाओं पर केन्द्रित करने की पहल शुभ संकेत है। स्थानीयता जहाँ पत्रकारिता का गुण होता है वहीं नितांत स्थानीयता इसकी संभावनाओं को सीमित कर देती है। आशा है आगामी अंकों में गुण–दोष का ध्यान रखा जाएगा। बहरहाल, इस्पातिका इन दोनों की नोटिस ले रही है यह हमारे लिए सुकून और गर्व की बात है।

फार्म : 4

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम के अन्तर्गत 'इस्पातिका' नामक पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का विवरण–

१.	**प्रकाशन**	: ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस सी.एच.एरिया,बिस्टुपुर, जमशेदपुर–झारखण्ड ८३१००१
२.	**प्रकाशन की आवर्तित**	: अर्द्धवार्षिक
३.	**मुद्रक का नाम**	: अविनाश कुमार सिंह
	क्या भारतीय हैं?	: हाँ
	पता	: ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर –झारखण्ड–८३१००१
४.	**प्रकाशक का नाम**	: अविनाश कुमार सिंह
	क्या भारतीय हैं?	: हाँ
	पता	: ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर–झारखण्ड ८३१००१
५.	**संपादक का नाम** :	अविनाश कुमार सिंह
	क्या भारतीय हैं?	: हाँ
	पता	: ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर–झारखण्ड ८३१००१
६.	**उन व्यक्तियों के नाम व पते जो पत्रिका के मालिक और कुल पूंजी के एक–एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं**	: अविनाश कुमार सिंह ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज कैम्पस सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर– झारखण्ड ८३१००१

मैं अविनाश कुमार सिंह एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही हैं।

हस्ताक्षर

–अविनाश कुमार सिंह